



भासोचनात्मक अध्ययन

# दिनकर और उनकी उर्वशी

(उर्वशी का शब्दोपनात्मक तथा व्याख्यात्मक अध्ययन)

लेखक

प्रो० वेशराजसिंह माटी एम० ए०



प्रकाशक

अशोक प्रकाशन

नई सड़क, दिल्ली-६

प्रकाशक  
अधोक्त प्रकाशन  
नई दिल्ली बिस्मी ६



सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन हैं  
प्रथम संस्करण १९६३  
मूल्य ७ २०



मुद्रक  
अधोक्त मुद्रणकला द्वारा  
बदमिया प्रेस में मुद्रित ।

## दो शब्द

'उर्बन्धी' श्री राममारीसिंह 'दिनकर' की मनीषितम कृति है। प्राच्युक्त काल में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है इसमें जो मत नहीं हो सकते। प्रस्तुत कृति इसी का आलोचनात्मक और व्याख्यात्मक प्रणयन है।

इस कृति को दो भागों में विभाजित किया गया है—आलोचना-भाग और व्याख्या भाग। आलोचना-भाग में उर्बन्धी से सम्बन्धित सभी प्रमुख समस्याओं का विश्लेषण किया गया है। व्याख्या-भाग में उर्बन्धी की सर्वांगीण व्याख्या है। भाषा ही नहीं हमें पुनः विद्वानों से कि यह कृति 'उर्बन्धी' के पाठकों को अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

इस कृति के प्रणयन में श्री सदानन्दस्य योतम एम०ए० साहित्यरत्न का सक्रिय सहयोग हमें मिला है। व्याख्या भाग में तीसरे और चौथे अंक की व्याख्या इन्होंने ही लिखी है। इसके अतिरिक्त आलोचना-भाग में उर्बन्धी की कथावस्तु, प्रमुख पात्र, प्रकृति-चित्रण सांस्कृतिक तत्त्व और मूर्त्यांकन भी इन्हीं के लिखे हुए हैं। इस स्नेह भरे सहयोग के लिए अत्यन्त आभारी हूँ।

—देशराजसिंह भाटी

# विषय सूची

## भाषोचना भाग

क्रम-संख्या	पृष्ठ
१ विनकर का बीजन-मूल	१
२ विनकर को काम्य-कृतियाँ	१
३ उर्बंशी की कथावस्तु	१८
४ उर्बंशी के प्रमुख पात्र	३२
५ उर्बंशी की ऐतिहासिकता	४४
६ विनकर का काम्य-रूप	५१
७ उर्बंशी का प्रकृति-चित्रण	६५
८ उर्बंशी में सौम्य-तत्त्व	७७
९ उर्बंशी में सांस्कृतिक तत्त्व	८७
१० उर्बंशी में नारी का स्वरूप	९६
११ उर्बंशी में प्र भासिर्भ्यञ्जना	११६
१२ उर्बंशी का दर्शन-पक्ष	१०५
१३ उर्बंशी का प्रतीक-विधान	१
१४ उर्बंशी में काम का स्वरूप	१
१५ उर्बंशी का काम्य-सौम्य-तत्त्व	१
१६ उर्बंशी का मूल्यांकन	१

## व्याख्या भाग

१ प्रथम अंक	१
२ द्वितीय अंक	१
३ तृतीय अंक	१
४ चतुर्थ अंक	१
५ पंचम अंक	१

आलोचना-भाग



## दिनकर का जीवनवृत्त

हिन्दी-साहित्य के प्रोबन्धी कवि श्री रामचारीसिंह 'दिनकर' का जन्म सन् १९०९ ई० में मुयेर बिपे के सिमरियावाट नामक ग्राम में एक साधारण से कृषक परिवार में हुआ था। इनकी प्राथमिक शिक्षा सिमरिया के मिडिल स्कूल में ही सम्पन्न हुई। मिडिल पास करने के पश्चात् इन्होंने मुकामामाट के स्कूल में प्रवेश लिया और वहाँ से एम्प्लॉय की परीक्षा उत्तीर्ण की। सन् १९३२ ई० में पटना से बी० ए० धर्मशास्त्र (इतिहास) की परीक्षा पास की।

इसके पश्चात् इन्होंने कर्मक्षेत्र में प्रवेश किया। सन् १९४३ ई० तक इन्होंने एक स्कूल के मुख्याध्यापक की पद सुसोभित ही नहीं किया बल्कि अपनी कम-कसबता से सफलतापूर्वक अपने कर्तव्यों का निर्वाह भी किया। तदुपरान्त इनकी नियुक्ति सब रजिस्ट्रार के पद पर हुई। वहाँ भी इन्होंने अपनी कर्तव्य परामर्शता का प्रभावशाली प्रमाण दिया। सन् १९४७ ई० में इन्होंने युद्ध प्रचार विभाग में डिप्टी-डायरेक्टर के पद पर कार्य किया। तत्पश्चात् कुछ दिनों तक भूमिहार बाह्यण कामिज मुजफ्फरपुर में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष रहे। आजकल ये भारत की संसद् के मनोनीत सन्स्य हैं। हिन्दी-जनता के प्रतिरिक्त भारत सरकार भी आपका प्रत्यक्ष सम्मान करती है और समय-समय पर सम्मान-भूषक मैडलों से तथा बिदेयों में शिष्ट मंडलों के साथ मेजर कर अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति करती रहती है।

'दिनकर' में कस्य प्रतिभा जन्म-जात कही जा सकती है। जब ये विद्यार्थी जीवन में ही से तब ही इनकी दो कृतियाँ—बारबोसी-विषय और प्रणम्य प्रकाशित हो चुकी थी। कलाक्षेत्र में यही प्रतिभा जन्म विकास की ओर बढ़ती गई। आज कवि तथा चिन्तक के रूप में इनका अपने ही देश में नहीं, बिदेयों में भी पर्याप्त सम्मान और प्रभाव है। वे अत्यन्त प्राणवान् व्यक्तित्व



सम्पन्न कवि हैं। इनके व्यक्तित्व की मादुकता तथा कर्मठता इनके काव्य में सफलता से अभिव्यक्त हुई है।

शास्त्र प्रसन्नता का विषय है कि राजनीति में प्रवेश करने के पश्चात् भी इनका साहित्यिक जीवन निरन्तर प्रगतिशील है और अनेक नवीन रचनाओं से हिन्दी भाषा के गौरव में अभिवृद्धि कर रहा है। हास ही में इनका उर्बंदी महाकाव्य प्रकाशित हुआ है जिसके प्रकाशन में हिन्दी-साहित्य में मूलभूत सजीव एवं कर्मठ साधक से हिन्दी-भाषा को असी बहुल-बहुल प्राप्ति है। भगवान् इन्हें विरायु, तप-पवित्र और नवीन प्रेरणाओं से प्रदान करें।

### काव्य-प्रेरणा

संस्कृत-काव्यशास्त्र के प्रख्यात भाषावेत्त और काव्यप्रकाशकार मम्मट ने काव्य-हेतु इस प्रकार बताये हैं—

शक्तिनिपुणता लोकशास्त्रकाम्याद्यभेदात् ।  
 पश्चात् सक्ति शब्दा कवि प्रतिभा हेतुस्तदुद्भवम् ॥

जीवन के अनुभव और निरीक्षण सास्त्रों के अनुशीलन और काव्य रचने के विवेचन का परिणाम है तथा अभ्यास या कवि और काव्य-विमर्श के उपरोक्त का अनुसरण करना काव्य के हेतु (कारण) कहलाते हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि वही व्यक्ति कवि बन सकता है जिसमें कवि प्रतिभा है, निपुणता है—लोक-जीवन के अनुभव सास्त्रों का अनुशीलन और काव्य साधना का विवेचन करने की शक्ति है। जो निरन्तर काव्य रचना में अभ्यास रत रहता है काव्य कवि शब्दा काव्य-कृतिषु का अनुसरण करने का प्रयास करता है। 'दिनकर' के काव्य प्रेरणा के विषय में भी ये वाक्य प्रसरण सत्य सिद्ध होते हैं। इनके जीवन की कोई भी ऐसी घटना प्राप्त नहीं जिससे मादुकिमूठ होकर काव्य तो सूत्र निरीक्षण पर्यवेक्षण विवेचन अनुसरण और सतत अभ्यासपूर्ण प्रयासों की परिणति है। अपनी काव्य प्रेरणा के विषय में चक्रवर्ती की

सूचिका में स्वयं कवि ने जो विचार प्रकट किये हैं तथा इनकी कृतियाँ से त्रिन  
विचारों का अनुमान किया जा सकता है उनके आचार पर उनकी काव्य प्रेरणा  
का स्वल्प इस प्रकार निरूपित किया जा सकता है—

- १ नाटकों और रामलीलाओं का प्रभाव
- २ हिन्दी और अहिन्दी कवियों का प्रभाव
- ३ तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव ।

### नाटकों और रामलीलाओं का प्रभाव

वास्तव 'दिनकर' जब कभी भी किसी नाटक या राम लीला को देखते  
थे उनके पीठों की धुन इनके मस्तिष्क में बजकर काटने लगती । जब तक ये  
उन धुनों पर प्राभुत गीतों की रचना न कर लेते तब तक इनका मन उदास  
और खिन्न रहता । इस प्रकार इनका काव्याभ्यास निरन्तर बढ़ता गया । स्वयं  
कवि ने इस सत्य का इन शब्दों में स्वीकार किया है—

'जहाँ तक याद है कविता लिखने की प्रेरणा मुझ में नाटक और रामलीला  
देखकर उत्पन्न हुई । जब भी मैं नाटक या लीला के मुँह से कोई गीत सुनता,  
दूसरे दिन उसी धुन में एक नया गीत बना लेता । —बकवास, पृ० २३

### ✓ हिन्दी और अहिन्दी कवियों का प्रभाव

हिन्दी कवियों में दोस्दामी तुमसीदास मैथिलीचरण मुष्ट माधनदास  
चतुर्वेदी रामनरेश त्रिपाठी सुभद्राकुमारी जोहान और बासकृष्ण वर्मा 'नबीन'  
का प्रभाव विशेष रूप से बास-कवि 'दिनकर' पर पड़ा । इस प्रभाव की  
स्वीकृति 'दिनकर' ने इस प्रकार की है—

'यह भी प्रथम बिहब-मुँह की समाप्ति के ही आस-पास की बात है जब  
मैं आठ बस साल का रहा होऊंगा । तब सन् १९२० ई० में कानपुर के प्रताप  
में एक भारतीय आत्मा' की वह कविता छपी जिसे उन्होंने लोकमान्य तिलक  
की मृत्यु पर लिखा था । इस कविता का मुझे पर अत्यन्त प्रभाव पड़ा  
पत्र-पत्रिकाओं से रस पाकर जब मैं समकालीन काव्य पुस्तकों की ओर  
बढ़ा तब मुझे भारत-भारती मिली जयप्रब-अस और अकुमला तथा किताब

पढ़ने का अवसर मिला एवं जब श्री रामनरेश त्रिपाठी का 'पबिक' निकला, मैं उस ग्रन्थ में ध्यापक-मस्तिष्क डूब गया। 'पबिक' मुझे इतना पताच ध्यापक जितना और कोई ग्रन्थ नहीं रहा था। उन्हीं दिनों मैंने 'पबिक' के अनुकरण पर 'बीर-नामा' और 'अय्यर-वच' के अनुकरण पर 'नेमनाद-वच' ये दो अष्ट-काव्य लिखने प्रारम्भ किये किन्तु दोनों के दोनों प्रयास तीन चार सगों तक चलकर ही अटकते हुए गये। —अकबाल पृ० २५

सहिष्णु-कवियों में शेरी बहूँसवर्ष रबीन्द्र नवरत्न इन्वाम और बोध का इन पर काफी प्रभाव पड़ा—

'कालेज में मुझ में शाली और बड़ सबबं दोनों के लिए उरताहूँ वा और बंधना सीक कर तभी मैंने रबीन्द्र और नवरत्न से भी परिचय बढ़ा लिया था। पीछे जब मैं नौकरी करने लगा तब मैंने बहूँ सीखी और इकबाल तथा बोध का मैं भवत बन गया। —अकबाल, पृ० २७

### तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव

'दिनकर' के काव्य में जो हुंकार और आग है इसका प्राथमिक तत्कालीन राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों के परिचय तथा प्रभाव के कारण ही हुआ। उस दिनों समूचा देश स्वतंत्रता के लिये झूठ रहा था देश भरतों के गिर नये बलिदानों की गिनती निरन्तर बढ़ती जा रही थी और गांधी जी का 'असहयोग आन्दोलन' भारतीयों के बीच में नवाधा और नवचेतना का संचार कर रहा था। इन परिस्थितियों से 'दिनकर' के मानस का अदम्य विद्रोह कविता का माध्यम लेकर फूट पड़ा। इस विद्रोह में इनके प्रान्त की सामाजिक शक्ति परिस्थितियों ने साम में भी का काम किया। डा० नरेन्द्र ने इस प्रान्त की दमनीय स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है—

'दिनकर' ऐसे प्रान्त का कवि है जहाँ निचनता अदृष्टहास करती है। वर्य बंधन्य भी बिहार से अथिह धायर रिवाजतों में ही मिले। इसके प्रतिरिक्त इन बेचारे बूझे-अंगों को प्रकृति के जूनी दांतों और बजों का भी अिकार बनना पड़ता है। —विचार और अनुभूति पृ० ८१

इस वातावरण में रहकर 'दिगकर' की कविता राष्ट्रीयता के मावरण में श्रुति एवं धाग उगलने लगी और इनकी बेचना में साम्यवाद बैठ गया जो कृष्कोत्र में अपने सम्पूर्ण रूप में प्रकट हुआ—

'बट की विज्ञासता के नीचे जो घनेक बुझ

ठिठुर रहे हैं जगहें फंसने का घर दो

रत सोखता है जो मही का भीमकाय बुझ

उसकी शिरायें तोड़ो आसियाँ कतर दो'



## दिनकर की काव्य-कृतियाँ

'दिनकर' की साहित्य प्रतिभा गद्य और गद्य दोनों में समान है। ये बिलकुल सफल कवि हैं, उतने ही सफल गद्य-लेखक भी हैं। इनकी गद्य और गद्य की कुछ कृतियाँ यद्यत्क २० प्रकाशित हो चुकी हैं। यहाँ पर इनकी केवल काव्य कृतियों का संक्षेप प्रस्तुत है—

काव्य-कृति	प्रकाशन-काल
१ बारबोली-विजय	१९२८ ई०
२ प्रणमंग (अष्ट काव्य)	१९३१ ई०
३ रेणुका	१९३३ ई०
४ हुंकार	१९३८ ई०
५ रसवस्ती	१९३९ ई०
६ इन्द्र नील	१९४० ई०
७ सामवेनी	१९४१ ई०
८ भूप-छाँह	१९४१ ई०
९ कुण्डसेन	१९४१ ई०
१० नाग	१९४० ई०
११ इतिहास के पाँच	१९३२ ई०
१२ धूप और पुष्पा	१९३३ ई०
१३ तस्मिरबी	१९३३ ई०
१४ रेती के फूल	१९३४ ई०
१५ नील कुसुम	१९३३ ई०
१६ उबली धाम (गद्य-काव्य)	१९३६ ई०
१७ नीम के पत्ते	१९३६ ई०

१८. दिव्यी	१९५६ ई०
१९. सीपी और वंस (धनुषित कविता-संग्रह)	१९५७ ई०
२०. नये मुनापित (नूतन-संग्रह)	१९५७ ई०
२१. उर्वशी (भीति-नाट्य)	१९६१ ई०

इनके प्रतिरिक्त अज्ञान नाम से इनका एक काव्य-संग्रह भी है जिसमें रेणुका से लेकर नील कुमुद तक की चुनी हुई कविताएँ हैं। इसका प्रकाशन फल सन् १९५६ ई० है। यहाँ पर कवि की प्रमुखतम कृतियों का संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक प्रतीत होता है ताकि कवि की विकास-प्रक्रिया को समझ लिया जाये।

### रेणुका

रेणुका में संगृहीत कवितायें तीन वर्गों में विभाजित हैं—ध्योम कृओं की परी भवि कल्पने गा रही कविता युगों से मृग ही और फूँक दे जो प्राण में उठेना। इस संग्रह की समस्त कविताओं में कवि की पाँच प्रकार की भावनायें परिलक्षित होती हैं—

१ प्रगति-भावना २ राष्ट्रीय भावना ३ शृंगार भावना ४ अध्यात्म भावना ५ प्रकृति-चित्रण की भावना।

'रेणुका' का कवि इस विषमतापूर्ण और पीड़ित संसार में समता तथा सुख जाने का इच्छुक है। जिस प्रकार 'साकेत' के राम इस मूठस पर स्वर्ग का सन्देश लेकर नहीं भाते बल्कि इस मूठस को ही स्वर्ग बना देना चाहते हैं, उसी प्रकार 'रेणुका' का कवि कल्पना का वैभव त्यागकर इसी बरत को पतक्य बनी हैत्रने का अभिजापी है—

ध्योम-कृओं की परी भवि कल्पने भूमि को निज स्वर्ग पर लतका नहीं।

उड़ न सकते हम धुँसे स्वप्न तक धरित हैं तो धा बला धतका यहाँ।

कवि-कल्पना का सामाजिक बन जाना प्रगतिवाद की प्रमुख विशेषता है। प्रगतिवादी समाज के पुनर्निर्माण के लिए वर्तमान समाज का ध्वंस आवश्यक मानता है। रेणुका का कवि भी अपनी कविता से जग में ज्वाला बुलवान की प्रार्थना करता है—

‘कालि पात्रे कविते । जाने उठ धाडम्बर में धाग लया दे,  
पतन पाप बाबाँड जलें जय में ऐतो बबासा तुमया दे ।’

राष्ट्रीय भावना के धरुमंत कवि का वर्तमान के प्रति धरुमंतोप और  
धरीठ के प्रति धनुरात म्यक्त हुआ है । धरीठ के प्रति धनुरात-प्रबलन भी  
राष्ट्रीय कवियों की एक परम्परा ही रही है । यह भावना प्रायः दो रूपों में  
प्रकट होती है—एक तो विद्रोह के रूप में जहाँ कवि वर्तमान के धरुमंत की कामना  
करता है । ऐणुका में ताँडक कविता इसी रूप का प्रतिपादन करती है—

‘नाचो हे मरचो मटवर ।

बन्नुचुड । भिलजन । मपावर । धारि प्रसय । धबडर । लंकर ।

नाचो हे नाचो मटवर ॥

इसका रूप है धरीठ की गौरब-गाथा का गान । उद्याहरसुख, ऐणुका  
की ‘हिमालय’ कविता की कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

‘तु पूछ धबप से, राम कहाँ ? बूबा । सोलो बनराज कहाँ ?

धो मलय । कहाँ मेरे धराोक ? बहु बन्नुपुल बलपाम कहाँ ?

री कपिलबानु । कह, नुड बेव के बे नमल उपवेध कहाँ ?

तिम्बठ ईरान जापान चीन तक मये हुए खिल कहाँ ?

किन्तु इस विद्रोह में अधिष्ण-निर्माण की कोई योजना परिलक्षित नहीं  
होती केवल कवि का वर्तमान के प्रति धरुमंतोप और तन्मय कथन ही  
स्पष्टतः सुपरिष्ठ है ।

ऐणुका के कवि की शृंगार भावना को भी अधिष्णकित मिसी है किन्तु  
यह भावना छायावाकियों की ही कृठिठ और बूधिल नहीं बल्कि स्वस्व  
धनुमिठ और स्पष्ट है । यथा—

( १ ) बलघट से सा रही पीठ बठना पुबती नुडुमार

किन्ती भाँति छोती पापर-योबन का दुर्बु मार ।

बनु नी में कवि । इसकी मंग कलक काबल किन्तु सुहाग ।

यह कवि की कविता की पुकार है । शृंगार का यह धरुमंत स्वस्व और  
तयमित होने के छाब-छाब उदात्त भी है ।

रेणुका की अध्यात्म भावना किसी वंशीर चित्रण की परिणति नहीं बल्कि इसमें साधारण और स्वाभाविक दार्शनिक विचारों को ही व्यक्त किया गया है। जैसे—जीव और ब्रह्म का उल्लेख सृष्टि की नदररता ससार का एक दुःसमय प्राप्ति। जीवन और यौवन की नदररता का यह वर्णन देखिए—

‘जीवन का मधुमय जन्तास, ओ यौवन का हास बितास।

बन्-रासि का यह अमिमान एक स्वप्न ह स्वप्न मत्तान।’

रेणुका में प्रकृति का द्रव्योप प्राय राष्ट्रीयता की भावना से प्राधिर्भूत विद्रोह अध्यात्म भावना और शृंगार भावना को अधिभ्यक्ति देने के लिए किया गया है। यथा—

विद्रोह—बबक जडा तैरे मरपट में जिस बिन सोने का संसार,  
एक-एक कर मगा बहकने मगम-सुग्दरी का शृंगार।  
जिस बिन जली चिता वीरव की जय भेरी सब मूक हुई  
जमकर पत्थर हुई न बरों यदि टूट नहीं हो डूक हुई।

—पाटमिपुत्र की रंगा।

अध्यात्म भावना—‘एक बात ह सत्य की मर जाते हैं बिनकर फूस यहाँ,  
जो मनुकूल नहीं बन जाता दुबिन में प्रतिकूल यहाँ।  
मन्नी के दीप्त कावन में छिपा बपट का मूल यहाँ  
कितने कीड़ों से सेवित है मानवता का मूल यहाँ।  
इस जपवन की पगबंदी पर बचकर जाना परबेधी,  
यहाँ मेनका की चितवन पर मत मलबाना परबेधी।

—परदे

शृंगार भावना—  
(10) (20) मुक्ता कुंतल में घुब लुक का पहन कुतुम-कर्णामुपम  
दिवसू सितिल पर बजा रही मन्नीर जपन रूप रहे बर  
कमभून कमभून किसका सितवन

—धमा-सुग्द

यदि इन पाँचों भावनाओं का बिभेपण किया जाये तो कहा जा सकता कि प्रगति और राष्ट्रीय भावना कवि की समन्वित भावना की अधिभ्यक्ति



घोर शृंगार तथा धम्म्यात्म भावना व्यष्टि की। प्रकृति-विचल्य की भावना में दोनों भावनाओं का—समष्टि घोर व्यष्टि का—समन्वय है। इसका निष्कर्ष यह हुआ कि कवि युगीन परिस्थितियों से बाध्य होकर अपनी समूह-भावना को पोषित तथा क्रमस भावना को नियंत्रित करने में प्रयत्नशील है। उसके मुखा-हृदय में इन दोनों भावनाओं का दृग्दृग् चमत्ता है, जिसमें अन्त में समाज भावना की विजय होती है। व्यष्टि के निरोध एवं समष्टि के प्रहस्य के ही को वप राष्ट्रीय तथा प्रगतिवादी बनकर उसके काव्य में धबकीं हुई।

हुंकार

'रेणुका' में कवि के मन में व्यष्टि घोर समष्टि का जो संघर्ष प्रारम्भ हुआ है 'हुंकार' में वह प्रायः समाप्त-सा हो जाता है। समष्टि व्यष्टि को पराभूत कर लेती है और कवि की बाणी वर्तमान की दयनीय दशा के प्रतिक्रिया-स्वरूप विद्रोह कर उठती है—

समय-बूह की घोर तिसकले मेरे गीत बिकस धाये ।

धाम धोजते जगहें बुलाने वर्तमान के पस धाये ॥

इसीलिए कवि 'शृंग छोड़ मिट्टी पर' उतर घाटा है व्योम-कृषों की परी कल्पना प्राणों में सत्तेजना फूटने के निचे घातुर हो उठती है। वह कल्पना की आसी बुनने वाले कवियों को चुनौती दे देता है—

धमूत पीत तुम रचो कलाविधि । बुनो कल्पना की आसी ।

तिमिर-ज्योति की समर भूमि का मैं आरण, मैं बँतानो ॥'

इन पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि 'रेणुका' के जिस विद्रोह में निराशा के कारण ध्वंस को निमग्नण दिया जाता था 'हुंकार' में वही विद्रोह धासा घोर नवीन प्रकाश से समुज्ज्वलित हो उठा है। कवि की बाणी चायकृता ज्योति घोर विमुक्त धाव-धर्म का बल लेकर बोलने लगी है—

'धर कर धरण विधित शृंगों पर भंडा बही उड़ाते हैं,

धपनी ही जंगली पर जो लंजर की जंग लड़ाते हैं ।

पड़ी समय से होड़ लीध धत ललकों के काँडे कठकर

फूक-फूक चलती न जवानी खोटों से बचकर फुककर ।

गीत कहीं उनकी छाँटों में जो घुन के मतवाले हैं ?

पति की लुपा धीरे बढ़ती पड़ते पर में जब छोले हैं ।

यहाँ कवि का विद्रोह खरम कोटि पर पहुँचा हुआ दिखाई देता है । वह केवल उन्हें ही एक बार नहीं, शत बार नमन करना चाहता है बिनके दुःख कारण रण की धीरे बढ़ें, लेकिन मन क पोसे करण पुकार छिपी हुई हो । इसीमिये कवि का दिल्ली का बीमब भी फूटी छाँटों नहीं सुहाता । वह उसे ब्रिटिस की बासी धीरे परकीया की संज्ञा देने में भी सहज नहीं करता —

‘तू बीमब-मर में हठमाती परकीया-सी संज्ञा बनाती ।

री ब्रिटन की बासी किसको, इन छाँटों पर है सजजाती ?

इन्हें का मान यह है कि ‘हुंकार’ में कवि के सबसे बिनोह की सजजात हुंकार है । कवि ‘रेणुका’ में वेस की जिस बुद्ध्या पर रोमा या ‘हुंकार’ में उसी पर विद्रोह कर उठा है । यहाँ ‘रेणुका’ में जिस भाव का नाम हुआ ‘हुंकार’ में वह जीवन को प्राप्त हुआ इमभिये यदि ‘रेणुका’ को ‘हुंकार’ की पीठिका या भूमिका कहा जाने से अनुचित न होना ।

रसवन्ती

‘रेणुका’ में कवि की जो शृंगारिक भावना अंकुरित हुई थी ‘हुंकार’ में धाकर वह भोवटवी क्षात्र भर्म में छमित हो गई, किन्तु यह क्षमन ‘रसवन्ती’ में अपना पूर्ण प्रवाह लेकर वह निकसा । समस्त धीरे विनु मामक बहिता में कवि ने निम्नलिखित पधितयों में इसी तथ्य की धीरे संकेत किया है—

‘बड़े यत्न से सिगहे छिपाया ये वे मुकुसुम हमारे ।

जो धब तक बच रहे किसी बिध ध्वस्तक इत्य प्रसय से ।’

‘हुंकार’ की हुंकार में से शृंगारिक गीत किस प्रकार बच रहे, स्वयं कवि को इसका पता नहीं है लेकिन वह बिध सहज प्रक्रिया के धतिरिक्त धीरे क्या हो सकती है ? यर्थात् यमित काम भावना नष्ट नहीं हुआ करतीं वे धबधर पाकर फूट ही पड़ती हैं । यही सहज प्रक्रिया है । इसीमिये ‘रसवन्ती’ में किसी निश्चित उद्देश्य का धभाव है, केवल कवि-मानस की प्रमन्नता ही इसका कारण है ।

'रसबन्ती' का कवि प्रकृति को भी अपनी शृंगार भावना की अभिव्यक्ति का साधन बनाता है। 'हुंकार' का कवि 'रसबन्ती' का प्रणेतृ नहीं हो सकता रह सहाज ही कहा जा सकता है क्योंकि एक में समष्टि की चरम सीमा है मर ब्रूसरो में व्यष्टि की पराजय। 'पठभङ्ग की शारिका' में कवि इसी शृंगार का समाधान करता है—

जय तो समझता है यही पापाय में कुछ रस नहीं।

पर विरि-हृदय में क्या न व्याकुल निर्दरों का बात है ?

इन पंक्तियों में कवि ने अपनी दमित काम भावनाओं की ईमानदारी के साथ स्वीकृति ही नहीं दी बल्कि एक शास्त्र सत्य की प्रतिष्ठा भी की है। यह 'दिगंबर के धालोचकों का रसबन्ती को कुछ विस्मय और उन्मत्त के रूप में धपाना केवल कवि के प्रति ही संभाव्य नहीं बल्कि एक शास्त्र सत्य की सत्यता को भी झूठमाना है। 'रेणुका' में जिस कविता में उडु के नील शृंगार में स्वप्न न भोजने की चमेसी में चम्पू-किरणों से चित्त न बनाने की चरों में मुसकान और कपोलों में लाली न बन जाने की कसम खाई भी 'वा हुंकार' में जो युग धर्म की पुकार बनी प्रकृति-मम को लेकर रक्त शोषिणी संस्कृति को जिसने लमकाय प्रपन्न सख्य विचार कर युग पर जिसने अपने तन-मन-बन का समर्पण किया और जिसने कवि के महायज्ञ की साहसिक शर की नहीं कविता 'रसबन्ती' में धास्ता गते हुए प्रेमी की रक्षा को र से खींचकर बोरी बोरी नीम के नीचे खड़ी करने लगी—

'जो प्रेमी हैं यहाँ एक जब बड़े साध्व्य धास्ता जाता है,

पहला स्वर उसकी रक्षा को कर से यहाँ खींच लाता है।

बोरी-बोरी खड़ी नीम की छाया में छिपकर गुनती है

हुई न क्यों में कड़ी नीम की बिजला यों मन में गुनती है।

कहने का भाव है कि 'रसबन्ती' निर्विचार रूप से कवि की शृंगारिक शक्तों की स्पष्ट और सहाज अभिव्यक्ति है। धार्मिक विद्वानाचारप्रसार के धर्मों— 'यदि पंक्तियों के साधन से कहना चाहें तो 'रेणुका' में 'चातक' की शैली

इसका ही धीरे 'हुकार' में इयेन (बाज) का शीघ्र । रसबन्ती में तो कोकिल की कारती है ।”

### द्वन्द्वगीत

‘द्वन्द्वगीत’ में अस्मिता भावना और व्यक्ति-समष्टि के द्वन्द्व की प्रधानता है। इसमें ईश्वर आत्मा (जीव) जीवन और मृत्यु आदि पर विचार व्यक्त किये गये हैं। जिस प्रकार कबीर आदि भक्त-कवियों ने ब्रह्म की सर्व-व्यापकता स्वीकार की थी सर्वत्र घटने सास की भासी देखा थी उसी प्रकार ‘द्वन्द्वगीत’ का कवि भी सृष्टि के प्रत्येक कण में उमी मासो का रूप और प्रमाण देखा है—

किरणों के बिल बीर देख, सब में बिजमणि की भासी रे ।

बाहेँ बिलने फूल खिले पर एक समी का भासी रे ।

जीवन और मृत्यु के विषय में भारतीय धर्मन पुनर्जन्म का दृष्टा सं प्रति-पन्न करता है। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन के समक्ष इसी त्रिदशम का आख्यान किया था—

जातस्य हि भ्रुवो मरुद्भ्रुव जगम मृतस्य च ।

तस्मादपरिहायैश्च न त्वं शोचितुमर्हसि ।

यही भावना द्वन्द्वगीत में भी व्यक्त की गई है—

‘जीवन ही कल मृत्यु बनैया और मृत्यु ही नवजीवन

जीवन-मृत्यु-बीज सब क्यों इन्हीं का यह उत्पाद-पतन ॥

संसार अस्थिर है अतः इसमें पनपन बासा जीवन भी अणुमणु है । जिस जीवन पर अस्थिर भवाम्भ हो जाता है वह जीवन भी ठहरता कितने दिन है—

‘दो नीकड़ों को छिपा रही नवमाती धाँसें जाल लखी !

अस्थिर-तन्तु बर ही तो हैं ये बिले कुमुद से पाल लखी ;

धीरे कुचों के कमल ! भरेंगे ये ली जीवन से पहरै,

कुछ बोझ-सा नास प्राण का छिपा रहा । ११

आत्मा के स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण ही मनुष्य भटकता रहता है और जीवन मरण के चक्र में पड़ा रहता है। चाब ही कबि ने कुछ व्यावहारिक संकाएं भी प्रस्तुत की हैं। जैसे—यदि जीवन असत्य है तो यह पाप पुण्य का बंधन क्यों है? यदि जीवन सत्य है तो यह मिथ्या स्वप्नों में क्यों भटकता रहता है? यदि आत्मा भिन्न और निर्मित है तो इन चर्य-शास्त्रों की क्या प्रावश्यकता है? और यदि ईश्वर अभिन्न है तो उसके बिसय रूप का धर्मोपलब्धि तथा उसकी आराधना और पूजा के प्रयत्न क्यों?—

जो सुखन असत् तो पुण्य-पाप का स्वैत-नीत बन्धन क्यों है?

स्वप्नों के मिथ्या-तन्तु बोध प्राकट्य सत्य जीवन क्यों है?

हम स्वयं तिर्य निर्मित घरे तो क्यों धुम का सम्बन्ध तुम्हें?

किस बिसय रूप का धर्मोपलब्धि, यह आराधन-सुखन क्यों है?

यहां पर यह भी उल्लेख है कि इन्द्रगीत का रचन प्रतिपादन सुष्क नहीं बल्कि सशक्त और अनुभूतिपूर्ण है। 'संसार के विरोधी प्रतीत होने वाले विभिन्न तत्त्वों में आत्मिक सामंजस्य उत्पन्न करने का हार्दिक प्रयत्न ही यहाँ दृष्टिगोचर होता है। बुद्धि से उसके धमन का प्रवास बहुत कम। 'इन्द्रगीत' का बर्णन संज्ञात्मिक नहीं बल्कि व्यावहारिक है और इसी कारण सरस एवं सुगम भी।

इन्द्रगीत में कबि की बार्जनिक और समन्वयवादी भावना ने 'सामधेनी' और 'कृष्ण' की रचना के लिए कबि के मन में बीज ज्ञान बिसे।

### सामधेनी

इन्द्रगीत में कबि के मन में व्यक्ति और समष्टि का जो इन्द्र प्रारम्भ हुआ था वह 'सामधेनी' में आकर परब्रह्म प्राप्त कर लेता है। व्यक्ति पर समष्टि की पूर्ण विजय हो जाती है। कबि की भावनाएं समष्टिमय बन जाती हैं। जिस प्रकार शम्भु कबीर ने अपनी विरक्ति की उद्घोषणा करते हुए कहा था कि 'जो घर फूक पाएगो जहाँ हमारे छाब' उसी प्रकार 'सामधेनी' का रचयिता भी धरती ज्ञान की भावनाओं से घमिभूत होकर इसी प्रकार का पाह्लात करता है—

मेरी पुत्री है प्राय, जिसे जलना हो बड़े निकट प्राये ।

‘सामवेदी’ का ‘कुरुक्षेत्र’ की रचना में महत्त्वपूर्ण योग है। जो युद्ध की समस्या कवि के मन में ‘सामवेदी’ की कस्मिन् विजय कविता सिद्धते समय प्राणिभूत हुई थी, वही समस्या तो कुरुक्षेत्र की आभार-सिद्धा है। यही कारण है कि कस्मिन्-विजय’ और कुरुक्षेत्र के कुछ पदों में बहुत ही मात्र-साम्य है। विल प्रकार महाभारत को जीत लेने के पश्चात् मुचिष्ठिर के मन में भयंकर स्थानि होती है और उन्हें अपने कृत्य पर गहन परचासाप होता है उसी प्रकार महाभारत प्रसोक नी कस्मिन् की जीतने के पश्चात् युद्ध का क्या परिणाम हुआ वही सोचते हैं—

‘सोचते इस बन्धु-वध का क्या हुआ परिणाम ?

विजय को क्या दे गया इतना बड़ा सप्राय ?

और जिस प्रकार से स्वप्न में वे सुयोधन प्रादि की बातों को सुनते हैं तो उनका परचासाप विगुणित हो जाता है। कस्मिन् विजय में भी कोई पश्य शक्ति प्रसोक को सत्य का संदिस देती है। कहने का भाव यह है कि इन दोनों कृतियों की पृष्ठभूमि में बहुत-कुछ साम्य है। स्वयं कवि ने कस्मिन् विजय’ की ‘कुरुक्षेत्र’ से सम्बन्ध महत्ता इन शब्दों में स्वीकार की है—‘यादों में हुई कि पहले मुझे प्रसोक के निर्बन्ध ने आकर्षित किया और कस्मिन्-विजय नामक कविता सिद्धते-सिद्धते मुझे ऐसा लगा मानो युद्ध की समस्या सारी समस्यार्थों की बड़ हो। इसी क्रम में आपर की ओर देखते हुए मैंने मुचिष्ठिर को देखा जो ‘विजय’ इस छोटे-से शब्द को कुरुक्षेत्र में बिछी हुई साधों से जीत रहे से।

### कुरुक्षेत्र

‘कुरुक्षेत्र’ में महाभारत की प्रस्तावत कथा का एक महत्त्वपूर्ण अथ ग्रहण करके उसे युष्मानुसूप कल्पना से मंडित किया गया है। जब महाभारत का महाभारत युद्ध समाप्त हो जाता है और विजय भी मुचिष्ठिर को मिल जाती है तो मुचिष्ठिर का मन विग्न हो जाता है। वे प्रसक्त्य कीर्तों की मृत्यु से विचलित हो उठते हैं। उनका मन अंतर्गत और विरक्ति की भावनाओं से भर

जाता है। बसुबा का राज्य उनके लिए बिप-सा बाहुक बन जाता है। धपने मन क इस इच्छ को लेकर भीष्म पितामह के पास पहुँचते हैं जो बाखों की शैया पर सेटे हुए धपनी मृत्यु की प्रतीला कर रहे थे।

मुषिष्ठिर की बेराग्य मरी बाखों को सुनकर पितामह को हँसी आ जाती है और वे धनेक प्रकार से मुषिष्ठिर के इच्छ का समन करते हैं। वे मुड के कारखों पर प्रकाश डालते हुए बताते हैं कि मुड के प्रेरक तत्व कुसासन हैं। इसीलिए इसमें कुसासन की भरसना और मुसासन की संसृति की गई है—

शुपति बाहिए क्योंकि परस्पर मनुष्य सड़ा करते हैं।  
खडन बाहिए क्योंकि ग्याय से वे न स्वयं करते हैं।

यों तो कुडसेन में प्रसंगबध्नात् धनेक बिपयों की खर्चा है किन्तु इसका सर्वप्रमुख प्रतिपाद्य है साम्यबाह की स्थापना। कवि का बिस्वास है कि जब तक मनुष्य को बराबर जीने के अधिकार और सामन नहीं मिल जाते तब तक समाज भ सखी धान्ति और व्यवस्था नहीं हो सकती। इसलिये वा कहता है—

है सबको अधिकार मूलि वा पोषक रस पीने का  
बिबिध प्रजाबोति प्रगक होकर जग में जीने का।

कुत्सास का दूसरा प्रमुख प्रतिपाद्य है विज्ञान। पाब समूचा ससार स तथ्य से धबगत है कि विज्ञान का प्रयोग निर्माण के लिए नहीं बिष्मस लिए हो रहा है। कवि की बड़ भारणा है कि इसका कारण हृदय और मस्तिष्क की धसगुलता है। इसलिये जब तक इन दोनों का समुचित समन्वय नहीं हो जाता तब तक मनुष्य के मन से हिंसा और पाषपी बृति समाप्त नहीं की जा सकती—

किन्तु है बड़ता गया मस्तिष्क हो नि शय  
पूडकर पीछे गया है रह हृदय का हैस।  
नर मनाता नित्य नूतन बृद्धि का त्योहार  
... जो देवता भीत्कार।

इस प्रकार अन्य अनेक प्रसंगों के साम-साथ 'कुञ्ज' में आज के युग में भीषणतम युद्ध की समस्या का बहुत ही सुन्दर और व्यावहारिक समाधान स्तुत किया गया है।

### उर्बेची

उर्बेची दिनकर की नवीनतम कृति है। इसमें प्रागैतिहासिक काल के कुरवा-उर्बेची-शमास्मान द्वारा मानव-मन की प्रमुखतम समस्या—हाम—त विस्तेपण किया गया है। यही कृति हमारी आत्मा है अतः इसके विषय में यहाँ अधिक बतलाने की आवश्यकता नहीं।



## उर्वशी की कथावस्तु

'उर्वशी की कथावस्तु पाँच अंकों में विभाजित है। इसका सम्मक और कुछ परिचय प्रदान करने के लिए इसे अंकानुसार देना ही अधिक उपयुक्त है यद्यपि यहाँ यह इसी क्रम से दी जा रही है।

प्रथम अंक

सूत्रधार और नटी के परस्पर संवाद से उर्वशी की प्रेम-कथा प्रारम्भ होती है। सूत्रधार और नटी पुरुरवा की राजधानी प्रतिष्ठानपुर के एक मनोरम उद्यान में आँवनी रात का रसपान कर रहे हैं। जमती के बण-भ्रम में चन्द्रमा की रजत रश्मियाँ व्याप्त हो रही हैं। प्रसा प्रतीत होता है मानो आकाश चन्द्रमा की निरणु कपी करों से सम्पूर्ण धरा को अपने आतिथ्य-पात्र-में बखर कर लेना चाहता है। इस प्रकार प्रकृति के उद्दीप्त आत्मनव का आभास लेकर कवि ने आगामो पुरुरवा-उर्वशी की प्रेम-कथा का संकेत दे दिया है।

मादकता के इन घात वणों में ऊपर आकाश में रत्नार्णो एवं गुणों की ध्वनि सुनाई देती है। बहुत ही अस्तराएँ एक साथ नीचे उतरती हुई दिखाई देती हैं। नटी का विचार है कि ये अस्तराएँ फूलों की लक्षियों तथा विभु की प्रेमलक्षियों हैं। सूत्रधार नटी को समझाता है कि ये न तो फूलों की लक्षियों हैं और न ही चन्द्रमा की प्रलम्भाएँ हैं अपितु समुद्र प्रेम की क्षीण प्रलम्भाएँ तथा कामासक्त मन की शान्ताएँ हैं। यद्यपि ये धरती पर प्रेम का स्पर्श-दान करने के लिए आती हैं। इसी बीच तीन अस्तराएँ—सहस्रम्बा रत्न और मेघका पृथ्वी पर उतर आती हैं। नटी और सूत्रधार बृष की आवाज में आकर घबड़से हो जाते हैं और अस्तराएँ पूज्य हरियानी और भद्रों के शब्द

समवेत यान जाने के परदात् परिषों का परस्पर बाधासाप दिलाया गया है वास्तव में यह बाधासाप मूल कथा तक पहुंचने की भूमिका है। मनेका प्रग्न करती है—'बगती और धम्बर में क्या भेद है? रम्मा उत्तर देती है कि "मूर्खसोक मग्ने बाला है पर मुरभोक धम्बर है।" मनेका पुनः रम्मा के उत्तर का स्पष्टीकरण करती हुई कहती है कि हम धम्बर होते हुए भी बड़ी धन्यामिनी हैं क्योंकि हमें ध्यजनों की पम्ब मकर डी तुप्त हाना पड़ता है। हमारी रसना मृतक-बाधियों की तरह पदाओं का रसना द्वारा मधुर स्वाद देने में असमर्थ है। इस दृष्टि से बराबाया धम्य माम्य है। यद्यपि इनका जीवन अत्यन्त क्षणिक है मगर फिर भी वे अपने दो दिन के जीवन में बंधक-बन्धक होते हैं।

मनेका द्वारा पम्बी की धमिष्ठ महिमा सुनकर सहजन्त्या मनेका पर ध्यम्य करती है कि मुझ धन पता लगा कि तुम धरती का ध्रुवने मुक्तकठ सं प्रससा क्यों कर रही हो? सम्भवत उबधी की तरह तुम्हारा भी मन कहीं फँसा है? मिट्टी का मोहन कोई अन्तर में घाग बसा है?

मनेका को उबधी की प्रेम-कथा का ज्ञान नहीं था। धत सहजन्त्या बताती है कि एक दिन सबनी धपनी सधियों के साथ कुम्बर के धर सं बाधिस इन्द्रपुरी का लौट रही थी। इसी बीच एक रासस बाज की तरह उबधी पर म्पटा और उस धपनी भूबाधों में समेट कर धाकाध में उड़ गया। उबधी ने धात्मरक्षा के लिए बड़ा शोर मचाया। जन्म-ध्वनि सुनकर एक राजा उबधी की रसा करने के लिए बोड़ा। राजा और रासस दोनों का परस्पर मस्त-मुद्र हुआ और प्रन्तवोपत्ता उबधी को उसन उस 'काल-बन्धन' से मुक्त कर दिया मगर बिधि की बिधम्बना देखिए। उबधी उस दत्प के बाहु-बाध से तो मुक्त हो गई लेकिन उस पुरपरस्त के प्रम में फँस गई। यह प्रम एकायी नहीं था। धरती पर राजा पुकरवा बिरह की धाय से दग्ध हो रहा था और स्वर्गलोक में उबधी उस काम-मूर्ति की कठोर बाधों में धपना सबस्य समर्पित करने के लिए ध्याकन हो रही थी। रमा उबधी के इस प्रम की मरसना करती है। वह कहती है—हम धप्यराधों का जग्म इसलिए नहीं हुआ कि हम किसी एक की होकर

रहें हम अपने प्रेम की सुरभि किसी एक के लिए नहीं संभोती अपितु हम तो 'रचना की बबना बना जग म उमग भरती है' कभी देवता कभी मनुज का प्राणियन करती हैं। अतः हमारा आवास तो न जाने कितनों की बाहों में है फिर भसा' जैसे हम बंध रहे किसी भी घर की दो बाहों में। इसके साथ-साथ रंभा मेनकाके सम्मुख एक और प्रदस तक उपस्थित करती है कि हम अन्धराधों को बरती घर रहन जैसे पुण्यों से इसनिय भी प्रेम नहीं करना चाहिए कि यहाँ रह कर गरीब का माता बनना पड़ता है। इनसे उताका मारा सोम्यर्व नष्ट हो जाता है और वह अनेक-विधर माष रह जाता है। अतः उर्रशी को चाहिये कि वह पुण्य प्रेम की अपने हृदय से उसी प्रकार उतार फेंके बिना तरह सर्व केंबुसी को त्याग देता है।

मेनका रंभा के इस दम्भ का प्रजस उतार देती है। वह कहती है—

'मा बनते हो बिधा कहां से कहां पहुंच जाती है ?  
गलती है हिनयिता सत्य हूँ मठम देह की छोकर  
पट, हो जाती वह असीम कितनी पयसिबनी होकर।'

इसी बीच उनकी एक अन्य सखी चित्रमेला का धाममन होता है। वह बताती है कि सबसे उबली में बुद्धबा को देना है यह बड़ी बेचैन है। धार मुझमें कहने लगी कि 'यदि आज काल का संक नहीं पाऊँगी तो लरीर को छोड़ पत्रन में निरक्षय भिस जाऊँगी' मुझे रोको मठ। स्वर्ग में मरे लिए नहीं भी आत्म की किरण नहीं है। स्वर्ग तो स्वर्गों का बाल है और में अतः का स्वर्ग पागे के लिए बर्षन हूँ। अतः 'हे चित्रमेला ! मठ बेर मयाधो पीये भी हो मुझ धार शिष के समीप पहुँचाओ। फिर सखा सखियो ! मैं क्या कर सकती बी ? आज संभ्या के समय मेने उसे सब भण्ठी तरह फूँसे है सबाबा और सब की आस बचाकर उसे सुरपुर से बाहर ले आई। धीरे-धीरे उस भोकर से उतर कर मैं उसे राजा पुकरबा के उपवन में छोड़ कर आई हूँ। यद्यपि राजा के महल में एक और भी रानी है मगर इस विषय में हमें किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिए क्योंकि राजाधों का प्रेम किसी एक

बाट पर बंध कर नहीं रहता वे तो नित्य नई सुदृढाओं पर मरते हा रहते हैं।" श्रीग फिर उर्बेची का सीन्धय ता अनुपम एवं सादरत है इसलिये यह (पहली पत्नी) कुस की रानी भसे ही बनी रहे मगर उर्बेची तो पुकरवा के हृदय की रानी बनकर ही रहणी ।

सकिन एक बात है राजा की म्यप्रता एवं हृदय की बेचनी से रानी ने यह अनुमान लगा लिया है कि उसके पति धवस्य किसी क प्रम-वाद्य में फस गए हैं इसलिये पति का प्रम पान के लिए अन्न-देवता का धाराधन कर रही है ।

इस प्रकार पित्रसेवा तथा अन्य धन्द्वराओं में सबाद करते-करते रात्रि क केवम बार प्रहर बीप गह जाते हैं । घण के मुक्त अम्बर में उठ जाती हैं ।

### द्वितीय अक्ष

प्रस्तुत अंश की कथा दो तप्पों को लेकर बनी है—

क—पतिव्रता स्त्री की मति धीर

ख—पुरुष का स्वभाव ।

प्रतिप्लानपर के राजमन्त्र में महारानी श्रीश्रीरती अपनी वा अन्तरम सलियों के साथ बँटी हुई वार्तावाप कर रही है । उस अपनी सखी निपुणिका से पता पसता है कि महाराज से मिलने के लिए स्वर्ग स उर्बेची नाम की एक धव्यग धाई थी उसके मात्र वे कहीं बसे गये । उसका सीन्धय अप्रतिम था ऐसा समय था जँस मय क मुस से वान्तिमान मणि बाहर निकली हा । बम कथा बतमाळ बह तो 'नर क मुष्ट धान्त शोणित में प्राग समान बायो थी । तम अन्नमुस को दन्कर महाराज पुकरवा के हृदय में समुद्र क समाग उबार भाग्य सा धा गया । उन्होंने दोड़कर उसे अपनी बाहों में भर लिया धीर बह भी पषत के पंजों में सिमटी निरिमल्यका-सता-श्री महागज के हृदय न समा गई । महाराज ने उर्बेची स प्रापना की कि ह उर्बेची ! मैं तुम्हारे अनुमत जीवन के सापन बिक चुका हू । अतः मुझे बचत दा कि तुम जीवन भर मुन्म मिलन-मुख का यह अमित धानम्ब बेठी रहोयी ।

निपुणिका की यह बात सुनकर श्रीश्रीरती का हृदय अन्न रह जात्रा है । वह सोचती है कि 'जीते थी यह मरण भेदने से धम्बा मरना है । परन्तु

सुविधता स्त्री मग भी तो नहीं सकती क्योंकि राजा मंत्रियों से कहकर गए हैं कि हम एक वर्ष पर्यन्त मन्धमादन पक्ष पर विचारणा करेंगे और सोटने के उपरान्त नमिपय मन्त्र (पुत्रपक्षा-यज्ञ) करेंगे। अतः इसी धर्म की रक्षा के लिए तुम्हारा जीना परमावश्यक है। यह सुनकर भौषीनरी और मन्त्रिका व्याकुल हो उठती है। वह कहती है कि ये मन्त्रिका अप्यराएँ यही कठोर-हृदया होती हैं। अपन लक्ष्मि विनोद के लिए य धर्म-गतिश्रिया य प्राण मे मती है।

निपणिका और मन्त्रिका भौषीनरी को बीरज बधाती हुई कहती हैं कि हे सुमी ! अपन बीरज के बाव को यू मठ तोड़ो। पुस्वों का स्वभाव बड़ा विविध होता है। उनके हृदय मे जब नारी के प्रेम की प्रथम रश्मि धासीकित होती है तब दुर्भम स्वप्न समाग रम्य नारी नर को मगती है। उस समय मन्त्रय केसरी सा पुष्य बेमुह हाकर उसके चरणों में गिर जाता है। यही एक ऐसा अणु है जब नारी पुत्र स जो कछ भी चाहे वही मन्तु स सकती है। वह चाहे तो—

उड़ुओं की मेखला कौमुदी का कुकुल मन्त्रा मे  
रपना मे उपनिया परी की अया के बावक स  
सजबा मे धारती पुनिसा क बिधु के पावक स ॥

इस पर भी पुष्य की प्रकृति बड़ी निराली है। वह सन्तर्पसील होता है। वह नित्य नई प्रतिमाओं का प्यार पाने के लिए बर्चन रहता है। मन्त्रिका के मुक्त से ष्य की इस प्रकृति का बड़ा हृदयवाही एवं वैज्ञानिक चित्र प्रस्तुत कराया गया है—

“नयी तिद्धि-हित नित्य मया संघर्ष चाहता हूँ नर,  
नया स्वाद नब अय नित नूतन हृय चाहता हूँ नर।

× × ×  
प्रीता में झूमते कुलुम पर प्रीति नहीं जगती है।  
जो पर नर बड़ नई चारनी पीकी वह मबती है।

मन्त्रिक—

“प्रियतम जो रज सके निमज्जित जो अतृप्ति के रत में,  
पुष्य बड़ लुच से रहता है जत प्रपरा के बल में।”

अब भौषीनरी की मन्त्रय मे धाता है कि प्रियतम मेरे हाथ से केसे निकल गए। उन्नत तो एक पतिव्रता नारी का धर्म पालन करने के लिए अपना सर्वस्व

झोलाबंद करके तुल्य करने का प्रयत्न किया। यदि वह भी प्रगृप्ति का माग्य भवनाती वा उसके प्रियत्व कभी भी उभ छोड़कर नहीं जाय।

इसी बीच कंबुकी का प्रवेश हुआ है। वह वदता है कि जो सैनिक भट्टारक (पुकरवा) का सम्भमान तक छाड़ने के लिए पण्य वे सप्तम राजा को छोड़कर बापिम मण्य में सौत्र भाग है। महाराज न उनके ह्याय भापके लिए यह भवेन नेत्रा है कि यह का जसबापु बहुत मुजर है। यहाँ की स्वास्व्यशापी पवन दीतल जस बाभी मीर्ये सम्भे-सम्भे पीड़ क बुध घोर पहाड़ोंपर हिमराशि मुझे कापी रुचती है मेकिन एक भावर के बिना उभ कुछ घुना समता है। हे प्रियत्व ! क्या कभी घपने घर में प्रम का दीनक नहीं बसेमा ? क्या यह विष्य ऐव-बंध भाग नहीं बल सकेगा ? अत तुम ईश्वर से पुनश्चा की प्रार्थना करती रहा। देखना तुम्हारी भय-साधना में कहीं किटी प्रकार की भुटि नहीं हुनी चाहिए। मैं मा यह ईश्वर क धाराधन में रत रहकर कून-दीनक की ऐपला करना रहुमा।

राजा का यह विविध संदिघ मुनकर रागी बेबनी में मुत्कराने सपती है। वे तो मण्यरा के साथ रमण करने का ईश्वर की साधना बताएँ घोर में इस तुने भवन में पुनैपला करती रहु ? कंया विमलण ग्याय है ? यदि के ससर्प बिना पुन क्या भाकाज से टपक पड़ेगा ? नारी किननी घसहाय है ? वह मण्य किमी को घपना दु-स-दद भी तो नहीं बता सकती। घपनी हूक की बिह्ला पर भागा भी उभको घोमा नहीं देगा। फिर भी—

त्रियतम जहाँ भी हों बिछे सबभ पप में फूल हों।

### तृतीय अक्ष

यह अक्ष उबसी की काव्य-दृश का लता है। इयमें एक घोर जहाँ काव्यत्व की निर्मय सहरिया है वहाँ हुमगी घोर दर्शन की गहन गम्भीरता थी है।

अक्ष का प्रारम्भ मण्यमाशन-वदन पर बैठे हुए पुकरवा घोर उबसी के प्रिय प्रथम से होता है। उबसी घपने पुरावत को दाहुरानी हुई कहती है कि जब मैं तुम्हारा भयम-वदन करके मुग्घुर सौमी तो यहनिन तुम्हारा विष्य

रूप मेरी छाँड़ों पर छाया रहता था । समय काटते नहीं कटता था । एता समयता था जैसे किसी विशाल घंजवर ने इसे अपने आकोष में दबा लिया हो । दूसरी ओर पुष्करवा की भी यही बसा थी। वह कहते समा कि तुम्हारे जाने पर मुझ ऐसा लगा जैसे 'मू' गये हों प्राण जन्हीं उज्ज्वल मेघों के बन में ।' कई बार इच्छा हुई कि ईशदेव से तुम्हारी मीठ माँग लूँ मगर फिर मन । टोका ' सत्रिय भी मीठ मांगते हैं क्या ? और प्रेम क्या कभी प्राप्त होता प्रियाटन से । लेकिन मुझे अपने प्रेम पर पूर्ण विश्वास था इसलिए हृष्य बार-बार कहता था कि तुम भूतम पर उकर प्राप्ती । उर्बेरी ने कहा कि मैं जली तो घाई मगर स्वयं जली घाने में मुझे उस स्वाद की उपस्थिति मही हुई जो उन नारियो की होती है "जिन्हें प्रेम ने उडेलित विक्रमी पुष्प बलशाली रण स साते जीत या कि बल सहित हरण करते हैं ।" पुष्करवा इन शोनी कर्मों की मर्लना करता है और प्रेम की प्राश्निक महर्वा तक पहुँचने की इच्छा प्रकट करता है । उर्बेरी यह सुनकर स्तब्ध हो जाती है क्योंकि देवों की जिस शीतलता को छोड़कर वह इस परा पर घाई की बहाँ तक किन्तु में भी उठी का प्रथ बुध्दिगोचर होने लगा । मयाक्रान्त होकर उर्बेरी कहती है—

"तन से मुझ को कसे हुए अपने बड़ प्रातिगत में  
मन से किन्तु विचलन हुए तुम कहाँ जाने जाते हो ।

पुष्करवा नहीं जानता कि मैं कहाँ जा रहा हूँ । परन्तु इसके हृदय में इस सुदम मावता का उदय होता है कि 'रूप की प्रादायता का माय प्रातिगत नहीं है । नारीरिक मौग्ध्य से परे इटकर जब मैं तुम्हें एकापन मन से देखता हूँ तो मेरे माव ध्यष्टि से समष्टि की ओर चल पड़ते हैं और निचोक में मुझे केवल तुम्हारे ही सौन्दर्य के दर्शन होते हैं । उस समय यह सिंह पुष्प के समक्ष सन्निह के रह्य हुए भी निबधाय होकर बिर जाता है लेकिन तुम यह मत समझना कि प्रेम की इस व्यापकता के कारण मैं 'तुम्हें छोड़कर प्राकाश में बिबरण करूँगा' क्योंकि मैं मरलधीस प्राशी हूँ । देवतरण का शोनी एवं शीतलता मेरे लिए बुध्दाप्य है । क्योंकि—

‘देवताओं की नदी में तप की लहरें न उठती  
बिन्दु नर के रक्त में ज्वालामुखी हुंकारता है

पुरूष कश्चित्त में देवत्व की चाह देखकर उर्बेनी और अश्विन के बीच ही  
उठी है क्योंकि बर्षों की जिस दीर्घमता का छोड़कर वह नर क उच्छ्वस  
भिर को अपना समर्पण करने आयी थी यदि वह भी देव-साक्ष्या में डूब  
या तो जगती पर मेरा प्रामाण्य बर्ष हुआ। अतः उर्बेनी पुरूरवा के चित्त में  
संभारणा का उपस्थापन कराना चाहती है कि तुम में मनुजत्व और देवत्व  
दोनों ही निवास करत हैं—

‘यह तो नर ही है एक साथ जो दीर्घमता और अश्विन भी है  
सम्भार में सामक बतों पुत्र बन में कर्षण समित भी है।

इस पर भी यदि तुम अपनी मञ्जुर कति स मझे मोहित कर सोमे तो  
फेर तुम मनुज नहीं, देवता हो जाओगे। पुरूरवा बुद्धिवादी बन कर उर्बेनी  
के इन कथन पर विचार करना चाहता है। उर्बेनी ‘रक्त’ के सामने बुद्धि  
की ह्यता सिद्ध करती है—

‘रक्त बुद्धि से अश्विन बली है और अश्विन जाली भी  
क्योंकि बुद्धि सोचती और शोचित अनुभव करता है।  
निरी बुद्धि की निमित्तियां निष्प्राण हुंकार करती हैं  
चित्त और प्रतिभा इनमें जो जीवन सहारा है  
वह सूत्रों से मुझे पत्र पायाओं में धाया है  
कलाकार के अन्तर के हिसकोरे हुए रश्मि से।’

अतः इस वैराग्यवादी भावना को छोड़कर ‘रक्त की भाषा का पक्ष’  
और इस पर पूर्ण रूप से विश्वास करो।

पुरूरवा इस बात को स्वीकार करता है कि रक्त बुद्धि से अश्विन बली  
है लेकिन रश्मि एव त्वचा का आगम्य ही सब कुछ नहीं है। हमें इसमें भी  
ऊपर उठकर एक स्थान पर जाना है जहाँ न उर्बेनी प्रमत्त न कोई धका ही-  
जयती है। अतः देह-धम से ऊपर उठकर हम अंतरात्मा तक उठना चाहिए।  
मगर यह पत्र बड़ा दुःसाध्य है क्योंकि—



“वहसे तो मनुसिक्त प्रेम के बंध नहीं सुमते हैं,  
घोर धुमे भी तो उड़ान घाबी ही यह जाती है  
नीचे उसे खींच लेता है आकषण मधुवन का।

घट यह प्रेम ही नर की उध्व प्रगति में बाधक है। उभरी से यह नहीं  
जैसा जाता। वह नर के मर्मस्थिक कठोर घासिगन-वास की दूधी है।  
इसलिए वह अपने प्रती स कर्मज्ज वापना करती है—

“पर, मैं बाधक नहीं चढ़ा तो रहा। भूमि या नभ में  
बसस्वत पर इसी भाति मेरा कपोल रहने दो।  
कसे र्हो बस इसी भाति उर-पीड़क घासिगन में  
घोर जलाते र्हो प्रहर-मुट को कठोर चुम्बन में।

फिर पुरुषा का बिचग से ध्यान मोड़ने के लिए उहीपन रूप में राशि  
का सस्नेह करती है। इस प्रकार पारिव एव घासिगन प्रेम में काफी बेर तक  
संबंध बनता र्हता है। पुरुषा के मन में एक घोर बेवत्न की कभी-कभी  
कल्पनाएं, घुसरी घोर उफनाठे हुए रक्त की घप्रतिम पुकार घोर पम-पय  
बेरने वाली ठोस वास्तविकता घनेघ कट्टानों को हुवन नहीं मागतीं को  
विचलना नहीं जानती — उठती है। वह हवा घोर पत्थर क दो छोरों के  
बीच छटके खाता है घोर गूटका खाकर, कभी इस घोर घोर कमी उर  
घोर को मुड़ जाता है—

कभी प्र म। कभी सग्यास।

घोर संस्वाह प्रम को बर्बास्त नहीं कर सकता न प्रम सं-वाह को,  
ज्योंकि प्रेम प्रकृति घोर परमेस्वर संग्यास है घोर मनुष्य को तिललाया गया  
है कि एक ही ध्यक्ति परमेस्वर घोर प्रकृति दोनों को प्राप्त नहीं कर  
सकत —

उभरी घुसरी है क्या ईश्वर घोर प्रकृति को है ?

क्या ईश्वर प्रकृति का प्रतिबल है उसटा प्रतियोपी है ?

क्या दोनों एक साथ नहीं बन सकते ?

क्या प्रकृति ईश्वर का धनु बनकर जगाम हुई है ?

घबका क्या ईश्वर ही प्रकृति से र्हत है ?”

काफ़ी विस्तार म उर्वशी इन प्रश्नों का समाधान करने का प्रयत्न करती है तथा पुरूरवा के चित्त में प्रकृति और सन्वास में प्रवेश स्थापित करने का प्रयत्न करती है। उसका विचार है कि परममोति विशोक के स्मृत और मूर्ख—दोनों एएबो में विद्यमान है। घट मनुष्य कम करते हुए भी उसको प्राप्त कर सकता है।

इस प्रकार दोनों में आविष्ट उद्गारों का यह क्रम काफ़ी देर तक चलता रहता है। लेकिन फिर भी पुरूरवा के लिए उर्वशी और उसके विचार रहस्यमयी बने रहत हैं। उसे समता है कि उर्वशी से उसका जन्म वन्मात्तर का सम्बन्ध है। वे कहत हैं—

घाय तुम जहाँ-जहाँ जाओपी,

साथ जसू गा म सुपण्य स जिसे हुए मधुकर-सा।

प्रमासाप के इन मधुरिम शरणों में देखते-देखते एक वय व्यतीत हो जाता है। यह वय एस कट गया जैसे घनी हा पत्त ही बीते हों। पुरूरवा मधु-हेतु राजमवन जाने के लिए उत्तर है। घट अनिश्चित काल के लिए सुगम प्रेमी एक दूसरे से घसग हो जाते हैं।

**चतुर्थ अंक**

इस अंक में श्वसन-मुकग्या के घायम में पुरूरवा-उर्वशी के पुत्र धामु का पालन-पोषण होता हुआ दिखाया गया है। धामु का जन्म तब हुआ था जब उस के पिता उसकी माँ से प्रलम रहकर मन्न कर रहे थे। उर्वशी को ज्ञपि भरत का घाय था कि तुम्हे पति और पुत्र दोनों एक साथ नहीं मिल सकते। घाय का कारण यह था कि एक बार देवमोक में लक्ष्मी पुरूरवा के प्रेम में ध्यानावस्थित थी। इसी बीच भरत-ज्ञपि मिथा के लिए उर्वशी के द्वार पर घाने। भरत के बार-बार पुकारते पर भी वह ध्यान-समाधि से प्रलग हटकर उनके घादर सम्मान को नहीं उठी। क्रोध में घाकर भरत ने घाय दिया कि हे उर्वशी! तू जिसके ध्यान में इतनी डूबी हुई है कि तुम्हे मेरे धागमन का भी ध्यान नहीं है तो जा, तू उसी के लिए मर्त्यलोक में घपने प्रेमी के घाय प्रेम ओड़ा करके भरती के प्रेम की पीडा सह। मगर ध्यान रत्त तुम्हे प्रेमी तथा पुत्र में से एक का ही सुख उपलब्ध हो सकता है। यह सुख भी तू केवल तब तक

या सकेनी जब तक तेरे प्रियतम तुम दोनों के परस्पर संयोग से बनिष्ठ पुत्र की नहीं देखते। जिस दिन वे पुत्र के दर्शन कर सँगे उसी क्षण तुम्हें अपने पति तथा पुत्र दोनों को छोड़कर इंद्रलोक में पुनः धा जाना पड़ेगा। इसलिए पुत्रोत्पत्ति का समाचार पति को नहीं दिया था और उसे व्यवनाशम में रख छोड़ा था।

व्यवनाश्वि बहुत बड़े तपस्वी थे। एक बार वे नर्मदा तट पर धीरे तप करते हुए बहुत दिनों तक समाधिस्थ रहे। इनके शरीर को शीमकों से ढक दिया, केवल घाँसे बसकती रहीं। उनके इस ध्यायम में एक बार राजा अर्यापति की कन्या सुकन्या पहुँची और इनकी घाँसों को कुबनू समझकर कौतूहल से ही मुनिवर की पलकें खींच लीं। श्वि उसके इस व्यवहार से क्रुद्ध हो उठे। उनके श्रोत्र को देखकर सुकन्या तनिक भी नहीं हिली और प्रावृत्त करती हुई घाँसे झुकाकर खड़ी रही। सुकन्या का लौम्य-मुक्त देखकर श्वि का क्रोध हवा हो गया। उन्होंने समझा कि सुकन्या को परब्रह्म ने प्रसन्न होकर सिद्धि के रूप में मेरे पास भेजा है। वे सुकन्या से जीवन सगिनी बनने की याचना करने लगे। सुकन्या ने श्वि को पवित्र प्रेम से प्रभावित होकर उन्हें अपना पति स्वीकार कर लिया। इस प्रसंग से सुकन्या के मुख से तथा-कथित प्रस-संग्यास का सम्बन्ध दिखाया गया है। सम्झानी होते हुए भी जब व्यवनाश्वि सुकन्या को अपनी भुजा-यास में बद्ध करने के लिए आत्मावृत्त हो पड़े हैं तब हमें यहाँ प्रकृति और संग्यास का अयोव्यावृत्त सम्बन्ध दृष्टिगत होता है।

सुकन्या को जब उबछी की सली चित्रलेपा से उबछी के शाप का ज्ञान होता है, तो वह बड़ी चिन्तित होती है। वह उबछी से कहती है कि मरत न यह बड़ा अयंकर शाप दिया है क्योंकि—

‘कीन भावितो है जो अत्र पुत्र धीरे प्रियतम में  
 कित्ती एक को लेकर मुख से धामु बिता सकती है ?  
 कीन पुराणी तत्र सकती है पति के लिए तनय को  
 कीन जती तत के निमित्त स्वामी को त्याग सरेबी।

इस प्रकार चित्रमेखा-सुकन्या सुकन्या-उबगी एव उर्बन्धी-चित्रमेखा के बीच भरत के साथ भातृत्व तथा धान की कठोरता के विषय में काफी संवाद होगा है। उर्बन्धी इस बात का स्वीकार करती है कि माता यह नहीं है जो पुत्र को जन्म देता है अपितु असली माँ होने में माता बही है जो छाठी से लपककर बच्चे का पालन-पोषण करती है। अतः धाम्यु की माता उर्बन्धी नहीं सुकन्या ही है क्योंकि जन्म देने वाले स पालन वाला बड़ा है।

पुरूरवा के पास जान स पूर्व सुकन्या उबधी स धाम्यु क मन्त्रिण्य क बार में पूछती है। उर्बन्धी अपने स्वयं को पीछे हटाकर सुकन्या को यह पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करता है कि जब तुम उचित समझे तब धाम्यु को उसके दिवा क पास भेज देना। मेरे ऊपर तो जो पहाड़ टूटगा उसे एक म एक दिन तो भेसना ही है क्योंकि अपने पुत्र के सुखसमयी मन्त्रिण्य को मैं अपने सुख के लिए महान मर्त में नहीं जान सकती।

सुकन्या उबधी की बीरब बधाते हुए कहती है कि हे धर्मि ! तुम प्रियान के पास रहकर धानु की चिन्ता मत करना। यह मरी धाँकों का शारा है। इस धावन में मैं बच्चे को किसी प्रकार भी मुंहारा प्रभाव नहीं होने दूगी। अज्ञानता में यह पशु पक्षियों के साथ आत्मबुधक फीड़ा करेगा बड़ा होकर गीलों का खरने जाएगा पन्न-नेदी पर बैठ कर मजादि का उन्मारख करके पवित्र हो जाएगा। अतः —

‘अत्र शास्त्र-निष्ठात धय से बली, विमार्जित मन स  
 जब धम्ना यह धाम्यु पुत्र कदोर प्राप्त कर लेगा  
 पशुंवा दूगी स्वयं इस से जाकर राजमदन में।  
 तब तब का पीयूष पान कर तु मूष्यो मही का  
 चित्त रहित धारक धाम्यु को कोई भास नहीं है।

इस प्रकार धाम्यु को तरफ स निर्दिष्ट होकर उबगी प्रिय के धामिगन में बंधने के लिए राजमदन में जाती जाती है।

### सर्वप्रथम अंक

उर्बन्धी राजा पुरूरवा के पास जाती जाती है। यहाँ धाम्यु हुए उस सामह पक्ष ही पक्ष। एक राज राजा को एक विचित्र स्तन्य भोज्य है। पुरूरवा इस

स्वप्न को देखकर बड़े व्यथ हो उठते हैं। राज-बरबार समाकर इसे अपने महामात्म तथा राज-ज्योतिषी विश्वमता के सामने रहते हैं। स्वप्न यों था—

‘प्रतिष्ठानपुर में काफ़ी घोर मचा हुआ है। पुरवासी कहीं से बट-बटा का गया पीसा जाए है और उसे कच्चे दूध से पूजा रहे है। मैं भी बुद्ध-कमल लेकर उसकी घबराहट-हेतु आता हूँ मगर कोई भी मगर-निवासी मेरी तरफ नहीं देखता। निराशा से भरकर मैं हाथी पर बैठकर प्रतिष्ठानपुर से बाहर किसी जंगल में चला आता हूँ। वन में हाथी से उतर कर मैं जब इधर-उधर देखता हूँ तो इसी बीच हाथी सोप हो जाता है। निर्जन वन में भटकता हुआ मैं अचानक अग्नि के धाभम में पहुँच जाता हूँ। वहाँ मैंने एक ऋषिकुमार को देखा। उसका व्यक्तित्व बड़ा भयम था। उसे अपने धंके में समेट लेने का मैं आकाङ्क्षित हो उठा लेकिन जैसे ही मैंने उसे पकड़ने के लिए अपने कदम बढ़ाए, वैसे ही वह ग जाने किस धंकेकार में घुस गया। फिर मुझे हर सदा-कृष्ण में मरी परम प्रियतमा उर्बशी का मुँह दिखाई देने लगा, मगर जिस तरफ भी स्पष्ट करने के लिए बढ़ता था उसी तरफ वह नुसुम-मानन पुष्प-पत्तों की हरियाली में छिप जाता था। इस प्रकार अकस्मित् घोर मयभीत होकर मैं मयभीतता को छोड़कर उर्ध्वगमन पर पहुँच जाता हूँ और प्रायः धाँधलुगने तक अचर-अचर का ठहरता रहता हूँ।

प्रायः मैं बीठी उबधी इस स्वप्न की सुनकर घबराहट हो जाती है, क्योंकि उसके समस्त सम्पूर्ण पुराबुद्ध विषयों के समान धाँधलों के सामने झुमता हुआ दिखाई देता है। ज्योतिषी विश्वमता धंके-गणना करने के परभाव राजा को प्रसादेष्ट देते हैं कि मेरी मरणा के अनुष्ठान—

प्रायः संख्या तक

धाय प्रवृत्त हो जाए म अपने घोर तनय को

राज-माट वन वाम लीप अपना किरीट पहनाकर।

प्रसादेष्ट देने पर विश्वमता स्वयं अकस्मित् हैं कि जब राजा के कोई पुत्र ही नहीं है तो संख्या तक कौन राजा बनेगा और राजा पुनरुत्था कैसे प्रवृत्त हो जाएँ ?

इसी बीच सुकन्या 'भ्रातृ' को मकर दरबार में उपस्थित हो जाती है और सम्पूर्ण रहस्य का उद्घाटन कर देती है। घाय-बध उर्वशी बरतो को छोड़-मुस्युर में बसी जाती है। पुकरवा उर्वशी को घपन पाछ न पकर बचन ही हो उठता है। सुकन्या भरत-साप की बटमा बठाकर राजा को धान्त करन का प्रयत्न करती है, मगर पुकरवा का विच भघांत हो पाठा है। वह दबपोफ को मस्मीभूत करन के लिए घपन स्यन्दन का उरिबठ करन की धामा बठा है। राजा क इस मर्यकर रीड रूप को धाम्त करने के लिए मविप्यवाली होती है। उस धाम्तमान होता है कि देवता मनुष्य का भण्ड रूप हैं तो क्या तुम धवान्-प्रवृत्ति क डाय घपनी ही भण्ड-प्रवृत्ति का हतन करना न्वाहते हो।

धीर-धीरे पुकरवा का विच प्रतिक्रिया की भावना स धान्त हो पाठा है मगर उर्वशी के बिना हम राजमदन में घपन भापको रक्षण में घसमर्भ देतकर 'भ्रातृ' के मस्तक पर किरीट रक्तकर लक्षण बनों में बपा जाता है।

राजमदन में यह सब कुछ देखते-बसते ही सम्पूख हा गया। जब पुकरवा की रागी धौखीनरी को इस सम्पूख बटन का पता समता है ता वह स्थग्धित हो जाती है। पति का बिना किसी पूबसूचना के सवा न लिए बसा जाना उस बहुत घसरता है मगर गारी की बिबघता को देखकर वह बपारी धाम्त हो जाती है धीर धायु को ही घपने धंन स लगा कर धन्य हो जाता है।

## उर्वशी के प्रमुख पात्र

प्रबन्ध रचना में पात्र मेतद्वय के समान होते हैं। काव्य, कथा, कल्पना और भाषा की सामारणिता इन्हो पर टिका हुई है। पात्र तो एक तैल-विन्धु के समान हैं जो सम्पूर्ण काव्य-सरोवर में छाया रहता है।

पात्र भी कई प्रकार के होते हैं। जस—गायक प्रतिगायक (तलनायक), नायक के सहयोगी पात्र नायिका प्रतिनायिका (जलनायिका) तथा नायिका के सहयोगी पात्र। उपरोक्त सभी पात्रों का प्राथम्य लेकर कथा प्राये बढती है। नायक यथवा नायिका काव्य में आए हुए सभी पात्रों का संचालक होता है।

उर्वशी के प्रमुख पात्र हैं—उर्वशी पुरुरवा चौधीनरी और मुकुन्दा। इनके अतिरिक्त मती सुभचार रेना, मेतका सहजम्पा नरनिका तथा विरवमता का भी अपने-अपने स्थान पर प्रच्छा महत्त्व है। ऋषि क्यवन तथा ऋषि भरत प्रच्छन्न यथवा सूक्ष्म रूप में हमारे सम्मुख आते हैं मगर कवि उनके विषय में जो कुछ भी किसी अन्य पात्र से कहनावा है वह उनके चरित्र-को पुरुरवा स्पष्ट करने में समर्थ है।

प्रमुख पात्रों का मक्षिण परिचय एवं उनकी अतिवगत विद्ययत्ताए प्रकार हैं—

### उर्वशी


उर्वशी इस काव्य की संभाविका कथा का प्राण कवि के मानस में काम की विन्तुल परिभूमि एवं मारी का प्रतीक है।  
पीयाणिक कथाया के आधार पर उर्वशी इन्द्रलोक की अम्बरा ए के बरबार की प्रमुख मर्तनी है। अम्बरा होत के कारण इसका अनुभव एवं धारवती है। यह प्रतिष्ठ महदरी है। यह मन्वतवन क गगर के लिए की स्वकथा मन्व के मन की कलित कामता सिद्ध

के हृदय में राय बगाने वाली देवों के मधुमय क्षीणित में भाव बनाने वाली  
 एति की साकार प्रतिमा रमा का साकार स्वरूप विष्णु की प्रणवरी काम  
 के कर की धारण-विद्या तथा सम्पूर्ण मूलन के प्राणियों की तृप्ता है। कवि  
 के स्वयं उर्बन्धी के मुख से ही उसकी अनुपम सुन्दरता का आस्वादन करवाया  
 है—

पावानों के अनपङ्क धर्मों को काह-छाह  
 में ही निबिड-स्तनता, मुष्टि-मम्पमा  
 मखिर-सोचना काम-सुखिता मारी  
 प्रस्तरावरण कर भंग  
 लोड़ तम को जगत्त उतरती हू ।

इस मखिर-सोचना का प्रेम भावार्थित के प्रभिपति पुरुरवा से हो जाता  
 है। प्रेम की भूमिका क्या थी इसमें पर्याप्त मतभेद है। दिनकर का बयान है  
 कि एक बार उर्बन्धी अपनी सखियों के साथ कुबुर बर से निकल रही थी कि  
 कोई बैरव उसे बाज की तरह झट कर से जाने लगा। उर्बन्धी की चाहि चाहि  
 चुनकर राजा पुरुरवा नहीं था पहुँचा। उसने उर्बन्धी को वैश्य से ही मुरत  
 कर लिया लेकिन स्वयं उसके मधुर प्रेम-पाश में बड़ हो गया। उर्बन्धी भी  
 पुरुरवा को देख कर म्पाभूस हो गई। स्वगमोक में उर्बन्धी को केवल इसी का  
 भ्रान्त रूठा। महर्निघ इसी पुरुष रस में अकस्मिन् रहने के कारण उर्बन्धी  
 को शपि मरण के शाय को बहन करना पड़ा और वह प्रियतम के धंके में  
 भान्म भोग करण के लिए धरती पर आ गई।

चूँकि उर्बन्धी स्वग-भोक की धरती है इसलिए धरती पर आकर उसके  
 हृदय में पुरुष के गाढ़ासिगन में जाने की उरकट अभिभाषा, अपरिमित बाधता  
 इच्छा तथा कामना है। वह त्रिधाप तरु अपने प्रती के मुखपात्र में बंधे  
 एना चाहती है—

बसस्थान पर, इसी भाँति मेरे कपोल रहने दो ।  
 करो रूहो बस इसी भाँति उर-मीड़क धामिपन में  
 और बजाते रूहो धपर-मुट को कठोर  न से ।



इस प्रकार वहाँ वह 'बलु, रसना प्राण स्वक तथा धोन की कामनाओं का प्रतीक है वहाँ वह मानिनी भी है। पुरुरवा के पास वह स्वयं बसो तो भाई ममर इस बात का उसे दुःख बहुत ज्यादा है। उसका सिद्धान्त तो यह है कि पुरुष स्वयं उसके द्वार पर धाये और उसे से जाय। इसी में उसका मोरव है—

वही धर्म जो मानसयी प्रणयी के बाहु बलय में  
जिन्ही नहीं विक्रम तरव पर बड़ी हुई जाती है।

माटी की स्वामाधिक वृत्ति है कि वह बुद्धि की अपेक्षा मावता पर बल देती है। रूप ही उसके लिए सर्वस्व है। वैराग्य प्रबवा बुद्धि उसके सामने हेय है। जब कभी पुरुरवा भावसोक से परे हट कर ज्ञान के उर्ध्वलोक पर बढ़ना चाहता है तभी वह 'रक्त की महिमा का बान बरके उस घटती के शणिक धौन्द्य पर से जाती है —

रक्त बुद्धि से अधिक बली है और अधिक ज्ञानी भी  
क्योंकि बुद्धि लोचनी और शोभित अनुभव करता है।  
निरी बुद्धि की निर्मितियां निर्याच हुया करती हैं  
बिन्न और प्रतिमा इनमें जो जीवन लहराता है  
वह धूमों से कहीं पन्न पापाओं में धाया है  
कलाकार के प्रस्तर के हिलकडोरे हुए बहिर से।

उर्ध्वशी मावता की साकार प्रतिमा है। बुद्धि प्रबवा विराय का नाम पुनकर तो उसकी मूकृति तम जाती है।

उर्ध्वशी प्रकृति की परम पुजारिण है। वास्तविक शाब्दावली में उसकी माग्यता यह है कि मनुष्य प्रेम और संन्यास (परमेवबर) दोनों को प्राप्त कर सकता है। परमेवबर और प्रकृति दोनों जिम्न-भिन्न वस्तुएँ नहीं हैं। ये दोनों प्रतियोगी वा प्रतिबल नहीं हैं और न ही इन दोनों में परस्पर किसी प्रकार की शत्रुता है। दोनों तरय के एक ही तरय पर पहुँचने का प्रयास करते हैं लेकिन संन्यास का मार्ग तो शृपाण को धार के समान जटिल है और प्रहर्ष भयार् प्रेम का मार्ग नवनील के समान कोमल तथा मधुर है। अतः पुत्र्य वाहिए कि प्रकृति से ही नेह लयाकर उस परब्रह्म को प्राप्त करे—

“ जिसे ईश्वर हम सब कहते हैं  
शब्द प्रकृति का नहीं न उसका प्रतियोपी प्रतिबल है

× × ×

ईश्वरीय जग भिन्न नहीं है इस गोबर जगती से  
इसी अपावन में अदृश्य वह पावन बना हुआ है।

× × ×

प्रकृति नहीं माया माया है नाम अनित उस जो का,  
बीचों बीच सप-सी विसकी बिह्वला फटी हुई है  
एक बीज से जो कहती कुछ कुछ अजित करने को  
घौर दूसरी से बाकी का बजन सिसलाठी ह।

× × ×

प्रकृति नित्य आनन्दमयी है जब भी मूल स्वयं को  
हम निसर्ग के किसी रूप (नारी मर या फूलों) से  
एक तान होकर जो जाते हैं समाधि निस्तम में  
जुल जाता है कमल पार अशु की बहुने लगती है  
बैहिक जग को छोड़ कहीं हम घौर पहुंच जाते हैं  
मानो मायावरण एक क्षण मन स उतर गया हो।

उर्वशी जहाँ प्रेम की सच्ची सात्कार प्रतिभा है वहाँ वह सच्च अर्थों में  
गनी भी है। घापकत वह अपने मातृ-रसात्म्य का पासन नहीं कर पाती  
किन बसे उसके भीतर भी मातृत्व की स्वच्छ पीसूप-भारा बहती है। वह  
स्य अस्वराश्यों की तरह नहीं है जो केवल दूसरों को रिम्झ रिम्झ कर मुक्त  
हजार करने वाली है। उर्वशी' मनका क इन व्यर्थों का प्रतिरूप है—

माँ बनते ही प्रिया कहां स कहां पहुंच जाती ह  
गसती है हिमनिस्ता क्षय ह गठन हैह की जोकर  
पर हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर।

उर्वशी द्वारा अपनी उसी चित्रमेधा स कही गई भिन्न पंक्तियां ही उसके  
मातृत्व के अमित रूप को प्रतिभासित करने में समर्थ हैं—

केवल भ्रूच-बहुन केवल प्रजनन मातृत्व नहीं है  
माता वही पालती है जो भित्तु को हुबय लगा कर ।

इस प्रकार कवि दिनकर ने अम्बरी उर्बशी को केवल मन्दिर-तोषणा तक ही समित नहीं रखा अतिसु उसमें पत्नी बर्भ मातृत्व एवं गृहिणी के गुणों का धारमसात करके उसे उर्बशी सुन्दरी बनाकर कविता के साथ में बासा है ।

पुकरवा

बेचों एवं पुकारों के आचार पर पु रवा अर्थात् का अधिपति वा ।  
प्रतिष्ठानपुर इनकी राजधानी थी । इसका पुत्र होने के कारण इसे इला  
पुत्र तथा इनके बंधु को ऐसबध के नाम से पुकारा गया—

“इलापुत्र” से पुकर वरों में नमस्कार करता हू ।”

× × ×  
बेचि ! दिव्य यह ऐसबध क्या थाय नहीं बसेवा ?

इलापुत्र पुकरवा पुत्र का प्रतीक है । दिनकर की की दृष्टि में तो पुकरवा सनातन नर का प्रतीक है धीर उर्बशी सनातन भारी का । पुकरवा शब्द का अर्थ है बहु व्यक्ति जो माना प्रजा का रय करे माता धर्मियों से आच्छान्त हो । पुकरवा शब्द इस स्पष्ट गम्भ धीर शब्द से मिलने वाले सुबों से उद्भूत (होने वाले) मनुष्य (का प्रतीक है) । पुकरवा इन्द्र में है क्योंकि इन्द्र में रहना मनुष्य का स्वभाव है । मनुष्य सुख की कामना भी करता है धीर उर्बसे थाय निकलने का प्रयास भी ।

उल्लेख में देखा थाय तो पुकरवा की यही अरिचगठ विद्येपठाएँ हैं जो दिनकर की ने अपनी बुद्धि में व्यक्त करती हैं । फिर भी उर्बका विस्तृत उल्लेख अनेकित है ।

पुकरवा नर पु गम्भ है । उसके शरीरिक एवं मानसिक हीन्दर्ष का अत्यन्त सशक्त वर्तन सबी निबन्धिका न धीरानरी के उन्मुख किया है—

‘कातिकेय तम सुर देवताओं के सुक-तम आपो  
रक्षि-सम वैजवन्त सुरपति के तद्वत् प्रतापी मानी  
बबह-सबभ-संप्रहो ध्योबबत-मुबत अलब निम रयागी  
कुमुम-तद्वत् मपुमय मनोस, कतुमापुब-से धनुरामी ।

## जर्बती के प्रमुख पात्र

पुकरवा को स्वयं भी अपने सौन्दर्य शक्ति एवं तेज का ज्ञान है। प्रास्ताविक करना मनुष्य को एक निर्योपता होती है जिस कवि ने पुकरवा के मुँह से जर्बती के सम्मुख कहसबाया है—

‘यह शिला-सा बस ये सट्टाम-सी मेरी मुझए  
सूर्य के आसोक से बीपित समन्त भाल  
मेरे प्राय का सागर धाम जतात जहलस हूँ।  
सायने टिकते नहीं बजरान पबत डोलते हूँ,  
कांपता ह कुँडसी मारे समय का ध्यान  
मेरी बाँह में भारत गड्ड मजरान का बस ह।  
मर्त्य मानव की विजय का दूय हूँ मैं।  
जर्बती ! अपने समय का सूर्य हूँ मैं।  
धम्य तम के भाल पर पावक बसाता हूँ  
बारलों क सोस पर स्पम्भन बलाता ह।’

परलु जो पुरय जिगता धमिक तेजरबी मकितागामी हावा है जिगकी पमनियों में जिगता धमिक तीप्रपति से रज प्रबाहित होता है धीर जो सिह से बाँहें भिनाकर खेल सगता है बहु दूय के सान मारी के गामने उठता ही धमिक विवय एवं निरपाम हा जाता है। मरनिका के शर्यों में—  
धम्य धनाय धीर नर जो धमप्रतिम तेज बस धारी  
धम्य धनाय धीर नर जो धमप्रतिम तेज बस धारी

पुकरवा जैसा धीर भी निरिमस्मिता का मठा क समान कोमलायी मारी जर्बती के प्रामु भास में बड हो जाता है। पुकरवा के पहल भी एक पत्नी है जिसका नाम धौपीनरी है। धौपीनरी पतिव्रता स्त्री है। जमन धपना सब कछ धपने पति को समर्पण क्य दिया। ममर पुरय का यह स्वभाव है कि जो बस्तु उसे एक बार पूण रूप से प्राप्त हो जाती है उसके प्रति वह बिरस ले जाता है धीर बहु नयी बस्तु की खोज में रत रहता है। पुरय की इसी चोपडा का बर्णन कवि ने पुकरवा के चरित्र में किया है।

बद में घायी हुई वस्तु से इन्को तोप नहीं है  
भीत लिया जिसको उल्ले चापे समुप नहीं है

× × ×

नयी सिद्धि कृत नित्य नया संघर्ष चाहता है नर  
नया स्वाद नव जय नित नवन हर्ष चाहता है नर ।

× × ×

प्रोषा में झुलते कुमुद नर प्रीति नहीं जयती है ।  
जो पर पर पड़ गई आँसुनी कौली वह मगती है ।

लेकिन—

प्रियतम को रख सके विमग्निजत जो अतृप्ति के रस में  
पुरुष बड़े सुख से रहता है उस प्रमदा के बदन में ।

जब तक पुरूषवा जो उर्बशी का घामियन नहीं मिला तब तक वह उसके  
हाथ का लीला कमल बना रहता है मगर जैसे ही वह उर्बशी के प्रेम-रस का  
पान कर लेता है जैसे ही उसका मन उर्बशी से बिरत होकर विवेक ज्ञान  
उर्ध्व-लोक तथा संन्यास की दिशा में अग्रसर होने लगता है ।

इस प्रकार पुरूषवा के हृदय में संघर्ष एवं अस्तर्ग्य का उदय है । कभी  
वह भावना के बस पर गारी के शीर्ष्य पर मर मिटना चाहता है—

मे तुम्हारे बाज का बीजा हुआ जय  
बल पर धर सोल मरना चाहता हू ।  
मे तुम्हारे हाथ का लीला कमल हू  
प्राण के मर में पतरना चाहता हूँ ।

श्रीर कवी—

‘रक्त की उत्पन्न लहरों का परिधि के पार  
कोई सत्य ही तो  
चाहता हूँ, जेह उल्लेका जाम नू  
पम्ब हो लीलायें की घाराबना का ध्योम में परि  
धूम्य की उस रैख को पहचान सूँ ।’

इन मुख्य विशेषताओं के साथ-साथ उर्बेरी में पुकरवा की कुछ अन्य विशेषताएँ भी मिलती हैं जैसे—

(क) पुकरवा पत्नीघटी न होकर प्रेमी है। अपनी महारानी का उसे बुराई स्वात नहीं। इतना भाव्य राजा होकर भी जब वह उर्बेरी को लेकर सम्भारन पर्व पर जाता जाता है तो बहू से संतियों के हाम भूख सविष तक चियवाने में भी नहीं हिचकिचाता—

करती रहें प्रार्थना बुटि हो नहीं मम साधन में  
जहाँ रहूँ मैं भी रत हूँ ईश्वर के प्रारामन में।

(ख) पुकरवा एक धार्तर राजा है अपनी वृष्णा की वृष्टि के लिए अपने कभी भी दूसरे देश की सीमाओं का धतिक्रमण नहीं किया। वह सदा अपने ही देश की समृद्धि का धार्कामी रहा है—

नहीं बढ़ाया कभी हाथ पर के स्वाधोन मुकुट पर  
न तो किया संघर्ष कभी पर की बसुपा हुनै की।

(ग) पुकरवा उर्बेरी का सच्चा प्रेमी है। अपने उर्बेरी में ही ईश्वर के रूप की देख लिया है। यद्यपि उसके प्रभाव को वह सहन नहीं कर सकता। जब सुकन्या के हाथ उसे यह बात बोला है कि उर्बेरी देवसोक में बसी गई तो उस समय रोत्र रस-पूर्ण कहे गए उसके चन्द दर्शनीय हैं। धार्कामाली के हाथ उसके चित्त की रोद्रता तो मने ही धान्य हो जाती है मगर वह राजमहस फिर भी उसे जाने को धाता है। यद्यपि तत्क्षण राजभवन का स्वाग करके वह संग्राम धारण कर लेता है।

घोडीनरी

घोडीनरी महाराज पुकरवा की महारानी है। दिनकर भी ने घोडीनरी के रूप में ऐसी नारी का चित्रण किया है जो पति को सब कुछ देकर भी बुझी रहती है। उस पर संकटों का पहान नवों में टूट पड़े लेकिन कभी उफ तक नहीं करती, भगने पति को कुमार्य पर जाते देख कभी मूक नहीं लोमती और धीन धारण किए रहती है। संघर्ष में घोडीनरी के व्यक्तित्व की निम्न विशेषताएँ हैं—

(क) धौंधीनरी पतिव्रता स्त्री है। पति की आज्ञा मानना ही पतिव्रता स्त्री का धर्म है। धौंधीनरी भी अपने पति के एक-एक संकेत पर अपना जीवन तक बलिदान कर सकती है। उसे पता है कि पति मुझसे विमुख होकर उबकी के साथ सम्बन्धनावन पर्यंत चले गए हैं। वह मरना चाहती है, मगर संतियों के साथ धौंधीनरी को समाचार मिलता है कि अपने बर्ष हम सौटकर पुनर्विवाह करेंगे अतः ईश्वर की पूजा-साधना में लगी रहें। धौंधीनरी इस आज्ञा को तुरन्त विरोधार्थ करती है। ऐसे समय में धौंधीनरी जैसी गृहिणियों को विषयता दर्शनीय है—

हाथ भरतक तक जीकर मुझको हानाहान पीना है।

(ख) नारी बड़ी धरहाय है। वह अपने बुरा को जवान पर माने में भी असमर्थ है। पुरुष बड़े से बड़ा पाप करे तो भी कुछ नहीं मगर नारी यदि उठ भी करे तो उसे कुलध्वनी का समाना मिल जाता है। अपनी धरहायता का बहाना करते हुए धौंधीनरी कहती है—

'अथलम्ब है सबको मगर, नारी बहुत धरहाय है।

बुरा बर्ष अतसाधो नहीं

मन की धरहा गाधो नहीं

नारी। उठ जो हूक मन में जीव पर साधो नहीं।

(ग) पति के द्वारा इतनी पीड़ित किए जाने पर भी धौंधीनरी अपने पति की मंगल-कामना करती है। वह माग्यवादी है। अपने ही भाग्य में हीप मानकर चसती है। अतएव पति की मंगल-कामना के लिए अन्नमा की पूजा करती है और अन्नो दिनों की प्रतीक्षा करती है—

कुल-नामा क्या करे किन्तु जब यह विपत्ति आ जाए ?

प्रिय की प्रीति हेतु रानी कोई प्रत साध रही है

सुना आजकल अन्न-बैधता की धाराध रही है।

×

>

×

'तब भी नरत अनुकूल हों

मुझको निजों की दुःख हों

प्रियतम बहो भी हों बिछे सर्वत्र पथ में कुल हों।"

(ब) श्रीसीतरी बरसमहदया है। यह जानते हुए कि 'घामु' उस उर्बेरी का जामा है जिसमें मेरे बसे हुए भर को उजाड़ कर ग्य़ दिया। वह उसे अपनी छाठी से लगाने के लिए बेचन है। एक घावसे घृहिणी की माति ममत्व उसमें कूट-कूट कर गया है।

'घा बडा ! नु बुडा प्राप छाती से तुम्ह सपाकर ।

× × ×

बिता गए जन, किन्तु, घरे पाता तो यहीं काड़ी है।

बडा धन भी हो घनाप नरनाप नहीं ऐनों का।

तुम्ह प्यस्त बालसत्य सुधा रौ भे भी पसी समुत से।

बिना बुटाये कोष ह्याय । घाबीजन भरो रही हूँ।

(क) श्रीसीतरी का आधार मकर कवि न घृहिणी जारी का जोबत बिज जीवने के लिए कुछ सुविधयां परिचय की हूँ जो सचमुच उनके जीवन का बीता-जायता बिज हूँ—

'रूप छोड़ बिजि ने तिरजा क्या और भाव मारी का ?

× × ×

'बामी का बर्बस्व रजत हूँ किन्तु भोज बचन हूँ।

पर, क्या मिसल, घल से जाकर मुझको इस बचन से।

× × ×

'मारी किया नहीं बहु केबस समा लागि कइया हूँ।

× × ×

'घोर बेजि ! त्रिन बिजय मुषों को मानबता करते हूँ,

उससे भी घावधिक निरन्ध नर नहीं मात्र मारी हूँ। घाबि।

सुकन्या

सुकन्या अथवा कृपि की परंपरानी है। कवि ने इसके परिचय का बड़े धारण रूप में व्याख्यान किया है। एक राजा को कन्या हाते हुए भी उसके बिचारों में किसी प्रकार का झूठ नहीं है। वह साम्प्रतिक प्रेम की पुजारी है। अपने काहुती सी-बम की प्रकृता सुनकर वह मुग्ध नहीं होती उस लो प्रेम की पीठपी प्योति काहुए जिसे महवि अथवा न पहाजाना का—



सबको जया, मौझिनी ली मुझमें कुछ नरी हुई है  
 पर यह सम्मोहन तरय घाती है उमड़ जहाँ से ।  
 नीतर के उस महासिन्धु तक किसकी वृष्टि गई है ।  
 देखा उसे महर्षि ब्यवन ने और सुप्त महिमा को ।  
 जया बिया प्रयास मुक्त, निरुत्स प्रसस्ति बहु नाकर  
 'हरि प्रसन्न यदि नहीं' सिद्धि बनकर तुम क्यों आई हो ।

मुकग्या अप्रतिम सुन्दरी है । समाधि भग हो जाने के उपरान्त ब्यवन जब मुकग्या को देखते हैं तो उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाते हैं और उसके समुपम सौन्दर्य का वर्णन किए बिना नहीं रहते—

सुर-कुल की सुधि प्रभा या कि माधव-कुल की तनया हो ।  
 कहां निजा यह रूप देखते ही जिसकी पावक की ।  
 बाहकता मिट गई, स्वाधु से पत्ते निकल रहे हैं ।

मुकग्या पतिव्रता नारी है । अपने पति के पक्षिन्हों पर अपना बहु अपना धर्म समझती है । पति की उपस्था कष्टना समा तथा उद्यरता—सभी उसमें कूट-कूट कर मरी हुई है । धरखावत की रक्षा करना एवं अतिथि का आदर मान करना अपना परम पुनीत कर्तव्य समझती है । उबंती पुत्र-प्रजनन के लिए मुकग्या की धरण में घाती है । मुकग्या उसे सिर-माये पर रखती है एवं उसकी चिन्ता को अपनी चिन्ता समझती है ।

बहु कर्तव्य-निष्ठ भी है । धायु का पालन-नोपण करके उसे राजा के पास पहुँचाने का काम-भार बहु अपने सिर पर नै लेती है—

'अस्त्र-शास्त्र-निष्णात धर्म से बसी, विमाहित मन से  
 जब अपना यह धायु पूर्ण कंधोर प्राप्त कर सेवा  
 पहुँचा दूती स्वयं इसे ले जाकर राजभवन में ।

मुकग्या वास्तव्य रत्न की शोचस्विनी धारा है । धायु को देखकर बतके हृदय में भी ममता का उदय हो जाता है । वह जानते हुए कि यह मेरा पुत्र नहीं है और न ही इसे मेरे पास रहना है, वह उसे अपने माँस में छिपाकर रखना चाहती है और उसे अपना मून्ना समझकर उसकी बीमारियों की कल्पना करती है—

बुद्धों के बल बौद्ध-बौद्ध मेरा मुला पकड़गा  
कभी हरिण के कान कभी उँगे कपोत-कैकी के ।

सुकन्या राय रूप से परे उदारचरित्त नारी है । उसके पुण्य छीस स्वभाव  
के सामने चौधौगरी भी अपने पति के वियोग को घूस जाती है । दु-खी नारी  
के दु-ख का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना उसे भाडा है । नीचे की से चार  
पंक्तियाँ देखिए जिन्होंने चौधौगरी के दग्ध मन के लिए दीवस वन का  
काम किया—

“कहते हैं जिसने विरवा या हमें प्रकाश बुद्ध या  
इसीलिए, जतने प्रकृति भर न हो स्वल्प-हरण की ।  
और नारियों की विरवा जतने कुछ इस कौशल से  
हम हो जाती हैं कतारें अपने प्रविष्टार संवा कर ।

इस प्रकार, सुकन्या एक भावार्थ नारी का प्रतीक है । ऐसी नारी की  
बाहर प्रत्येक पुरुष अपने आपको भग्य समझता ।



## उर्वशी की ऐतिहासिकता

काव्य-सृष्टि के दो मूलाधार हैं—कल्पना और इतिहास। कल्पना-काम्य काव्य में कवि अपनी ही कल्पना से काव्य की कथावस्तु और उसके पात्रों का निर्माण करता है। इसमें तब केवल इतना होता है कि उस काल्पनिक कथावस्तु और उन पात्रों के द्वारा कवि जिस निष्कर्ष का प्रतिपादन करता है वह मनोवैज्ञानिक होने के कारण सत्य होता है। काव्य का यह सत्य वास्तव और सरस होता है। वहीं काव्य और इतिहास के मध्य बहुरी विजायक रेखा खींचता है।

इतिहास तब घटनाओं का संप्रतिष्ठ सेना-जोटा होता है। वह नीरस और धर्मोवैज्ञानिक भी हो सकता है। इतिहासकार काव्यकार की भाँति घटनाओं की तरह में बसकर उनका विश्लेषण नहीं करता केवल व्योरेवार घटनाओं का म्योरा देना चाहता है। उसके फल और परिणति से उसका कोई संबंध नहीं होता। यही कारण है कि इतिहास को असत्य और काव्य को सत्य माना गया है और इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर एक प्रामोचक ने लिखा है कि इतिहास में सब कुछ सभार्य होते हुए भी वह असत्य है और कथा-साहित्य में सब कुछ काल्पनिक होते हुए भी वह सत्य है। इसका तात्पर्य यही है कि साहित्य में जो सत्य धर्म और सुन्दर की योजना होनी है उसका इतिहास में समाव होता है अर्थात् मानव-मन को बाह्य क्रियाओं की प्रवेष्टा उसकी धान्तरिक क्रियाएँ सत्य होती हैं। काव्य इसी सत्य का प्रतिपादन करता है।

ऐतिहासिक काव्य इतिहास और कल्पना का मञ्जुम समन्वय होता है। ऐतिहासिक काव्यकार अपनी कथावस्तु और अपने पात्र तो निश्चय ही इतिहास से ग्रहण करता है किन्तु वह इतिहास की धीक पर धँसा होकर नहीं बसता बल्कि अपनी मधुर कल्पना का पुट देकर ऐतिहासिक घटनाओं को सरस और

पारंपरिक बनाकर एक शासन मध्य का उद्घाटन करना है—बहु मध्य जो पाठकों के साथ यात्राओं के रूप में व्यवहार्य मन्त्री प्रभाव करता है। यहाँ पर यह बात इना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि यद्यपि कायकार को ऐतिहासिक काय-रचना करने समय अपनी रचना का प्रभाव करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होगा है तथापि उसकी यह स्वतन्त्रता भी इतिहास की सीमाओं में बाधित होगी है। दूसरे पक्षों में यह सत्य है कि ऐतिहासिक कायकार को इतिहास की प्रत्येक रचनाओं का विस्तार करने का विस्तार भी अधिकारी नहीं होता। यदि वह ऐसा करता तो उसके कार्य का प्रभाव इतिहास के आन्तरिक प्रभाव में इतिहास ने जो गृही रमाये थी वह ही है वे सत्य ही नहीं निगूह या सचती। इसीलिए ऐतिहासिक कायकार अपनी रचना का प्रभाव या ता प्रभाव ऐतिहासिक रचनाओं की कड़ी मोड़ने के लिए करता है या छोटी-छोटी ऐतिहासिक रचनाओं को अपनी कृत्य इन लेने के लिए और अन्य प्रतिपाद की प्रवृत्तियाँ बढ़ाने के लिए।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि किसी भी ऐतिहासिक काय म को तब प्रतिपाद विद्यमान हात है—ऐतिहासिक तब और रचना-तब। इस द्विती ऐतिहासिक काय का ऐतिहासिक विचारों से विवेचन करने समय इन दो तत्वों के प्रतिष्ठित यह भी परचना हाता है कि कायकार का रचना-तब काय का प्रभाव-रचना में किन माना तब कायक व्यवसाय कायक विद्य होता है।

उपरोक्त निष्कर्ष ऐतिहासिक मरी दरन् प्रवृत्तियाँ ऐतिहासिक रचनाओं पर कायक काय-रचना है। इसकी ऐतिहासिकता का विवेचन उपरोक्त पाठकों पर करना भी उचित और आवश्यक है।

ऐतिहासिक-तत्व—किसी काल की दृष्टि में उबरी के ऐतिहासिक तत्वों को या कर्तों के अन्तर्गत रखा जा सकता है—काल-तब और तब।

काल-तब—उबरी में कालगत परचना और उबरी की उबरी का विचार

है। इसमें उर्बशी नहीं कि यह कथा भारतीय इतिहास में भादिकास से ही मिलती है। सर्वप्रथम ऋग्वेद में इसका उल्लेख प्राप्त होता है—

‘पुकरवा ! पुनरस्तं परैहि  
पुरावता वात इवाह्वयस्मि ।

अर्थात् हे पुकरवा ! तुम अपने घर लौट जाओ। मैं वातु के समान बुझाया हूँ। इस सूक्त से यह भली भाँति ज्ञात हो जाता है कि उर्बशी पुकरवा को छोड़कर यही यही श्री महापुत्र पुकरवा विरहोन्मत्त होकर उसकी लौक्य कर रहे थे इसके परवात् ऋग्वेद में यह कथा प्रागे भी चलती है जिसमें बताया गया है कि जब उर्बशी पुकरवा को मिली तो वह गर्भवती भी इसलिये उसने महाराज पुकरवा के साथ रहना प्रस्वीकार कर दिया।

इसके परवात् तो अनेक भारतीय जनों में इस कथा का भिन्न भिन्न प्रकार से उल्लेख मिलता है। अतएव ब्राह्मण में बताया गया है कि महाराज पुकरवा से उर्बशी को छ पुत्र उत्पन्न प्राप्त हुए। इन पुत्रों में सबसे बड़ पुत्र का नाम यामु था।

कहने का भाव यह है कि उर्बशी-पुकरवा-याक्यास ऋग्वेद से भाविर्भूत हो कर परवर्ती युगों में अपने भिन्न-भिन्न रूपों में याक्यासिड होता रहा किन्तु इसकी ऐतिहासिकता अथवा प्रागैतिहासिकता अर्थात् प्रसिद्ध है इसमें दो मत नहीं हो सकते।

‘उर्बशी’ का प्रतिपाद्य काम है। मानव-मत की यह भावना इतनी महत्त्वपूर्ण है कि इसका रूप भी ऐतिहासिक बन गया है। सर्वप्रथम इसका उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है—

‘काम तरथ समवर्त्तताभि-’

इसके परवात् तो अनेक पुराणों ने और धारकों ने इसका सूत्र विवेचन किया—

- १ काममय एवार्थं पुत्र्यः ।
- २ आत्मन्मममृतं विध्यं परं बहू तनुष्यने ।  
परमात्मैति चाप्युक्तं विकाराः कावत्तविका ।
- ३ अकामस्य विद्या काचिद् बुद्धयते तेह कर्तुवित् ।

- ४ वं धर्मार्थविमुक्तिकामा मज्जन्त इच्छां गतिमान्नुवन्ति ।
- ५ धर्मादर्थं धर्मतः काम कामाद् धर्मकमोदय ।
- ६ यथा पुण्यफलं काष्ठात् काम धर्मार्थयो वर ।
- ७ काम कृतुम धनु-साबकं लीगहे, सकलं सुवनं अयमे वसत कीर्तौ ।  
नोहं न धान्यं कीर्तुं केहिं केही को जग काम मन्वाय न बोद्धी ।
- ८ नै काम रहा सहचर उनका  
उनके बिनाइ का सामन या ।  
हँसता वा धीर हँसाता या  
उनका नै कृतिगय बीजन या ।

इन कतिपय उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय साहित्य में काम के स्वयं का विकास भी ऐतिहासिक क्रम के अनुसार रहा है, धर्मार्थ काम का प्रतिपादन भी ऐतिहासिक है। यद्यत् कहा जा सकता है कि इतिहास उर्बंती की केशन कथा का ही आधार नहीं बरम् इसका प्रतिपादन भी ऐतिहासिक है।

वाच—उर्बंती के प्रमुख वाच हैं उर्बंती पुनरुवा अथवा ऋषि तुकम्पा वायु धौदीनयी मेनका धोर अन्त सन्धिर्वा । ये सब वाच ऐतिहासिक हैं। इनमें से भी उर्बंती, पुनरुवा अथवा ऋषि तुकम्पा धोर वायु विद्वेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यद्यत् नहीं इनकी ही ऐतिहासिकता पर सन्धिप्य प्रकाश शम्भना अपेक्षित है।

१ उर्बंती—इसमें सम्येह नहीं कि ऋग्वेद में ही उर्बंती का धाविर्भाव हो गया वा किन्तु उर्बंती की उत्पत्ति किस प्रकार हुई इस विषय में निर्दिष्ट रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इसकी उत्पत्ति के विषय में दो मत प्रचलित हैं। एक मत तो यह है कि जब देव धीर वसुरी ने मिमकर समुद्र मंथन किया था, तो उससे जो अमृतपत्र निकली थी, उर्बंती व उर्बंती थी। दूसरा मत यह है कि इसकी उत्पत्ति नागधरा ऋषि की उरु से हुई। इस मत से सम्बंधित कथा इस प्रकार है कि एक बार नागधरा ऋषि ने चोर तप करना आरम्भ कर दिया। उनके तप को देखकर द्युत को यह भय हुआ कि यदि नागधरा ऋषि की तपस्या पूर्ण हो गई तो वे उसके दग्धासन को जीव

भी इतना विविधाद कहा जा सकता है कि पुकरवा और इनका प्रेमास्वांग ऐतिहासिक है।

महर्षि अश्विन और उनकी पत्नी भी ऐतिहासिक पात्र हैं। ऋग्वेद में अश्विन और धृतिवनीकुमारों का उल्लेख मिलता है। महाभारत के अनुसार अश्विन की माता का नाम फलोमा और पिता का नाम भृशु था। हिम्बीकवाकोप में इनका विवरण इस प्रकार दिया हुआ है—

‘कहा जाता है कि जब इनकी (अश्विन की) माता गर्भवती थी तभी एक रासस उन्हें से माया। मार्ग में भय से इनका गर्भपात हो गया। ब्रवीशूत हो रासस ने उनको सद्यः जन्म पुत्र के साथ बसे जाने की आज्ञा दे दी। उसी पुत्र का नाम अश्विन हुआ। अश्विन बहुत बड़े ऋषि हो गये हैं। एक बार गर्भदा-वृष्ट पर जोर तपस्मा करते हुए ये बृहत् विनों तक समापित्व रहे। इनके धारे धरीर को बीमकों में डक लिया केवल धाँसों ही चमकती रहीं। उनके इस भावम में एक बार धर्मति की कन्या सुकन्या पहुँची और इनकी धाँसों को चुपनू समझकर सोच बिया जिससे धाँसों से रक्त बहने लपा। राधा धर्मति खमा मानने आय, पर स्त्री-रूप में सुकन्या को देने पर ही अश्विन समा करने की प्रस्तुत हुए।

धामु भी ऐतिहासिक पात्र है। पुराणों में बताया गया है कि महाराज पुकरवा से उर्बशी को छः पुत्र रत्नों की प्रति हुई जिनमें सबसे बड़े पुत्र का नाम धामु था। इसके अतिरिक्त औसीनरी मेनका तथा अन्य सखियाँ भी ऐसे पात्र हैं जिनका उल्लेख भारतीय साहित्य में मिल जाता है।

इस संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उर्बशी का आख्यायक और इसके पात्र ऐतिहासिक हैं।

#### कल्पना-तत्व

पहिले कहा जा चुका है कि किसी भी एतहासिक काव्य में कल्पना का निम्नलिखित अवश्य होता है। कल्पना के विवरण में दो तत्व काय करते हैं—प्रतिपाद्य की प्रभाव प्रकल्पना और कवि पर अपने पुत्र का प्रभाव। उर्बशी में भी कवि ने ध्येक घटनाओं को हेर-फेर करके प्रस्तुत किया है। यह हेर-फेर कुछ तो पूर्ववर्ती साहित्य में ही हो चुका था जिसे

कवि ने ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है और कुछ युगागुण्य अपनी कल्पना का संवल लिया है । किन्तु यह संवल कवि को बहुत ही कम सेना पड़ा है ।

उबधी और पुरूरवा का प्रेम किस प्रकार हुआ, इस विषय में कथाकोप न उद्धरण देकर यह बताया जा चुका है कि इन्द्र की सभा में नाचते हुए उबधी महाराज पुरूरवा पर मुग्ध हो गई थी । उर्वशीकार न इस घटना को इस रूप में स्वीकार (न करके उस रूप में स्वीकार) किया है जिसमें कविकृत बुध कामिदास स्वीकार कर चुके थे— 'अपौरु एक राक्षस से महाराज का उर्वशी को बचाना और तब उर्वशी का उन पर मुग्ध होना—

‘ पुकार सुनी हमारी एक राजा ने  
 हीड़ पड़ बे सबय उर्वशी को अद्विज बचाने ।  
 और जहाँ नरबीर नृपति के पौरुष से मुजबल से  
 मुबल हुई उर्वशी हमारी उस दिन काम-कवल से ।

इस प्रकार की घटना की स्वीकृति से काव्य का प्रभाव अधिक सबल और मनोबैज्ञानिक हो गया है । छाप ही नारी में पुरुष के पौरुष के प्रति जो सुदृढ़ प्रेम होता है उसकी अभिव्यक्ति के कारण उर्वशी के चरित्र में अपेक्षाकृत अधिक निर्धार आ गया है ।

हिन्दी-कथाकोप में बताया गया है कि उबधी न अपनी ही कुछ ऐसी पत्नी रखी थीं जिनके कारण उसे महाराज पुरूरवा का परिस्माप करना पड़ा । शिन्दर ने इस घटना को न अपनाकर पदमपूराण की उस घटना को अपनाया है जिसमें नरु के घात का उस्साव दिया गया है—

बिस्मृताऽभिनयं सख मयुरातन बेदितम्,  
 शत्राम भरत कोपाद्विपोमात्तस्य भूतले ।

इस घटना न उबधी के नारी-रूप का अधिक महत्ता और स्वाभाविकता प्राप्त हुई है । बेबल पत्नी का बन्धन रखन पर उबधी अग्य अन्धराशों की उस परिधि से बाहर नहीं निकल सकती थी जो प्रेम का कबल एक तिलबाड़ समझती है । समर्पण को एक प्रकार का मुक्कर देल मानती है । भरत-घाप



की घटना का ग्रहण करने से एक ठो उर्बची के परी-रूप में निहार धा गया है और दूसरे उतका माता-रूप भी व्यापक बन पड़ा है। भाव को सुकन्या की गोद में बैठे समय उर्बची का समस्त मातृत्व उबल पड़ता है—

घपना मुझ तुणवत् नमष्य है उसे छोड़ सकती हूँ।

किन्तु, पुत्र का माध्य भूमि पर रह कैसे कोईूनी।'

महर्षि अथवा और सुकन्या की कथा में भी कवि ने कल्पना का प्रयोग किया है। कथाकोप में बताया गया है कि वसे महर्षि ने उनके पिता से माया। इस घटना में महर्षि का चरित्र कुछ भूमित बन जाता है। दिनकर ने इस घटना को भी रूप दिया है। उससे महर्षि अथवा का चरित्र बहुत अंधा उठ जाता है। साथ ही क्रम का स्वरूप भी उदात्त बन जाता है।

घट कह सकते हैं कि 'उर्बची' में इतिहास और कल्पना का समुद्र एवं प्रभावक सामंजस्य है। यदि पूर्ववर्ती साहित्य एवं कवियों की कल्पना-जग्य घटनाओं को भी ऐतिहासिक मान लिया जाने तो यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि कवि दिनकर को इस अर्थ में अपनी कल्पना से घटना-प्रसूत करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी है। इनकी कल्पना की महत्ता ठो केवल विविध रूपों में से किसी एक रूप का चयन करने में ही निहित रही है। कल्पना का यह ध्येय भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

## उर्वशी का काव्यरूप

प्राबुनिक हिन्दी-साहित्य संस्कृत-काव्य-शास्त्र और परचाय काव्य-शास्त्र दोनों से पूणतः प्रभावित है। इसमें वहाँ एक ओर संस्कृत-काव्य-शास्त्र के नियमों का रुढ़िबद्ध पालन परिलक्षित होता है वहाँ दूसरी ओर पारचाय प्रथा के धपवा प्रणता की स्वच्छन्दता के कारण रुढ़िमुक्त प्रवृत्ति भी दिखाई देती है। फलतः प्राबुनिक हिन्दी-साहित्य की कृति भी कृति का काव्यरूप विवेचित करने के लिए इन दोनों दृष्टियों से विचार करना उपयुक्त ही नहीं, अनिवार्य भी है।

### रुढ़िबद्ध काव्यरूप

रुढ़िबद्ध काव्यरूप से तात्पर्य काव्य के उस वर्गीकरण से है जो संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य को पुरुष का रूप राजशेखर द्वारा दशौं शताब्दी में ही दिया जा चुका था—

‘तैव सारस्वतेयो बुधीयतामपि बन्धः काव्यपुरुष प्रसीत ।

सम्भवतः इसी रूपक के कारण काव्य के वर्गीकरण के दो आधार निर्दिष्ट हुए—

१. इमलीयता का आधार इस आधार पर काव्य की भासा का विवेचन हुआ ।

२. स्वरूप धपवा बंध का आधार इस आधार पर काव्य के शरीर का विवेचन हुआ ।

इमलीयता के आधार पर काव्य के तीन भेद किये गये—ध्वनिकाव्य या उत्तम काव्य, पुरलीभूत काव्य या मध्यम काव्य, बिन्नकाव्य या धपम काव्य । पठितपत्र बयन्माप में एक चौथा भेद—उत्तमोत्तम काव्य—और नामा किन्तु यह प्रचलित न हो सका । फलतः अनर्मुक्त तीन भेदों को ही भाग्यता मिली ।

स्वरूप प्रबन्धों के आधार पर काव्य को दो भेद किये गये—पद्य काव्य और वृत्त काव्य । पद्यकाव्य तीन भागों में बांटा गया—पद्यकाव्य, वीर वन्द्यकाव्य । प्रबन्ध की दृष्टि से पद्यकाव्य के दो रूप किये गये—प्रबन्ध काव्य और मुक्तक काव्य । विस्तार की दृष्टि से प्रबन्धकाव्य को दो भागों में विभाजित किया गया—महाकाव्य और संक्षेप काव्य ।

वृत्त काव्य के इस भेद किये गये—नाटक प्रकरण भाग व्यायोग समबन्ध, दिन ईहामुन, धंष्ट नीची और प्रहसन ।

वृत्तमुक्त काव्यरूप

वृत्तमुक्त काव्यरूप से तात्पर्य हिन्दी-साहित्य के उन काव्य रूपों से है जिनमें पारंपारिक काव्य-धारण के प्रभाव प्रबन्ध प्रकृति की स्वच्छन्द प्रकृति के कारण वृत्त काव्यरूपों का नियमता परिपालन नहीं मिलता । हिन्दी साहित्य में प्रचलित वृत्तमुक्त काव्यरूपों में नाट्यारमक स्वातन्त्र्य प्रधान और धारण प्रधान में तीन भेद प्रमुख हैं । नाट्यारमक काव्यरूप के प्रमुख भेद हैं— नाट्य महाकाव्य और गीतनाट्य ।

इन काव्य रूपों में से उर्बरी किसे धरतयत आती है ? इस प्रश्न के उत्तर में चार रूपों की सम्भावना होती है—महाकाव्य नाटक नाट्यमहाकाव्य और गीतनाट्य । इन सजावित रूपों में से किसी एक रूप को स्थिर करने के लिये यह आवश्यक है कि इन रूपों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया जाये ।

महाकाव्य का स्वरूप

संस्कृत-महाकाव्य में सर्वप्रथम आचार्य भासह के महाकाव्य के विश्व विवेचन का सूत्रपाठ किया जा वह आचार्य विरचनाय में धारण पूर्णता को प्राप्त हो गया । आचार्य विरचनाय से एतद्विषयक अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों की समझ करके एक प्रकार से उनकी व्याख्या ही कर ही । परवर्ती आचार्य भी त्रय-उसी व्याख्या को ईषत् शब्द भेद के द्वारा पुनर्बुद्ध करते रहे । यहाँ पर केवल आचार्य विरचनाय से ही पर्याप्त होगा ।

आचार्य विरचनाय के अनुसार महाकाव्य में निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं—

१ महाकाव्य का नायक सुर प्रवृत्ता प्रकृतात् राजवंश से सम्बन्ध बोधनी होना चाहिए ।

२ महाकाव्य में शृंगार, वीर या शास्त्र रस में से एक रस प्रबन्धी होना चाहिए । साथ ही अन्य रस भी सारी नाटक-संज्ञियां होंगी चाहिए ।

३ महाकाव्य की कथावस्तु ऐतिहासिक प्रवृत्ता किसी महापुरुष के जीवन से सम्बन्ध बोधनी शोक-प्रबन्धित वृत्त होना चाहिए, जिसमें चारों पुरुषार्थों (धर्म, धर्म काम, मोक्ष) का वर्णन करके नायक को किसी एक की प्राप्ति हुई हो ।

४ महाकाव्य के प्रारम्भ में भगवान्‌वरण या वस्तुनिर्देश हो । वहीं-वहीं वृत्तों की निम्ना और सङ्ग्रहों की स्तुति की गई हो ।

५ महाकाव्य में कम से कम पाठ सगे होने चाहिए जो न तो बहुत दीर्घ हों और न बहुत छोटे । एक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग होना चाहिए और सर्गान्त में बहु छन्द परिवर्तित कर देना चाहिए । एक सर्ग ही में धनेक छन्द भी हो सकते हैं । सर्ग के अन्त में प्राची कथा का संकेत होना चाहिए ।

६ महाकाव्य में संध्या सूर्य अस्त, रात्रि प्रदेश प्रवृत्तकार दिन प्रातःकाल मध्याह्न मृगया पर्वत शृंगार वन-उपवन समुद्र सम्भोग विप्रसम्म मुनि स्वर्ग, नगर, यज्ञ संध्या यात्रा विवाह पुत्र-जन्म आदि का वर्णन होना चाहिए ।

७ महाकाव्य का नाम कवि, कर्ष्य विषय नायक प्रवृत्ता प्रवृत्त किसी प्राकार पर होना चाहिए ।

८ महाकाव्य के सर्ग का नाम उस सर्ग में वर्णित विषय के प्राकार पर होना चाहिए ।

पाश्चात्य विद्वान्‌ज ने महाकाव्य की जो विशेषताएँ बताई हैं, उन्हें दो वर्गों में रक्खा जा सकता है—स्थिर और अस्थिर । स्थिर विशेषताएँ वे हैं जिनका वास्तविक अर्थ प्रत्येक महाकाव्यकार के लिए अनिवार्य है । अस्थिर विशेषताओं पर अनिवार्यता का वर्णन नहीं । इन वर्गीकरण के अनुसार कहा

महायज्ञ पुकरवा बितने सुखर हैं उतने ही शोर हैं । उनका अपनी बीछा के प्रति पुङ्ग विश्वास स्वयं उन्हीं के शब्दों में है—

‘सामने सिद्धते नहीं बनराज पर्वत जोमते हैं,  
कापता है कुंडली मारे समय का व्यास  
मेरी बाह में मास्त गङ्ग पजरान का बल है ।’

सारंग में कहा जा सकता है कि एक उच्चाल और बीरोहात नामक में-जिन गुणों की अपेक्षा है, वे सब महायज्ञ पुकरवा में मिल जाने हैं ।

उर्बची की कथा भी प्रख्यात है । यह कथा इतनी पुष्पनी है कि वेद पुष्पणों के प्रतिरिक्त संस्कृत-साहित्य में इसका खूब प्रचार रहा है और कबिकृतपुत्र काशियास जैसे महाकवि भी इसे अपनाते का नाम संवरण नहीं कर सके हैं । यह कथा प्राधिकारिक है । इसके साथ ही अम्बन शक्ति की कथा प्रासंगिक है ।

इस काव्य का अंगीरस शृंगार है जो महाकाव्य के अंगीरस के लिए स्वीकृत है । इस कथा का फल नाम है जैसे पुकरवा के अंग्यास ग्रहण का संकेत करके कवि ने मोक्ष की ओर भी इंगित किया है ।

इन स्थिर अक्षरों के प्रतिरिक्त उर्बची में महाकाव्य के अनेक परिवार अक्षरों का भी परिपासन किया गया है । जैसे—प्रकृति का अणु नृत्तों का अक्षिप्य, पर्वत शतु मुनि स्वर्ग यज्ञ विवाह पुत्र-जन्म धारि ।

इन शब्दों के प्राप्त होने पर भी उर्बची को महाकाव्य नहीं माना जा सकता । इसके प्रमुख कारण ये हैं—

१ उर्बची की कथा सर्वों के स्वान पर अंकों में विभाजित की गई है । अक्षिप्य में भी महाकाव्य की कथा के अंकों में विभाजित होने की कोई संभावना नहीं है क्योंकि यह परिपाटी नाटक के लिए सर्वमान्य हो चुकी है ।

२ इसमें यत्र-तत्र नाटकीय संकेत हैं ।

३ इसकी कथा में वह व्यापकता और विविधता नहीं है जो महाकाव्य की कथा के लिए अपेक्षित होती है । जीवन के एक पहलू—केवल नाम—का ही

संविस्तार वर्णन हुआ है। प्रथम दो अर्थों में प्राधिकारिक कथा सूक्ष्म है। जिसके कारण महत्त्वपूर्वक बटनाओं का उचित प्रतिनिधित्व न होने के कारण प्रभावशालिनी विधिस हो जाती है। इसके अतिरिक्त प्रासंगिक कथा भी सूक्ष्म है। प्रासंगिक कथा के नायक महर्षि अथवा का तो वर्णन भी नहीं होता न उनके मुख से कोई शब्द ही सुनने को मिलता है। कथा में बटनाओं की प्रवेसा विशालता का प्राणायम है। इसलिए महाकाव्योचित अर्थों का उद्घाटन नहीं हो पाया है।

४ प्रारम्भ से अतः एक सवावात्मक शली अपनाई गई है।

### नाटक का स्वरूप

अनुरूप ने नाटक के स्वरूप का जो विवेचन किया है, उसका सारांश इस प्रकार है—

१ जिस कथावस्तु का नायक उत्कृष्ट कीर्ति के सेवन करने योग्य गुणों से युक्त हो धीरोदास हो प्रजापचासी हो कीर्ति की इच्छा करने वाला हो बड़ा ही परताही हो बेवचनी की रक्षा करने वाला हो धीर प्रसिद्ध बंध वाला या तो कोई राजपि हो या दिव्य हो ऐसे ही नायक वाली प्रख्यात कथावस्तु को प्राधिकारिक बृत्त बनाता चाहिए।

२ इस कथावस्तु को पाँच भागों में विभाजित कर लेना चाहिये। इन पाँचों भागों में पाँचों सन्धियों की योजना करनी चाहिये।

३ यदि कथावस्तु के अनुसंधान के लिये वस्तु का विस्तार प्रवेसित तो हो किन्तु नीरस समझ कर उसका परिचय भावपूर्ण समझ आय तो उस नीरस वस्तु की सुचना देने के लिए विष्कम्भक का प्रयोग करना चाहिये। यदि प्रारम्भ से ही सरस कथा हो तो विष्कम्भक की कोई आवश्यकता नहीं होती। एही रस में सामुहिक का भाव्य लेकर अर्थ को ही प्रारम्भ कर लेना चाहिये।

४ रस के अधिक विस्तार के द्वारा वस्तु को बहुत अधिक विविध नहीं करना चाहिये।

५ शृंगार और धीर दोनों रसों में से एक रस को धनी बनाया चाहिये।

क्षेप घारे रस संय होने चाहिये । निर्बहल सन्धि में प्रबभुत रस का समावेश होगा चाहिये ।

६ दूर का मार्ग बच, युद्ध विप्लव सुरत अनुमेपन बलन का पकड़ना इत्यादि उत्तेजक बातों से प्रत्यक्ष नहीं दिखाना चाहिये । केवल प्रवेशक इत्यादि से इनकी सूचना दे बनी चाहिये ।

७ एक ही दिन में एक ही प्रयोजन से किये गये कार्यों को एक अंक में दिखाना चाहिये । एक अंक में तीन या चार पात्र होने चाहिये और अंक के अंत में इन पात्रों को निरुक्त जाना चाहिये ।

इस विवेचन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

- १ नाटक की कथावस्तु प्रख्यात होनी चाहिये ।
- २ इसका नायक उदात्त पुरुषों से सम्बन्ध होना चाहिये ।
- ३ इसमें शृंगार या वीर रस में से एक रस प्रबली होना चाहिये । अन्य रस भी सहायक रूप में हों पर रस का विस्तार कथा प्रवाह में बाधक न हो ।
- ४ विष्कम्भक धावत्यक नहीं अंक से ही वस्तु प्रारम्भ की जा सकती है ।
- ५ उत्तेजक रूप बर्जित है ।
- ६ एक अंक में चार से अधिक पात्र नहीं होने चाहिये । तथा एक अंक में वस्तु का समय एक दिन से अधिक नहीं होना चाहिए ।

इन नियमों में पहले तीन नियम—कथावस्तु, नायक संदीरस—स्थिर नियम हैं और शेष अस्थिर । अतः स्थिर नियमों की व्याख्या अपेक्षित है ।

१ कथावस्तु—महाकाव्य की भांति नाटक की कथावस्तु भी या तो ऐतिहासिक होनी चाहिये या किसी प्रख्यात पुरुष से सम्बन्धित होनी चाहिये । प्रभावाभिव्यक्ति के लिए इसका पांच अंकों तथा पांच उभयों—मुख्य प्रतिमुख अर्थ अथवा अर्थ और निर्बहल—में विभाजन कर लेना चाहिए । नाटक की कथावस्तु के विभाजन के तीन मुख्य धारार हैं—

- १ प्रभावाभिव्यक्ति की दृष्टि से ।
- २ समर्पण की दृष्टि से ।
- ३ नाट्यबर्ण की दृष्टि से ।

प्रभावान्विति की दृष्टि से इसके दो भेद होते हैं—घाधिकारिक और प्रासंगिक । मुख्य कथा को घाधिकारिक और उसकी पगमूठ गीण कथा को प्रासंगिक कहते हैं ।

उर्बन्धी की दृष्टि से भी इसके दो भेद होते हैं—मुख्य और वृत्त । जो वस्तु रसहीन हो वह केवल सूचित होनी चाहिये क्योंकि उसका धमिनय कथावस्तु की प्रभावान्विति में बाधक होगा । इसके विपरीत धमिनेय कथा वस्तु वृत्त कहलाती है ।

नाट्यधर्म की दृष्टि से इसके तीन भेद होते हैं—सर्वधाम्य नियतधाम्य और अधधाम्य । जिसे सुनाना सबको समीष्ट हो वह सर्वधाम्य जिसे कुछ निश्चित पात्रों को सुनाना ही समीष्ट हो वह नियतधाम्य और जिसे किसी भी पात्र को सुनाना समीष्ट न हो, वह अधधाम्य कथावस्तु कहलाती है ।

धमिनय भी नाटक की कथावस्तु का प्रमुख धर्म है । धमिनय चार प्रकार का होता है—धार्मिक (धर्म द्वारा सम्पादित) वाणिक (बाज़ी द्वारा सम्पादित) साहाय (बेधमूषा द्वारा सम्पादित) और सात्त्विक (मनोभावों द्वारा सम्पादित) ।

नाटक की कथावस्तु की परिणति फल में होनी चाहिए । यह फल—धर्म धर्म काम और मोक्ष में से कोई एक—नायक को प्राप्त होना चाहिए ।

२ नायक—महाकाव्य के नायक की माति नाटक का नायक भी उदात्त पुरुषों से उत्पन्न हो, वह भीरोदात्त प्रतापी कीर्ति की इच्छा रखने वाला भीष्माही बदरपी का रथक, प्रख्यात बपी राजपि या दिव्य हो । बदरथ में नाटक के नायक के लिये इन पुरुषों को धनिबाय बढाया है—

नेता विनीतो मधुरस्यामी इत्त प्रियम्बर ।

रत्नसोक मुर्ध्निगी स्वर्णं त्विरो युवा ॥

बुद्धयुत्साह स्मृति प्रज्ञाकामात्मान समन्वित ।

शूरो बुद्धिश्च तेजस्वी धात्वश्चसुख धार्मिक ॥

धर्मन् नाटक का नायक विनीत मधुर, स्यामी रत्न, प्रियम्बरो सोकप्रिय बुधि वाप्पी स्वर्णं त्विरो, युवा बुद्धिमान् उत्साही स्मृतिवान् प्रज्ञावान्



कसा-समन्वित नानी, धूर, पृङ्ग, ठेकस्त्री घास्त्रविद् धीर धार्मिक होना चाहिए ।

इन गुणों के घटिरिक्त नायक में छोटा विनास, माधुर्य धाम्नीय, स्थिरता समित धीर धीराम ये घाठ घास्त्रिक गुण भी माने गए हैं ।

नायक के चार भेद होते हैं—धीर समित, धीर प्रसन्न धीरोदात्त धीर धीरोदत्त । जो नायक निश्चिन्त कसाधर्म में भासल, मुक्ती धीर कोमल होता है, उसे धीर समित कहते हैं । सामान्य गुणों से कुछ द्विज इत्यादि को धीर प्रसन्न कहते हैं । जो बहुत ठेकस्त्री हो, घस्त्रिक धम्नीर हो सहनधीन हो मितभापी हा स्थिर हो, निरहंकारी तथा दृढप्रतिज्ञ हो उसे धीरोदात्त कहते हैं । जिसमें धर्म धीर मात्सर्य बहुत धार्मिक हो जो माना धीर धर्म में गया हुआ हो, जो घहंकारी बचन उग्र धीर लेखीबाज हो उसे धीरोदत्त कहते हैं ।

शृंगार-सम्बन्धी नायक के तीन भेद होते हैं—दक्षिण घठ धीर धृष्ट । जो धर्म नायिका के द्वारा धपहृत होते हुए भी प्रथम नायिका से सहृदयता का व्यवहार करता है, वह दक्षिण नायक कहा जाता है । जो नायक पूर्व नायिका का चुपके चुपके धपकार करे, वह घठ नायक होता है धीर जिस नायक के धग व्यवहृत रूप से विकृत हों उसे धृष्ट नायक कहते हैं ।

नायक के उपर्युक्त विवेचन से यह सङ्क ही बोध हो जाता है कि नाटक ही नायिका भी उदात्त होनी चाहिए ।

३ रस—नाटक में शृंगार वा धीर-रस में एक रस धंधी होना चाहिए, धप रसों की नियोजना धग रूप में होनी चाहिए ।

नाटक की इस विवेचना पर यदि बर्बतों को परका आवे तो इसमें धनेक नाटकीय तत्त्वों की उपमधिष होतो है । जैसे—

१ इसकी कथावस्तु प्रत्यात है ।

२ इसका नायक उम सभी गुणों से सम्पन्न है जो नाटक के नायक के लिए धवेधित है । धाय हो नायिका में भी धवेधित गुण मिलने हैं ।

३ इसकी कथा का विभाजन धंकों में हुआ है । जिसमें धन-उग्र नाटकीय उक्ति भी है । इसकी कथा धीर धंकों में विभाजित है ।

४ प्रारम्भ से अन्त तक कथोपकथन की शैली ग्रहण की गई है।

५ नाटक का अवीरस शूमार या वीर में से कोई एक होना चाहिए। इसमें शूंतार अवीरस है।

६ इस काव्य का प्रारम्भ नाटकीय नियमों पर हुआ है। नाटक की संविधा भी इसमें मिलती है।

किन्तु फिर भी इसे नाटक स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके निम्न निश्चित कारण हैं—

१ नाटक में कथावस्तु की विविधता और विचलता अपेक्षित होती है। इसकी कथा में इन दोनों तत्वों का अभाव है। जीवन के वैविध्य के स्थान पर जीवन की केवल एक समस्या—काम—को ही प्रस्तुत किया गया है। समाधान उसका भी पूर्ण नहीं है।

२ इसमें चिन्तन को गंभीरता है, अतः कथा का प्रवाह टूट गया है। नाटक में इतने गहन चिन्तन की अपेक्षा भी नहीं होती।

३ अभिनेय नाटक की आधार-विधा है। इसमें इसका अभाव ही है, क्योंकि इसमें रंगमंचीय संकेत नहीं हैं।

४ इसमें संकलनरूप की कोई योजना नहीं है।

#### नाट्यमहाकाव्य का स्वरूप

नाट्यमहाकाव्य हिन्दी-साहित्य के लिए एकदम नवीन शब्द है। पारंपारिक साहित्य में इस रूप में अनेक काव्य मिलते हैं जिनमें जर्मन कवि गेटे का 'घाबस्ट' तथा अंगरेजी कवि टायस टार्डी का 'दी डाइनेस्ट बिसेप रूप से उल्लेखनीय हैं। नाट्यमहाकाव्य में नाटक और महाकाव्य दोनों के तत्वों का मिश्रण होता है। 'साहित्यकोष' में नाट्यमहाकाव्य की परिभाषा इन शब्दों में की गई है—

'नाट्यमहाकाव्य वह पद्यबद्ध काव्य है जिसमें नाटक की कथोपकथन की पद्धति और नाटकीय संविधों से युक्त अम्बित तो होती है पर जो अभिनेय नहीं होता, क्योंकि अतः कथानक नाटक की अपेक्षा अधिक लम्बा वैविध्य रूप और अन्ततः कथाओं तथा अन्वितेय दृश्यों से युक्त होता है और जिसमें नाटक की अपेक्षा गुल्ब और यादनीय अधिक होता है।

नाट्यमहाकाव्य के कथानक के लिए जिस लम्बाई विविधता और

कला-समन्वित, मानी दूर, दृढ़, तेजस्वी धातुबिद् भीर भाविक हो चाहिए ।

इन गुणों के प्रतिरिक्त नायक में शोभा बिभास, माधुर्य गाम्भीर्य स्थिरता सक्ति भीर भौशयं ये आठ धारिक्य मुख्य भी माने गए हैं ।

नायक के चार भेद होते हैं—वीर सक्ति, वीर प्रसास भीरोदात्त भी वीरोदात्त । जो नायक निश्चित कर्माधी में प्राप्त, सुखी भीर कोमल होत है, उसे वीर सक्ति कहते हैं । सामान्य गुणों से युक्त द्विज इत्यादि को वीर प्रसास कहते हैं । जो बहुत तेजस्वी हो प्रत्यक्ष गम्भीर हो चहलचीम हो पितृनापी हो स्थिर हो, निरङ्कारी तथा दृढ़प्रतिज्ञ हो उसे वीरोदात्त कहते हैं । जिसमें सर्व भीर मात्सर्य बहुत अधिक हो जो माया और छद्म में सगा हुआ हो जो प्रहंकारी पक्ष उग्र भीर गेखीनाम हो उसे वीरोदात्त कहते हैं ।

शृंगार-सम्बन्धी नायक के तीन भेद होते हैं—वशिष्ठ घट भीर वृष्ट । जो शून्य नायिका के द्वारा घपहृत होते हुए भी प्रथम नायिका से सहृदयता का व्यवहार करता है वह वशिष्ठ नायक कहलाता है । जो नायक पूर्ण नायिका का चुपके चुपके प्रयत्न करे वह घट नायक होता है और जिस नायक के शून्य व्यवस्था से विहृत हों उसे वृष्ट नायक कहते हैं ।

नायक के उपयुक्त विशेषण से यह कहना ही बोध हो जाता है कि नाटक की नायिका भी उदात्त होनी चाहिए ।

३ रस—नाटक में शृंगार या वीर रस में एक रस प्रथी होना चाहिए, जब रसों की नियोजना शून्य रूप में होनी चाहिए ।

नाटक की इस विवेचना पर यदि उर्बरी को परखा जावे तो इसमें घनेक नाटकीय तर्कों की उपलब्धि होती है । जैसे—

१ इसकी कथावस्तु प्रख्यात है ।

२ इसका नायक उन सभी गुणों से सम्पन्न है, जो नाटक के नायक के लिए अपेक्षित हैं । छाप ही नायिका में भी अपेक्षित गुण मिलन हैं ।

३ इसकी कथा का विभाजन शृंखला में हुआ है । जिसमें यत्र-तत्र नाटकीय संकेत भी हैं । इसकी कथा पाँच शृंखला में विभाजित है ।

४ शारंग से पन्थ एक कथोपकथन की सैली प्रकण की परी है ।

५ नाटक का प्रतीक शृंगार या भीर में से कोई एक हुना चाहिए ।  
इसे शृंगार प्रतीक है ।

६ इस काव्य का प्रारम्भ नाटकीय नियमों पर हुआ है । नाटक की  
शैलियों भी इसमें मिलती है ।

किन्तु फिर भी इसे नाटक स्वीकार नहीं किया जा सकता । इसके निम्न  
विशेष कारण हैं—

१ नाटक में कथावस्तु की विविधता और विचलता अपेक्षित होती है ।  
इसी कथा में इन दोनों तत्वों का प्रभाव है । जीवन के वैविध्य के स्थान पर  
जीवन की वैधत एक समस्या—काम—को ही प्रस्तुत किया गया है ।  
कथानान उसका भी पूर्ण नहीं है ।

२ इसमें चिन्तन की गंभीरता है घट कथा का प्रवाह टूट गया है ।  
घटक में इतने गहन चिन्तन की अपेक्षा भी नहीं होती ।

३ प्रमितय नाटक की आधार-विधा है । इसमें इसका प्रभाव ही है,  
क्योंकि इसमें रंगमंचीय संकेत नहीं हैं ।

४ इसमें संकलनप्रय की कोई योजना नहीं है ।

### नाट्यमहाकाव्य का स्वस्व्य

नाट्यमहाकाव्य हिन्दी-साहित्य के लिए एकदम नवीन शब्द है । पाश्चात्य-  
साहित्य में इस रूप में अनेक काव्य मिलते हैं जिनमें जर्मन-कवि गेटे का  
'घनस्त तथा प्रंपरेजी-कवि टामस टार्बो का 'बी डाइनेस्ट' विशेष रूप से  
उल्लेखनीय है । नाट्यमहाकाव्य में नाटक और महाकाव्य दोनों के तत्वों  
का मिश्रण होता है । 'साहित्यकोश' में नाट्यमहाकाव्य की परिभाषा इन  
शब्दों में की गई है—

'नाट्यमहाकाव्य वह पद्यकृत काव्य है जिसमें नाटक की कथोपकथन की  
प्रति और नाटकीय शक्तियों से युक्त घटिबन्धित होती है पर जो प्रभिवेध  
नहीं होता, क्योंकि उसका कथानक नाटक की अपेक्षा अधिक सच्चा वैधिय-  
युक्त और अन्ततः कथाओं तथा घटिबन्धित दुम्बों से युक्त होता है और  
जिसमें नाटक की अपेक्षा पुरतन् और गाम्भीर्य अधिक होता है ।

नाट्यमहाकाव्य के कथानक के लिए त्रिषु सम्बन्ध, विविधता और

प्रवाहर कथाओं की अपेक्षा है वे उर्वशी में नहीं मिलते, मत इसे इस मेर के अन्तर्गत भी नहीं रखा जा सकता ।

### गीतिनाट्य का स्वरूप

गीतिनाट्य उस काव्य को कहते हैं जिसमें नाटकीय तत्वों के साथ गीतिकाव्य की विशेषताएँ भी सम्मिलित हों । गीतिनाट्य के प्रमुख तत्व ये हैं—

- १ भाषों का प्राधान्य ।
- २ कथा का सौन्दर्य कम भावातिर्य्यजना का अधिक ।
- ३ कठोर धीर पक्ष्य बटनाओं एवं रसों का बहिष्कार ।
- ४ जीवन के कोमल सुकम तथा भावात्मक विषय ।
- ५ बाह्य जेष्टाएँ कम मनोभाव अधिक ।
- ६ अन्तर्द्वन्द्व की प्रधानता ।
- ७ प्रकृति के रम्य रूप का विषय ।
- ८ पात्रों की सीमित संख्या ।
- ९ यत्र-तत्र नाटकीय संकेत ।
- १० चार या पाँच दृश्य (अथवा अंक)
- ११ अधिनेयता आवश्यक नहीं ।
- १२ संगीतात्मकता अथ गीतों की योजना ।

विस्तार भय से यहाँ केवल इतना कहना ही पर्याप्त है कि उर्वशी में ये सभी तत्व पूर्णतया मिलते हैं । अतः कहा जा सकता है कि उर्वशी का काव्यरूप गीतिनाट्य है । यह काव्यरूप हिन्दी-साहित्य के लिए काफी योग्य माना है ।

## उर्वशी का प्रकृति-चित्रण

'प्रकृति' शब्द अंग्रेजी के Nature का पर्याय है। प्रकृति का शाब्दिक अर्थ है—स्वभाव, मिजाज, वह मूल सत्ता जिसका परिणाम जगत् है माया परमात्मा तथा पंचभूत प्रादि। कविता में प्रकृति-चित्रण से तात्पर्य है कवि का वाचस्मिक कृति का आधार लेकर मूल सत्ता माया परमात्मा तथा पंचभूत (पृथ्वी जल तेज वायु धोर आकाश) का अपने-अपने ढंग से सहज रूप स्वाभाविक चित्रण करना। इस प्रकार अंगीरूप प्रकृति (मूलसत्ता माया परमात्मा पंचभूत) का मानव एक अंग है। अतः मानव धोर प्रकृति का अविच्छेद्य अंग अन्वयोन्वायित सम्बन्ध है। जीवन तथा साहित्य दोनों में ही इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। कला धोर साहित्य की यह मूल प्रेरणा धोर कवि के भाव-सफुरण की आधार-शिला है। इसके अंग होने के कारण हम प्रकृति में अपने अंग प्रसन्नता उमंग-वस्त्रास प्रादि भावों की छाया भी देखते हैं। प्रकृति का सौन्दर्य सादृश है। इसके सौन्दर्य पर मानवीय जगत की विनीयिताओं का कोई प्रभाव नहीं देखा जाता। दुःख की व्याप्ताओं में जगत संसार के बीच यह अपने ही धानव्यास्तास में घिरकठी रहती है'—अंग्रेजी कवि टेनीसन ने प्रकृति की शास्त्रता की अभिव्यक्ति इन शब्दों में की है—

For men may come and men may go,

But I go on for ever

प्रकृति का यह शास्त्रत सौन्दर्य ही अभावि तत्त्व की रहस्यमयी सत्ता की जानने का उद्देश है किन्तु प्रकृति से सहज एवं अदृष्ट सम्बन्ध स्थापित करने के लिए मानव में अर्हक वाचस्मिक कृति के रहने की परमावश्यकता है। "अनुपम लेख प्रकृति के साथ अपने वाचस्मिक सम्बन्ध का विच्छेद करने के अपने धानव्य की व्यापकता को नष्ट करता है।

घादि काम से लेकर अब तक विभिन्न कवियों की स्यासिक कृति में अनेककल्पता होने के कारण विभिन्न कवियों की प्रकृति निरीक्षण और अनुभूति के अनुसार प्रकृति का चित्रण कई ढंग से हुआ है। प्रकृति-चित्रण के भेदोपभेद का बर्णनकरण इस प्रकार है—

१—आत्ममन रूप—

- (घ) भाव ध्वंजना अथवा अनुसूचनात्मकता
- (ब) प्रकृति का रूप-विस्तार
- (घ) गति-विधि का निरीक्षण
- (ब) बर्णन या रंघों की पहचान
- (ह) गन्ध की संवेदना
- (स) स्पर्श की संवेदना

२—सङ्गीत

३—मानवीकरण

४—आत्मकारिक विधान

५—प्रतीक विधान

६—रहस्यानुभूति अथवा रहस्य-सत्ता की अनुभूति

७—अपरेणात्मकता

८—बृष्ठभूमि व वातावरण की सृष्टि के रूप

९—कवि-समय के रूप

'सर्वांगी के आधार पर इन भेदोपभेदों का समिलित विस्तेरल इस प्रकार किया जा सकता है—

१ आत्ममन रूप

आत्ममनो नायिकादिस्तमानमस्य यथोद्भवात् । अर्थात् जिस व्यक्ति अथवा वस्तु के कारण काव्य घादि में कोई भाव जागृत होता है उस व्यक्ति अथवा वस्तु को उस भाव का आत्ममन विधान कहते हैं। आत्ममन विधान ही वास्तविक रस भूमि है। इनके बिना काव्य रचना और काव्यास्वास्व दोनों ही असम्भव हैं। आचार्य रामानुज एतत्त तौ आत्ममन वाक् के विचार वर्णन

को थोटा में रखानुभव करने में पूर्ण समर्थ मानते थे। यदि कवि ने प्रकृति का प्रायः खोलकर मौखिक वर्णन न किया तो प्रकृति के प्रायः प्रयोगों में भी उसका दीर्घत्व स्पष्टक जाएगा। प्रकृति को सामान्य रूप में वर्णन करने पर कवि की दो स्थितियाँ हुआ करती हैं—

१ प्रकृति के प्रति उन्मुक्त प्रेम भाव की व्यक्तता।

२ प्रकृति का व्यक्त चित्रण।

प्रात्मजन रूप में प्रकृति के इस बुद्धि-चित्रण के कवि की सुकर्मदायिता के आधार पर ६ भेद होते हैं। उर्बची में इन सभी के उदाहरण मिल जाते हैं।

(घ) नाद-व्यक्तता—प्रकृति स्वतः संगीतमयी है। इसमें कवि को चारों ओर गाना प्रकार की ध्वनियाँ सुनाई देती हैं जैसे पत्तियों का कल-कलन प्रमथों का मुँजार, सह्रों की कल-कल धुनों का मगर स्वर धादि। उर्बची में भी नाद-व्यक्तता मिलती है। यथा—

‘घामि, घामि सब धोर किन्तु यह बबबन-बबबन-स्वन कसा ?  
घतल श्योम उर में ये कौते नूपुर मलक रहे हैं।

× × ×

धबल कर रहे थे सबूर तट पर से जान सागा कर  
मैधमत्र बुग-बुग-ध्वनि बलवारा में घट मरने की।

× × ×

मलमल मलमल सरिरवमिल बहु ज्यो की लाली से  
प्रस्थों पर बिछली-बिछली आमा बहु रजत किरण की  
बहुक-बहुक उठना यह बिहनों का निकुञ्ज पृथ्वी में  
स्वाभावतः ही धडा से नमस्कार करती हैं  
प्रबिनमबर सौम्यपुर्ण नंबर इस महा मूठी की।

× × ×

इन प्रकार कवि ने धनुरणुनारमक पद्यों द्वारा प्रकृति का सजीव एवं मनोहाथी वर्णन किया है।

(ब) प्रकृति का रूप-विस्तार—प्रकृति के रूप-विस्तार के लिए कवि को प्रकृति के धर्मत्व के महान ज्ञान से युक्त होना परमावश्यक है। रूप-विस्तार



में पर्वत, भूमि मैदान, कृषि वेड़ पीरे जला-वन, छाया समुद्र, मरिचक नदियाँ  
भाकाठ, मेक, बिजसी सूर्य चन्द्रमा, उषा, सध्या इन्द्रबनुष प्रादि के बिच  
सम्पत्ति हैं बिनका कवि उस्मेक मात्र नहीं करता, अपितु कवि कल्पना के  
द्वारा उनमें कमनीयता देवा करता है। यथा—

“फूलों की नाब बहामो री यह रात बपहनी प्राई  
फूटी सुखा ससिस की पारा  
डूबा नम का कूल किनारा  
सबल बांरनी की सुमन लहरों में तीर नहामो री।”

× × ×

‘दूर-दूर तक चल रही डूबों की हरिबाली है  
बिछी हुई इस हरियामी पर अबनम की आली है।

× × ×

बिछा हुआ है आन रसि का मही मान लौती है।

उपर्युक्त बिचण के आधार पर यह सहज स्पष्ट है कि कवि ने प्रकृति  
अवयवों का परियणन मात्र नहीं किया अपितु अपनी सूक्ष्म कल्पना के द्वारा  
उनमें कमनीयता देवा की है, उनको नाब के रंभों तथा कला की सुविका  
द्वारा मए रंभ दिए हैं।

(स) पति-बिबि का निरीक्षण— इसमें कवि वस्तु-व्यापारों की  
सूक्ष्म पति बिबि का ऐसा अंकन करता है कि उससे उसकी (बिबि की) ब्रष्टि  
की निकटदर्शिता सुचित हो। जब तक प्रकृति के प्रति रस नहीं होता तब  
तक यह कार्य सम्भव नहीं। उर्बंशी में प्रकृति के अनेक ऐसे रूप मरे बड़े  
हैं। जबाहरणार्थ, विनकर की ‘मिछा के प्रति निकटदर्शिता का यह बिच  
प्रस्तुत है—

‘असकल्प भिलमिल भावों का अग्रतिग रूपों का  
बिचल धनु, एकान्त घामिनी घामो है माता है।  
घाती अब शर्वरी पोंछती नहीं बिचल के तिर से  
केवल उपन-बिगु, केवल लोछन सडक किरणों के

## धरती का प्रकृति-चित्रण

समहारी निर्मल आश्लेष धरने तिमिराचल से  
 दोलाहल कबरा निहार को भी समेट लेती है ।

(क) बरों या रंगों की पहिचान—कवि प्रकृति का प्रतीक हस्त  
 वह अपनी प्रकृति प्रेमिका को विभिन्न बरों या रंगों में रंजता है  
 विश्रुत में कवि की भावना सूत्र से सूत्रधर है। काशी है । रंगों का  
 अब ही विनिर्णय करना पर्याप्त नहीं है अर्थात् विनयी कृष्टि सूत्र रूप में  
 कर रंगों के विभिन्न वेद-प्रदेशों छायाओं के विमलकों को टटोल कर  
 निकालती है वे अधिक सम्यक् कवि कहलाने हैं । प्रकृति में मौला साक के  
 इस मादगीया धीर पीला रंग अधिक मोहन एवं शरीर जगता है ।  
 विषय में धरती का यह उपाहृत्य प्रस्तुत है—

“वेद-कामिनी शीतिमा-सुवता गति करी परों के बस में  
 बस लेती है किनी बालि पीकर जल पैमाली सी  
 जो लघु का बस पीकर सम्यक् जगमगा रही है ।

×

×

×

“कब या जल सुखे, इतनी सुखर होती है काली ?  
 जल-जल के बरस कबल से **कुंज** से, जाकल से  
 वन की रत्नम कालि सुख, परों, सुती हुई पाकल से ।”

×

×

×

“कब कालि-बोधा के धार  
 धरती हम नीलो बंधार ।”

(ख) लक्ष की खबरना—समुद्र के तट पर, प्रथम बरों के समय हल  
 मुठी बली से शकन चारों की कड़ी घुप में बलते खंगली लछा-भरों से  
 प्रपाठ-धरत से तथा पुष्पों से विरुप प्रकार को मधुर घुप निकलती है ।  
 कवि दिलकर का ध्यान इस धीर विधि में नहीं था । मध-सक पुष्पों की छोरस  
 की बरुंन धरत मिल जाता है, लेकिन वह भी हमारे लक्ष की पर्याप्त नहीं  
 नहीं करता—



कौन नयी उज्ज्वलता की तुसी सी छेर रहा है ?  
 कुछ बुत्तों की हरित मौलि पर कुछ पत्तों से छन कर  
 छाँह देव नीचे मर्गाक की किरणों सेट गई है ।

×  
 हमक रही कर्पूर घूमि विरहपुष्पों के घानन पर  
 रजनी के धंगों पर कोई बन्धन सेप रहा है

×  
 कम कर हो दूरता कीमुची ने मू घोर गान की  
 उठी हुईं सी म्ही घ्योम कुछ झुका हुआ लगता है ।

इस प्रकार उर्बाची ने किरणों के भरती पर सेट जान रजनी कपो  
 गायिका के मुख पर बदन के लप करने, परती का कुछ ऊपर की घोर  
 उठने तथा धाकाध का भरती के ऊपर मुकन के द्वारा पुकरवा के मानस म  
 पुन काम व्यापारों को जागृत करने की सफल बप्टा की है ।

३. मानवीकरण रूप

“यमानव में ‘मानव-गुणों के आरोप करने की साधारण प्रकृति या  
 प्रकिया को मानवीकरण कहा जाता है । यर्बान् जब कबि प्रकृति क विभिन्न  
 व्यापारों में व्यक्तिगत जीवन का आरोप कर मत्रा है तो पन्पु रती बृध-मत्ता  
 बाँध-तारे सभी में उस मानव क्रिया-कसाप की म्मसव मिसत्री है । प्रकृति  
 विषण के इसी रूप को मानवीकरण कहत है ।  
 निशा को कबि ने एक सभ्रात्री का रूप प्रदान किया है । उसकी धनुषम  
 छटा देखिए—

‘सभ्रात्री बिभ्राट कभी जाते इसको देया है  
 समारोह प्रांगण में पहले हुकूल तिमिर का  
 नसत्रों से जबित कूल-कीलित मामरों बिमा की  
 पूष हुए बिदुर में सुरभिन दाम श्वेत फूलों के ।

इसी प्रकार—

“जब से तुम धायी, परती पर कूल धयिक बिलते हैं  
 होइ रही कुछ नयी दीप्ति-सी घोतत हरिपानी में ।

## दिनकर और उर्वशी उर्वशी

सब हैं सुखी एक पलकों को ऐसा सगता है  
जैसे कोई बस्तु हाथ से धरके निकल गई हो।

×

×

×

“स्वप्न किया हुआ कितना सम्बुद्धि ने तुम्हें पंथा कर

—

—

—

धूम्य हो पया होगा तारा हृदय महासागर का

×

×

×

कैसे ये तबिनियाँ उठती हुई सुवास घिसा कर

हर्म देल बलने घाती थी थीर सक्कि इठनाकर

मानवीकरण के एक छ एक उत्तम बिन उर्वशी में मिल जाये।

### ८ आलंकारिक विधान

असंकरण रूप में प्रकृति का वर्णन सबसे अधिक हुआ है। कवि मर-जारी के सौन्दर्य को द्वियुगल करने के लिए अलंकारों का प्रयोग करता है। अलंकारों के लिए कवि को अपमानों का अत्यन्त स्तुत अथवा सुदम बड़ अथवा अतन प्रकृति से ही करना पड़ता है। प्रकृति के आश्रय से लिए गये अपमानों से आहत मानव के सौन्दर्य में चार बाँध लग जाते हैं—

दिनकर ने उर्वशी में आलंकारिक विधान ही प्रतिपत्ता अथवा की है मगर उसे अपह्लासास्पद-या कृपित कही कहा जा सकता है। प्रकृति का एक ही एक आलंकारिक विधान अनुपम है—

उस दम्भ परिपुष्ट मध्य कृष्ण पुपुन प्रसिम्ब भुजाए  
बलस्यत उन्नत प्रशास्त कितना सुभम्ब लवता पा।  
जवा-विभारहित उदय-क्षीत की मानो स्वयं शिला हो।

(उत्पत्ता)

×

×

×

‘यह शिला-का बस दे बह्दान तो मेरी भुजाए’।

(उत्पत्ता)

“शांति-शांति सब घोर, संजु मानो जगिन्का मुकुट में  
प्रकृति रैद्य अपनी शोभा अपने को भूल पयी हो।”

(उल्लेखा)

‘मुकु-सरोज मुस्कान बिना घामा बिहीन सपता है।’

(रमक)

## १ प्रतीक-विधान

मानव-मन का मनोबैज्ञानिक अध्ययन करने में प्रतीक-विधान का महत्व पूर्ण स्थान है। ‘हिन्दी साहित्य कोश’ में प्रतीक-शास्त्र की परिभाषा इस प्रकार दी गई है— प्रतीकों के माध्यम से किसी विषय का प्रतिविधान करना प्रतीक-वाद कहलाता है। जैसे तो प्रतीक अनेक प्रकार के माने गए हैं परन्तु उनमें से मुख्य प्रकार तीन हैं—

- १ सृजन के प्रतीक
- २ नाश के प्रतीक
- ३ काम के प्रतीक

उर्बची में अधिकतर ‘काम के प्रतीकों’ के वर्णन होते हैं। कवि ने यौवन तथा सौन्दर्य के अनेक नवीन प्रतीकों की योजना की है यथा बसन्त के लिए स्वर्ण-पिंता मटारों के लिए मापिन ‘दृष्टानु सम रूपोत्त तथा अक्षर रक्त के लिए सूर्य तथा मधुरस के लिए जगन्मा के प्रतीकों की योजना अपने धाप में लीनी है।

शेष की भी जातक, किरण कमल जगन्मा मीन आदि पदार्थ क्रमशः क्रमशः अथवा अथवा तथा आनन्द का प्रकाश पवित्रता, दीप्तता चक्रे आदि नैतिक स्थितियों के प्रतीक हैं जिनका उर्बची में स्थान-स्थान पर चित्रण या बना है।

रहस्याभिधक्ति का रूप

जब कवि के चित्त में प्रकृति का रोम रोम इस प्रकार रम जाए कि उसे (प्रकृति के) अन्तर् में उसे (कवि को) अक्षुब्ध सत्ता के वर्णन अपना

उसका प्रामाण्य होने मग जाए वहाँ प्रकृतिवादी रहस्यानुभूति होती है।/उर्बची का तीसरा अंक तो इस रहस्यानुभूति की प्रकृति से प्रोत्-प्रोत् है।

प्रकृति में रहस्य-सत्ता की अभिव्यक्ति के कुछ उदाहरण प्रष्टम्य हैं—

रक्त की जलप्त महारों की परिधि के पार  
कोई सत्य हो तो

चाहता हूँ भव उसका ज्ञान नू  
पम्य हो सौम्यर्ष की धारापना का ज्योम में परि  
दूम्य की उस रेखा को पहचान नू

— \ — X —  
“ये किरणें ये फूल, किन्तु प्रमितम सोपान नहीं है  
जठना होमा बहुत दूर ऊपर इनके सारो पर  
स्मात् जर्म्ब उस अम्बर तक जिसकी ऊँचाई पर है  
यह मुक्तिका विहार विष्य किरणों का हीन लयेमा।”

— X —  
‘क्यों पान करने हो शीतलता जलपत्र कमल की;  
एक सधन जल में समेटने हो विस्तार समय का,  
एक पुष्प में भर विकास की सुरभि सू म लेने हो।

इसी प्रकार ‘मिषा योम-आमृति क्य सण है’ (पृष्ठ १८) ‘हृम्य तुपा  
फिर वही (पृ० ७६) तथा ‘धिसरों में जो मोन’ (पृ० ७८) आदि पद्यांश  
भी दर्शनीय हैं।

७ उपदेशात्मक रूप

कोरा एवं सत्ता उपदेश किती काम का नहीं। हाँ जब प्रकृति के  
उपकरणों के माध्यम से उन्हें गए संज्ञे में डाल कर व्यक्त किया जाता है  
तब उसकी बहार ही धीर होती है तथा उसका प्रमाण भी प्रमित होता है।

उर्बची में सूक्तियों के रूप में इसका सफल प्रयोग हुआ है—

जितना ही जो जलधि रत्न-मुरित विचास्त धयम है  
उसकी बाहुवागिज उतनी ही अविभास्त कुर्दम है।

×

×

×

“बाघों का बर्बत्ब रजत है  
किन्तु, मौन कजल है।

८. पृष्ठभूमि व वातावरण-सृष्टि का रूप

प्रथम काव्यों में किसी यन्त्री स्थिति या प्रसंग के उपक्रम-स्वरूप तथा भावोत्कर्ष के लिए प्रकृति के द्वारा पृष्ठभूमि व वातावरण का भी निर्माण होता था। पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति के ये विभिन्न अंश के प्रारम्भ अथवा अन्त में आते हैं।

उर्वशी में भी ऐसे प्रसंगों की बहुसंख्या है। प्रथम अंश में प्रकृति का आसम्भन लेकर आगामी पुरुषवा उर्वशी की प्रेम-कथा का परिचय दे दिया गया है यथा—

‘सारी बेहू समेट निबिड़ आनिपन में भरने को  
पगल खोल कर बाहू बिसुभ बसुबा पर मूका ठुप्रा ह।

इसी प्रकार ‘तृतीय अंश’ के अन्त में कवि ने किसी नवीन पादप के जन्म का उत्प्रेक्ष्य करके आगामी अंश में उर्वशी के विधु होने का पूर्व-संकेत दे दिया है—

‘हिम-स्नात तिबल बकसरी-गुजारिन को देखो  
पति को छुनों का नया हार पहनाती है  
कुंजों में बनमा है कम कोई बस कहीं  
बन की प्रसन्न बिहपानति सोहर पाती है।’

९. कवि-समय का रूप

‘कविपण कुछ प्राकृतिक पदार्थों का ऐसे रूप में भी वर्णन करते आए हैं जो वस्तुव्यवस्था के क्षेत्र में नहीं मिल पाता जैसे—नदियों में कमल का प्रिलना बजोर का बिपारिया बुना बकबा-बकबी का राशि में बिपुल्ल होना आदि। इस रूप में केवल निरिच्छत पदार्थों का ही वर्णन किया जा सकता है, जिनके विषय में कवियों का सम्झौता था हो गया है। इसीलिए उन्हें ‘कवि-समय-विद्य’ कहा गया है। ‘उर्वशी’ में ‘कवि-समय’ के विभिन्न



उपलब्ध नहीं होते । अतः यहाँ इसके सिद्धांत पर का ब्यक्त करना ही उद्देश्य था ।

निष्कर्ष

'उर्बरी' में बिनकर का यह प्रकृति-चित्रण देखने के पश्चात् चित्त में एक मूस सरय का उद्भावना तो यह होता है कि राष्ट्रकवि युष्मत् कवि की भाँति बिनकर के मानस में बैठा हुआ कवि न तो अस्तित्व में है न अस्तित्व की भाँति भी नहीं पड़ी है तथा न ही समस्त युष्मत्कवि पर धार है अपितु वह या गिरन्तर विकसतसीस है । और, दूसरे इस काव्य के प्रणयन में कवि ने अपनी दिशा को ही ब्रह्म दिया । जहाँ कवि ने पूर्वं रचनाओं में सृजन और भाषा के मौलिक प्रतीकों का स्थापन किया था वहाँ उर्बरी में इन प्रतीकों से परे हटकर काम के वैधानिक प्रतीकों का उद्भावना किया । इससे सिद्ध होता है कि कवि की काव्य-संस्थापना नाना रचनाओं से मुक्त है । उसमें भाषा के रूप में ही बिनकर कवि ने कल्पना की शक्ति का हाथ मारा जिसमें उपस्थित किया है ।

## उर्वशी में सौन्दर्य-तत्व

मनुष्य सौन्दर्योपासक प्राणी है। प्रतादिकाल से ही उसकी यह उपासना अनवरत अति से जारी आ रही है। मानव-मन ने अब तक अनेक सस्कृतियों को बदलते अनेक सभ्यताओं को करवटें सेते धीरे अनेक दिवार-भारतों को विभिन्न प्रवाहों में बहते देखा है किन्तु उसकी इस उपासना में कोई अन्तर नहीं आया, सौन्दर्य के प्रति उसका अनुयोग अक्षुण्ण बना रहा और भविष्य में भी बना रहेगा। यही कारण है कि वह अपने सभी कार्यों में चाहे वे बाह्य हों अथवा आन्तरिक, सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करने का यथासक्ति प्रयास करता है। उसका यही प्रयास काव्य में भी परिलक्षित होता है।

### सौन्दर्य का अर्थ

सौन्दर्य 'सुन्दर' शब्द की भाववाचक शब्दा है। 'सुन्दर' शब्द का अर्थ तीन प्रकार से हो सकता है—

१ 'सु' अर्थात् सुष्ठु या अच्छी प्रकार और अन्द् अर्थात् धार्य करना अर्थात् अच्छी प्रकार धार्य (गीता) या उत्सव करने वाला।

२ 'सु' अच्छी प्रकार 'अन्वयति' प्रसन्न करता है अर्थात् जो अच्छी प्रकार प्रसन्न करे।

३ 'सुम्' शक्ति इति सुन्दरम् अर्थात् जो सुन्द (शक्ति) को लाए, वह सुन्दर कहलाता है। भाव यह है कि कौन्सी का सा तीक्ष्ण (गहरा) प्रभाव करने वाला उत्सव सुन्दर है।

अतः कहा जा सकता है कि सौन्दर्य वह उत्सव है जो उत्सव प्रदान करने के साथ-साथ मन पर गहरा प्रभाव भी डालता हो।

## काव्य और सौन्दर्य

काव्य का प्रयोजन भी सरसता के साथ-साथ मानव-मन पर गहरा प्रभाव डालना होता है। इसीलिए काव्य और सौन्दर्य का बहुत सम्बन्ध है। यह कहना गम्यवा न होगा कि काव्य का जन्म जिन धनुसूतियों से हुआ सौन्दर्य का उतने प्रमुख स्वभाव है किन्तु काव्य का सौन्दर्य अत्यन्त विचित्र और व्यापक होता है। कवि प्राकृतिक और बाह्य सौन्दर्य के इन दोनों पक्षों को ही अपनी कृति में संजोता है। काव्य के सौन्दर्य में वस्तु और अभिव्यक्तता का समुचित संयोग होता है; यद्यपि काव्यकार अपने प्रतिपाद्य को तो सौन्दर्य-निधि बनाता ही है, प्रतिपादन के साधनों का भी सुदृढ़-मगिष्ठ करता है। उसके काव्य में वे ही उपकरण बाह्य होते हैं जो स्वयं भी सुन्दर हों और कवि के प्रतिपाद्य को सौन्दर्यमानित कर सकें। इसीलिए सत्य और शिष्ट के साथ सौन्दर्य को भी काव्य का अपरिहार्य तत्त्व माना गया है।

## सौन्दर्य के विविध रूप

सौन्दर्य का विस्तार अत्यन्त व्यापक है फिर भी स्थूलतः इसमें चार भाग किये जा सकते हैं—

- १ मानवीय सौन्दर्य
- २ प्राकृतिक सौन्दर्य
- ३ वस्तुगत सौन्दर्य
- ४ कलागत सौन्दर्य

काव्य में नृत्यादिक भाषा में सौन्दर्य के ये चारों रूप उपलब्ध होते हैं क्योंकि काव्य सुन्दर उपकरणों के माध्यम से जीवन की अभिव्यक्ति है।

## उर्बशी में सौन्दर्य-तत्त्व

दिनकर जितने शोक के कवि हैं उतने ही सौन्दर्य के भी हैं। इनकी कृति में 'कसा का सर्वोपरि धर्म सौन्दर्य है। यही कारण है कि इनकी धर्म कृतियों का समान उर्बशी में भी सौन्दर्य-तत्त्वों का पर्याप्त सम्मिश्रण हुआ है। उर्बशी में सौन्दर्य के उपरान्त चारों रूप प्राधान्य से देख जा सकते हैं।

१ मानवीय सौन्दर्य—मानवीय सौन्दर्य को दो वर्गों के अन्तर्गत विभाजित किया जा सकता है—पुरुष का सौन्दर्य और स्त्री का सौन्दर्य। इनके भी दो-दो उपभेद किये जा सकते हैं—प्राकृतिक सौन्दर्य और बाह्य सौन्दर्य।

उर्बन्धी का नायक पुरूरवा है, जिसके माध्यम से विद्यप रूप स पुरुष सौन्दर्य की अभिव्यक्ति हुई है। इस अभिव्यक्ति में उसके घान्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के सौन्दर्यों का निरूपण हुआ है।

घान्तरिक सौन्दर्य से तात्पर्य है भावों का सौन्दर्य। इसमें सम्भेह गही कि पुरूरवा उषास भावों का व्यक्तित्व है। काव्यशास्त्र में नायक के माध्यम से पुरुष के इन घाठ गुणों को सात्त्विक प्रकृति घान्तरिक माना गया है—

‘शोभा बिभासो माधुर्य माम्नीर्य स्वैर्यतेजसो।

ससितौर्दार्यभिरप्यष्टौ सस्वभा पौरुषा गुणा ॥’

अर्थात् शोभा बिभास माधुर्य माम्नीर्य स्वरता तेज ससित और उषारता पुरुष के ये घाठ गुण सात्त्विक होते हैं। शोभा में नीच के प्रति पूसा और अधिक के प्रति स्पर्धा होती है तथा शीघ्र और वलता में बुल भी होते हैं। बिभास में चास और बृष्टि वैयपूण होती है और बचन सस्मित होते हैं। महान् सखोम के कारण के उपस्थित होत हुए भी जोमस बिकार का अल्पम होना माधुर्य कहलाता है। जिस गुण के प्रमान से बिकार दिखाई न पड़े सत मुख को गम्भीरता कहत है। विष्णों के समूह के होते हुए भी अपने कार्य स अक्षम न होना स्वरता गुण होता है। प्राणों की घापति धाने पर भी घाक्षप इत्यादि का न सहना तेज है। स्वाभाविक शृंगार और आकार को बेव्या करने को समित कहते हैं। बचनों के साध जीवन-पर्यन्त सभी कृष्ट दे देना प्रकृति सखनों के अनुकूल रहना उषाहरण है। पुरूरवा में ये सभी घान्तरिक गुण मिसते हैं—

✓ ‘पुकार हमारी सुती एक राजा ने

शौक पड़ मे सख उर्बन्धी की अविर्लभ वधाने  
और जहाँ नरबीर नृपति के वीर्य से भुजबल से  
मुपत हुई उर्बन्धी हमारी उस दिन काल-जबल से।

इस बक्तियों में राजा का शोभा भाव बलिग है। और भी —

✓ कातिक्य-सम धूर वैचताओं के मुद-अम शानी  
रवि-सम तेजबन्ध, मुरपति के सद्ग प्रतापी मानी



‘आ मेरे प्यारे सुविन ! धाम्नि ! धाम्नि-सर में मग्निबत करके  
हर लूंगी मन की तपन चाँदनी फूलों से सग्निबत करके ।  
रसमयी मेघमाला बन कर मैं तुम्हें घेर छा जाऊँगी,  
फूलों को छाँह-तले अपने अधरों की सुधा पिमाऊँगी’

गारी केवल कोमल कुसुम ही नहीं बल्कि बहुश्री कमी भी होती है ।  
उसमें बितनी प्रेम-भावना होती है उतना ही अपने सम्मान के प्रति बिद्रोह  
भी होता है । उर्बंशी में भी यही भावना दृष्टियोग्य होती है । उसका मत है  
कि यदि वह अपहृत की गई होती हो उसका अधिक सम्मान होता—

तो तो मैं आ गयी, किन्तु यह बसा ही माना है,  
अपहृतगत ने खींच अपना को जैसे निज बाँधों में ।  
पर, इत पाने में बिबिन् भी स्वाद कहाँ उस सुख रूप,  
जो सुख मिलता उन मनस्विनी बामलोचनाओं को  
जिन्हें प्रेम से उद्देहित बिबिनी बुझ बतवाती  
एक से जाते बीत या कि बल-सहित हृदय करते हैं ।

प्रमिदा के प्रतिरिक्त उर्बंशी मां भी है । उसका हृदय मात्स्य भावों से  
परिभोत है । वह क्षिप क्षिप कर धाम्नि को दखने के लिए बन में घाती है और  
पंक्तिम विन अपना सारा बुझार अपने प्रिय पुरुष पर उद्देतकर नी अधृष्ट ही  
बनी रहती है । बलुत मां के प्यार की कोई सीमा नहीं होती । धाम्नि की  
भीती दृष्टि में उस उपस्त विरह का बमक दिखाई बड़का है—

‘घरी देखती नहीं ताल की लहूँ-लहूँ धाँजों में  
अब भी तो कुस्पष्ट स्वयं के सपने मलक रहे हैं ?  
दुन्दुर-दुन्दुर सम्पुष्ट भाव से बँते ताक रहा है ?  
यामो हो कब झ सच बर्षों समय बैबों-ता ।

‘उर्बंशी’ में गारी का एक और रूप है जिसके माध्यम से बहि को गारी  
बन के मोन्दर्य को धीकृत करने का अर्थकाय मिला है । वह है परिणीता का  
रूप । नुबग्या अवन-अधि की समपत्नी है । पत्नी के लिए अपना पति ही  
सब कुछ होता है । उसे अपने पति पर दख होता है । यही परिणीता  
भावों की उन्नतभूमि है । नुबग्या को भी अपने पति पर बर्ष है—

धनद-सदृश संप्रही, ध्योवबत् मुक्त अस्त्र निभ त्पायी  
कुसुम-सदृश मधुमय, मनोज्ञ, कुसुमायुज से धनुरामी ।

ध्यात्वरिक सौन्दर्य की तरह पुरुरवा के बाह्य सौन्दर्य का बर्णन भी कवि  
ने किया है किन्तु वह अपेक्षाकृत बहुत कम है । यह बर्णन भी स्वयं पुरुरवा  
के शब्दों द्वारा ही व्यक्त हुआ है—

✓ यह शिला-सा बस ये चट्टान-सी घेरी मुझए  
सूर्य के घालोक से बीपित समुगत जाल  
धौर धाग का सापर समय उताल उच्छल है ।

उर्बशी के सौन्दर्य-निरूपण में कवि का मन पूरा रहा है । यद्यपि इसका  
भी ध्यात्वरिक सौन्दर्य ही अधिक है पर बाह्य सौन्दर्य का भी पर्याप्त संकेत  
हुआ है । यथा—

✓ जाल जाल के बरज कमल-से (कुसुम)-से बाबक-से  
तन की रनितम कांति सुख, ज्यों धुमी हुई पाबक से ।  
बागभर की मामुरी अक्षय अक्षरों में बरी हुई-सी,  
आँखों में बाबकी रंग निजा कुछ परी हुई-सी,  
तन-अर्कांति मुकुनित अतस्त ऊपारों को साली-सी,  
नूतनता सम्पूर्ण जगत की सञ्चित हरिपाली सी ।  
एग मड़ते ही कूट पड़े विद्रुम प्रवाल बूलों से  
जहाँ जड़ी हो वही ध्योम पर आस श्वेत फूलों से ।

× × ×  
✓ सुरपुर की कौमुदी जालित कामला इन्द्र के मन की  
सिद्ध चिरायी की समाधि में राम बनाने वाली  
देवों के शोषित में मधुमय प्राप लपाने वाली,  
रति की पूर्ति रमा की प्रतिमा लुपा बिदम्बय कर की,  
विष्णु की प्राणरवरी धारती-सिखा काम के कर शोभे

धीस यादि पुण्य बारी के ध्यात्वरिक सौन्दर्य के अन्तर्गत आते हैं । उर्बशी  
में धीस का अभाव छापर धरंभित है । वह प्रेमती के रूप में प्रेम भाव से घेत  
श्रेष्ठ है । वह अपने प्रेम के समस्त अपना सर्वस्व बलिदान कर देती है—

‘आ मेरे प्यारे तुवित ! धाम्त ! धाम्त-सर में मञ्जित करके  
 हर नूतनी मन की तपन चाँदनी कूनो से सञ्जित करके ।  
 रसमयी मेघमाजा बन कर मैं तुझे घेर छा चाँदनी,  
 फूलों की छाँह-तने अपने अक्षरों की तुभा पिलाऊँगी’

मारी केवल कोमल कृसुम ही नहीं बरन् बहुकृती कभी भी होती है ।  
 उसमें जितनी प्रेम भावना होती है उतना ही अपने सम्मान के प्रति विद्रोह  
 भी होता है । उर्बची में भी यही भावना दृष्टिगोचर होती है । उसका मत है  
 कि यदि वह अपहृत की गई होती हो उसका अधिक सम्मान होता—

‘तो तो मैं आ पमी, किन्तु यह बैसा ही प्राणा है,  
 अयस्कान्त है जीव अयस को जैसे निज बाँहों में ।  
 पर, इस अने में किञ्चित् भी स्वाह कहाँ उस सुख का,  
 जो सुख मिलता उन मनस्विनी बामलोचनाओं को  
 जिन्हें प्रेम से उद्देगित बिकम्पी पुरय बलप्राप्तो  
 रण से लाते जीत या कि बस-अहित हरय करते हैं ।’

अधिका के प्रतिरिक्त उर्बची मां भी है । उसका हृदय वास्तव्य भावों से  
 परिप्रेत है । वह छिप छिप कर प्रायु को देखने के लिए नग में घाटी है और  
 अंतिम निज अपना साथ बुनार अपने प्रिय पुत्र पर उड़ककर भी अतृप्त ही  
 बनी रहती है । वस्तुतः मां के प्यार की कोई सीमा नहीं होती । प्रायु की  
 भीनी दृष्टि में उसे समस्त विश्व का बमब दिखाई पड़ता है—

‘अरी बैकती नहीं ज्ञान की नग्ही-नग्ही आँखों में  
 अब भी तो सुस्वप्न स्वयं के अपने अस्तक रहे हैं ?  
 इकुर-इकुर तन्तुप्य भाव से जैसे ताक रहा है ?  
 मानो हो सर्वज्ञ सर्वबली समर्थ बैबो-ता ।’

‘उर्बची’ में मारी का एक और रूप है जिसने माध्यम से कवि को मारी  
 मन के सौन्दर्य को अंकित करने का अवकाश मिला है । वह है परिणीता का  
 रूप । मुकग्या अयबन-अपि की बमपत्नी है । पत्नी के लिए अपना पति ही  
 सब कुछ होता है । उसे अपने पति पर गर्व होता है । यही परिणी—  
 भावों की उच्चमूर्ति है । मुकग्या को भी अपने पति पर गर्व है—



‘किन्तु, विनसेजे ! मुझको अपने महुँचि भर्ता पर  
ग्लानि नहीं, निस्तीम एव है।’

२ प्राकृतिक सौन्दर्य—सौन्दर्य का दूसरा रूप है प्राकृतिक सौन्दर्य ।  
इस रूप के अन्तर्गत प्रकृति के सौन्दर्य का वर्णन होता है । धनादिकान्त से  
ही प्रकृति अपने सौन्दर्य का अमित भण्डार मानव के सामने कोसती आई है  
धीर मानव बधाचकित उसके सौन्दर्य को ग्रहण करके अपनी सौन्दर्य-रूपा को  
अमित करता आया है विनकर के काव्यों में प्राकृतिक सौन्दर्य को पर्याप्त स्थान  
मिला है धीर ‘बर्बशी’ में तो यह स्थान धीर भी विस्तृत हो गया है क्योंकि  
अन्य काव्यों की अपेक्षा कवि को इस काव्य में प्रकृति के रम्य रूपों को अकित  
करने का अधिक अवसर मिला है ।

‘बर्बशी’ का प्रारम्भ ही प्राकृतिक सौन्दर्य से होता है । वसन्त ऋतु में  
बृहन्न पक्ष की बर्बशी रात में प्रकृति अपनी सोमा की बराकाष्ठा पर पहुँच  
जाती है । इसी पराकाष्ठ को देखकर ‘बर्बशी’ का कवि कह उठता है—

नीचे पृथ्वी पर वसन्त की कृतुप-विभा छाई है  
ऊपर है अक्षमा डारसो का निर्मोघ मयम में ।  
सुली नीलिमा पर बिकीर्ण तारे धों बीप रहे हैं,  
बमक रहे हों नील धीर कर बूटे क्यों बारी के,  
या प्रधान्त, निस्तीम जलवि में जैसे बरज-बरज पर  
नील धारि को फोड़ ज्योति के बीप निकल धाये हों ।

× × ×  
‘इन होपों के बीच अग्रजना मन्द-मन्द चलता है,  
मन्द-मन्द चलती है नीचे बामु जलत मधुवन की;  
अद-विह्वल कामना प्र म की, मानो अलसायी-सी  
कृतुम-कृतुम पर विरज मन्द मधु-मधि में घूम रही हो ।’

प्रकृति की यह सोमा इतनी अपना धीर मादक है कि इसने जपत को  
ही, मुझ नहीं किया बरन् वह स्वर्ब अपना धापापन मूल गई—

‘स्वच्छ कीमुदी में प्रधान्त अघती धों बमक रही है  
रम्य रूप तब कर जैसे ही तब गई बर्बन में ।’

दासि शांति तब धोर मंजु, मानो जगिदा-मुहुर में

प्रकति बैक धपनी दीधा धपने को भूल गई हो।

कहने का अभिप्राय यह है कि 'उर्बन्धी' में प्रकृति के उस रम्य रूप को व्यपनाया गया है जिसमें प्रकृति का सौन्दर्य सबम छत्रकता रूप दिखाने देता है।

३ बस्तुगत सौन्दर्य—सौन्दर्य का तीसरा रूप है बस्तुगत अथवा वर्ण्य विषय का सौन्दर्य। किसी भी उत्तम काव्य के लिए यह आवश्यक माना गया है कि उसकी कथावस्तु उदात्त हो। कथावस्तु की उदात्तता ही उसका सौन्दर्य है। इसी सौन्दर्य की सुरक्षा के लिये कवियों ने एक मध्यम सह मध्य कोपना को है कि उत्तम काव्य की कथावस्तु प्रस्तावत ही धीरे उर्बन्धी परिणति मन, धम काम अथवा मोक्ष में हो।

इसमें ठनिक भी उम्मेद नहीं है कि 'उर्बन्धी' की कथावस्तु उदात्त है। वह उर्बन्धी प्रस्तावत है कि बेह-काम से बचकर मागतीय कवियों के हृदय को हृदी रही है। इसकी सुन्दरता या प्रबलियुता बताने रखने के लिये कवि ने सर्वत्र लक्ष्य योजना की है। इसके नायक और नायिका भी उन सभी गुणों से सम्पन्न हैं जो एक उदात्त कथावस्तु के नायक और नायिका के लिए अपेक्षित हैं।

यह कथा केवल कन्दला के सुनहले बंधों पर उभरकर धाकाय न उड़कर ही धपम् नहीं कर देती बल्कि मानव जीवनक निपुण रहस्यमें पठकर धपनी सुन्दरता में धार काय लमा लेती है। यह निपुण रहस्य है काम का स्वरूप। मानव जीवन में काम की समस्या जिसकी सहज धीरे स्वाभाविक है, उर्बन्धी ही निपुण धीरे रहस्यमयी थी है। काम ही बस्तुगत को धिपकर धपुता है स्तर तक पहुँचा देता है धीरे मही उसे उदात्त कर बेबाध की धपनी में दिख देता है। धम काम का उदात्तकरण मानव-जीवन की सर्वोत्तम सफलता है और यही उसके जीवन का ध्येय है।

यही है प्रस्तुत काव्य का वर्ण्य-विषय जो धपनी धारकता तथा प्रतिधारणता के कारण धपन्य महत्त्वपूर्ण है। इसका धम काम-धार्मिक में दिखाना गया है

ओ घपनी चरम कीटि पर पहुँच कर मानव को वैराग्य की भावनाओं की ओर सम्मुख कर सकता है।

इतनी महती भावनाओं से परिप्रेत वस्तु में कितना सौम्य है इसकी कल्पना करना भी आसान नहीं है।

४ कलागत सौन्दर्य—कलागत सौन्दर्य से तात्पर्य अभिव्यञ्जना के सौन्दर्य से है। विषय अथवा प्रतिपाद्य चाहे कितना शीघ्र-सुकुट हो यदि उसकी अभिव्यक्ति में सौन्दर्य नहीं है तो उसका प्रभाव निष्प्राण ही बात है। इसीलिए सफल कवि कितना प्रतिपाद्य के सौन्दर्य का ध्यान रखते हैं, उतना ही प्रतिपाद्यन अथवा अभिव्यञ्जना के प्रति आसक्त रहते हैं। अभिव्यञ्जना के सौन्दर्य के अन्तर्गत मुख्यतया शब्द-सौन्दर्य, नाद-सौन्दर्य, संगीत-सौन्दर्य और वाक्य-सौन्दर्य का विवेचन अपेक्षित होता है।

शब्द-सौन्दर्य का आधार है भावानुकूल शब्दों का चयन। हिन्दी-साहित्य में पद्य की घपनी इस प्रकृति के लिए विशेष प्रसिद्ध है। दिनकर ने भी शब्द चयन की क्षमता कम नहीं है। यथा—

कौन भादिनी है ओ संयज तुम और प्रियतम में  
 कित्ती एक की मेकर तुम से जामु बिता लक्ष्मी है?  
 कौन पुरण्डी तज सकती है पति के लिए तनप को ?  
 कौन सती तुम के निमित्त स्वामी को त्याग लकेपी ?

इन पंक्तियों में भादिनी पुरण्डी और सती शब्दों का प्रयोग कवि की सूक्ष्म शब्दार्थ-विद्वत्ता का परिचायक है।

शब्दार्थ की सूक्ष्मता के साथ-साथ कवि को सुन्दर-नाद का ज्ञान होना भी आवश्यक है। शब्द-नाद से शर्ष-साम्य की ओ ध्वनि मुलकित होती है उसके प्रभाव कई मुना बढ़ जाता है। यथा—

‘आन्ति आन्ति तज ओर किन्तु यह बबबन-बबबन स्वन केंतम् ?  
 घतल ब्योज-उर में ये केंते नूपुर मजक रहे हैं ?

यहाँ पर ‘बबबन-बबबन’ से नूपुरों के स्वर मुलकित हो चठे हैं।

साहित्य में संगीत का विशेष महत्व है। भर्तृहरि ने तो संगीत से विहीन

ननुष्य को बिना सौंग-पूछ का पम्पु बताना ही है महाकवि वाक्छपीयर के उठे  
 धमदोह और अणकार का पात्र माना है। संगीत दो प्रकार का होता है—  
 धम-संगीत और स्वर-संगीत। धम-संगीत में लय के साथ स्वर-साम्य होता  
 है। स्वर-संगीत में स्वर-साम्य अपेक्षित नहीं। जबर्दगी में दोनों प्रकार के  
 संगीत मिलते हैं। यथा—

जब तक यह पात्रक धम तभी तक सजा-मित्र त्रिभुवन तेरा,  
 चलता है भूतल छोड़ बादलों के ऊपर स्थानन तेरा।  
 जब तक यह पात्रक धम तभी तक सिन्धु सपाहर करता है  
 अपना समस्त अणि रत्न-कोय खरपों पर लाकर धरता है।

—धम-संगीत

'धमप्रभुत दोनों विक्रम हैं हरम हो कि मिनाटन  
 और हरम करता न किसका? जल सौन्दर्य सुधा का  
 जो देवों की शान्ति इन्द्र के दूध की शीतलता थी।'

—स्वर-संगीत

अलंकार-सौन्दर्य का अन्वित्राय है अलंकारों का सहज तथा स्वाभाविक  
 प्रयोग। काव्य में अलंकारों का क्या स्थान है? इस प्रश्न के उत्तर में दो  
 मत हो सकते हैं, किन्तु काव्य में अलंकारों के सहज और स्वाभाविक प्रयोग  
 के जो सौन्दर्य पाता है उसे कोई भी अस्वीकृत नहीं कर सकता। अलंकारों  
 के दो भेद हैं—व्यंग्यालंकार और अर्थालंकार। सफल कवि दोनों प्रकार के  
 अलंकारों से ही अपनी अविभ्यंजना का सौन्दर्य बढ़ाते हैं। 'जबर्दगी' में ये दोनों  
 प्रकार के अलंकार मिलते हैं। यथा—

'जुली नीलिमा पर बिकोब तारे में दीप रहे हैं  
 बमक रहे हों नील खीर पर बूट श्यों खारी के।

—धनुप्राय व्यंग्यालंकार

शान्ति-शान्ति सब धोर मंजु, मानो अग्निका मुहुर में  
 प्रकति देल धरनी शोभा अपने को भूस पर्य हो।

—उपमा अर्थालंकार

### सौन्दर्य की व्यापकता

सौन्दर्य की व्यापकता का बखान करना भारतीय कवियों की विशेषता रही है। गोस्वामी तुलसीदास ने सीता के सौन्दर्य को इतना व्यापक बताया कि समूचे ससार में उसी के सौन्दर्य का प्रतिबिम्ब दिखा दिया। सुफ़ी-कवि जायसी ने पद्मावती के सौन्दर्य से ही सूर्य और चन्द्रमा को बीपित बताया। यही परम्परा दिनकर के सौन्दर्य-विवेचन में परिसिद्धि होती है। उर्बशी कहती है—

कब था ऐसा समय कि जब मेरा अस्तित्व नहीं था ?  
 कब था ऐसा वह भविष्य जिस दिन मैं नहीं रहूँगी ?  
 कौन पुरुष जिसकी समाधि में मेरी भक्तक नहीं है ?  
 कौन बिया, मैं नहीं राखती हूँ जिसके यौवन में ?  
 कौन लोह कौबती नहीं मेरी इहिनो जहाँ पर ?  
 कौन मेघ जिसको न खेज न धबनी बना चुकी हूँ ?

अपनी इसी व्यापकता के कारण सौन्दर्य जब बरातल से उठकर आत्मा के उस बरातल को सूँ पाता है जहाँ सीमा के बरकन नहीं होते और जहाँ सौन्दर्य में इतना बस था जाता है कि रूपही मारी का स्वर्णचन सातों अम्बरों तक चढ़ने लगता है—

‘बिस्ताम की गहरों के समान सौन्दर्य-गहर में भी है बस सातों अम्बर तक उड़ता है कप ही नारी का स्वर्णचन ।



लीन बुद्धियाँ समझाते हैं। लोग तो इसे अंधविश्वास कह देते हैं मगर अज्ञानियत यह है कि कभी-कभी ऐसा देखा गया है कि सब में प्राण-वायु छेप रहता है जो अन्न के स्पर्श से चापूत हो जाता है। इस प्रकार मनुष्य जीव-हरया से बच जाता है। इसी प्रकार गाँवों में दिगंबर विवाह-शादी के अवसर पर अनेक गीत गाती हैं तथा नगराओं के अवसरों पर साम्प्रदायिक रचती हैं जिससे देखा जाय तो साहित्य एवं चित्रकला आदि का काफी विकास होता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्राचीन बर्चार्प संस्कृति का रूप ग्रामों में ही मिलता है।

### साहित्य और संस्कृति—

कवि अपना साहित्यकार बेतार के तार के घ्राहक-मग्न के समान है। जिस प्रकार घ्राहक-मग्न सम्पूर्ण वायुमण्डल में से अपने मतलब की सूचनाओं को ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार कवि भी अपने समय के वायुमण्डल को अपनी सूक्ष्म दृष्टि से देखता है और उसे अपने दृष्टिकोण से अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है। अर्थात् कवि जीवन की वास्तविकताओं को बड़ से पकड़ता है और कल्पना का आधार लेकर उसमें मौलिकता प्रदान करता है। जैसे संस्कृति का अर्थात् स्वल्प तो लोक-कवि की रचना ही में मिलेगा लेकिन जीवन के कुछ मानसिक तत्वों को जानने वाला कवि भी अपने काल में बसित धारावाहिक के आधार पर उस देश की सामाजिक राजनीतिक आर्थिक एवं नैतिक परिस्थितियों का चित्रण करता है।

### वेद-पुराण-काशीन संस्कृति—

चूंकि दिगंबर भी की 'उन्नति' छवि के आस्थान का मूलाधार वेद-पुराण काशीन संस्कृति है, अतः उत्कालीन संस्कृति की पृष्ठ-भूमि को जान लेना आवश्यक है जिससे काल में संस्कृति के मूल तत्वों को सरलता से बताया जा सके।

१ सामाजिक परिस्थितियाँ—वैदिक युग में समाज का आधार परिवार था। दो बरुं के—पार्य और शत्रु। ऋषियों में आश्रम-व्यवस्था थी। मनुष्य

के जीवन की बहुरूप्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास इन चार घासों में बँटि रखा था। महाभारत के समय ब्रह्मव्यवस्था तो थी किन्तु जाठ-पाठ नहीं थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र वर्णानुसार माने जाते थे वर्णानुसार नहीं। उस समय समाज में घात प्रकार के विवाह प्रचलित थे—ब्राह्म विवाह, प्राजापत्य विवाह धर्म रैव मासुर गान्धर्व रासस और पंचाच। वैदिक युग में स्त्रियों का बड़ा मान तथा धावर था किन्तु पीरयुग युग में स्त्रियों की स्थिति समाज में गिर रही थी। वे पुरुषों की सम्पत्ति समझी जाने लगी थी।

२ सांस्कृतिक परिवर्तितियाँ—वैदिक काल में यज्ञ-यज्ञ की पूजा मनों में घातित बलकर की जाती थी। एक ही ईश्वर का रूप प्रकृति की माना चक्रियों में धमि सूर्य, वायु, बल, धाकाय तथा पृथ्वी में विभिन्न रूपों में चमक रहा है। इन्द्र धमि बस्य तथा सूर्य की स्तुति होती थी। महाकाव्य युग में धर्म में बड़ा धमर का गया देवी-देवताओं की पूजा शुरू हो गई थी। पंचमय (देवयज्ञ ऋषियज्ञ पितृयज्ञ भुयज्ञ तथा भूयज्ञ) होते थे। उभा सोर राजगुह और धरचमेय तथा पुनष्टि यज्ञ करते थे। पुनर्जन्म पर पूर्ण विदवात था। वीरयुग युग में गौ-ब्राह्मण तथा ऋषियों की प्रतिष्ठा वेद की प्रामाणिकता परलोक और पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर बहुत बल दिया गया था।

३ राजनीतिक परिवर्तितियाँ—वैदिक युग में घासन-व्यवस्था बहुत चलत थी। धर्म-जाति कई समूहों में बँटी हुई थी। इनका मुलिया राजा होता था। यह धाम बंध क्रमागत होता था किन्तु उस समय प्रत्येक राजा को बहु शक्ति करनी पड़ती थी कि वह प्रजा का भली भाँति पालन करेगा। प्रजा तथा राजा के निर्बन्ध के लिये एक समिति होती थी। राज्य के मुख्य धमिकाटे दुरोहित सेनापति तथा धामौण होते थे। महाकाव्य युग में भी राजतन्त्र घासन प्रस्ताती प्रचलित थी। राजा बंध-क्रमागत होता था। ब्राह्मण धर्म ऋषियों का राजा धावर करता था। धावर्य राजा का यह वर्तव्य था कि वह विद्वैतों पर धावाचार न करे, सीमा का धमिकरण न करे और भन,



कम तथा बचन से प्रजा के हित की कामना करे। पौराणिक युव.में राजतन्त्र का पूर्ण विकास हो गया था।

इसके प्रतिरिक्त उत्तमसीन पौराणिक कथाओं, उत्सवों, विभिन्न उत्सवों (नामकरण, गोचारण मस, विप्रपुत्रा याचकों को दान धारि), शृंगार तथा विद्यभूषा धारि का भी संस्कृति में प्रमुख महत्त्व है।

उर्वशी श्रीर संस्कृति

प्रथम ईशाना यह है कि कवि ने उर्वशी में वेद-पुराण-कामीन संस्कृति का किठना निर्वाह किया है।

सांताधिकपरिस्थितियों—उर्वशी में 'सांताधिकपरिस्थितियों' का पर्य वेक्षण करने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकलता है कि उमात्र में धाम्य-व्यवस्था थी। घाटे-प्रकार के विवाहों में उच्च समय बाह्य विवाह (पुकरवा का श्रौचीनरी से विवाह) याग्यर्ष तथा राजस विवाह प्रचलित थे। पुकरवा का गन्धमादन पर्वत पर उर्वशी के साथ जाना और परस्पर प्रेम में मानह होकर विवाह करना पाम्थर्व विवाह है लेकिन उर्वशी के मुख से कवि ने इस बात का भी संकेत दिया है कि उच्च समय राजस-विवाह भी होता था जिसके अनुसार बबरदस्ती कर्मा का प्रपहरण कर लिया जाता था। यथा—

‘बिन्हूँ प्रथ से यहँलित बिकमी पुद्व बलघानी  
रग के जाते जीत मा कि बल-सहित हरण करते हूँ।

× × ×

हरण किया क्यों नहीं जात जाते में परि प्रपयता था।

श्रौचीनरी के माध्यम से कवि ने उत्कालीन 'भारी-बनाज' की दयनीय स्थिति का चित्र खींचा है—

“प्रबलन्त्र हूँ सबको नगर नारी बहुत अछहाय है।

बुद्ध बर्ष बचनानो नहीं

मन की व्याधा धारो नहीं

नारी उठ बी हूक मन में बीज पर लामो नहीं!”

× × ×

“अन छोड़ बिमि मे तिरजा क्या धीर भाग्य जारी का ?”

× × ×

जारी किया नहीं यह केवल जामा धाम्ति बरजा है ।

× × ×

इस ही जाती हैं कठार्थ अपने अधिकार यथा कर ।

इसके प्रतिष्ठित उत्कालीन समाज में ‘विभिन्न संस्कार’ के विभक्त  
उत्कालीन समाज बड़ी श्रद्धा से पालन करता था यथा—

(i) पिधु का यौवारण—

द्विज कुछ दिन में धीर तनिक  
बढ़ कर प्रति दिन बाण्डा  
होम अनुष्ठान को लेकर  
बोचर-अनुष्ठान विपिन में ।

(ii) वैद-वाह—

द्विज बहिन होकर महर्षि  
के साथ यज्ञ-वेदी पर  
बैठ हमारा जाम मंत्र—  
पढ़-पढ़ कर हवन करेगा ।

(iii) विप्र-युजा तथा वाद—

‘इत्यायुत्र मे पुक पर्वों में नमस्कार करता हूँ ।

(iv) वादकों को धान—

हार खोल बी कोय भजन का  
कह जो पौर जनों से  
जितना भी चाहें, सुख—  
पाकर से जा सकते हैं ।

(v) बाहु-टोने के रूप में संयत-कलस को शुभदायक मानना—

या कोई कपली जन्मना बँटी जाय रही ह  
× × ×  
द्विज की धीर अन्तःकरण संबंध निराकलस समाहट ।

धार्मिक परिस्थितियाँ—उर्ध्वी में राजा प्रजा तथा ऋषि-ब्राह्मणों की  
यज्ञों के प्रति बड़ा तथा प्रकृति की सम्पूर्ण सन्तुष्टि-सम्पन्न श्रद्धाया गया है।  
पुरुषार्थ द्वारा पुनर्जा के लिए नीचिपय यज्ञ करना इस बात का प्रमाण है—

‘एक श्व पर्यन्त तन्वमादन वर ह्येन विचरेते  
प्रत्यागत ही तन्विवेप नामक गुण यज्ञ करेवे।’

प्रकृति में ईश्वर की अद्वैत शक्ति का दर्शन करना ही तो तीसरे सर्व की  
कहीं से पद देखिये उसका श्रेष्ठ प्रमाण मिल जायेगा। बहिष्कृत काल में इन्द्र,  
धमि, बरुण तथा सूर्य की स्तुति होती थी। कवि ने भी इसका पूर्ण निबन्ध  
किया है—

भूदान करें धर्मना बरुणन उत्तर श्योम-मङ्गल से  
धनिपुत्र सोम ग्रहण करने की धाते रहें नुबन में।

बहुत रत्न प्रकृतिलिख निरन्तर धावहृतीय धवज को  
रहे इच्छि ह्य पर धभीष्ट-वर्षी धमोष यथा की।

धमोष प्रसंग न धाने के कारण कवि ने पंचमङ्गल तथा राजसूय यज्ञ  
आदि का उल्लेख नहीं किया है। हाँ स्वान-स्वान पर पुनर्जा की महत्ता,  
गो-ब्राह्मण की प्रतिष्ठा आदि का बरण है—

(i) परसोकनाय या पुनर्जन्मनाथ—

तुम्हें जोबता फिरा तीरकर  
बारम्बार मरने को  
जन्मों के धनेक कुंजों  
बीबियों धार्चनाधी में।

× × ×  
धरी ही थी तपन जिते कुंजों के कुंज-नगन में  
जन्म जन्म के तुम धार्तिगत से हुरती धायी हो।

(ii) नीचे की चार पंक्तियों में धीधों के प्रति सेवा भाव तथा ब्राह्मणों  
एवं ऋषियों के प्रति सम्मान का नाशयुक्त भाव दर्शित है—

धिर कुछ दिन में धीर तनिक बढ़ कर धतिरिन धाय्या  
होय धनुषों को लेकर धोकर-धनुकूल धिपिन में

घोर सौंभ के समय बराबर उन्हें लौट आया  
तिर पर पीछा बोम्ब लिए, कुछ, जर्म घोर समिधा था।

राजनीतिक परिस्थितियाँ—बैदिक-युवीन शासन-व्यवस्था की धारि  
पुकरवा की शासन-व्यवस्था बड़ी उन्नत दिखलाई गई है। वेद-पुराण  
राजीन राजनीतिक यति-विधि का जर्बंदी में बिनाग देखाय—

(1) राजा बंध कमावत हाता था। पुपहीन होने पर राजा की यह  
बिन्ता इस तरह पर पूर्णतः प्रकाश जालती है—

पुत्र ! पुत्र ! धरने यह में क्या शोषक नहीं जलेगा ?

बैबि ! बिम्ब यह ऐस बंध क्या धाये नहीं जलेगा ?

(ii) राजा प्रजा के हित का महानिज धाकाती रहता था। बहु म्याप-  
प्रिय तथा बूझने बैध की सीमाओं का धनतिकमण करने वाला होता था।

जर्बंदी के मुख से धामु के बिपय में कहलाई गई निम्न पंक्तियाँ देखिए—

कब होया यह धूप प्रचुर धन-मान्यबली नु होपी

रोष, धोक परित्राप धाप धमुधा के धर आएय।

बूझने बैध की सीमाओं के धनतिकमण के सम्बन्ध में पुकरवा के मुख  
से नहीं गई निम्न पंक्तिओं की देखिये—

नहीं बड़ाया कभी हाप पर के स्वाधीन मुकुट पर

न तो किया संघर्ष कभी पर की बनुया हरने को।

(iii) राज्य के मुख्य धमिधारी सेनापति पुरोहित तथा धामीण होते  
थे। जर्बंदी में इन तीनों की तंगति पांचवे धर्म में दिलाई है। सभी समाधर'  
के रूप में धामणी, पुरोहित 'बिम्बधमा' तथा महामात्य का इस धर्म में  
बिलुप्त करिधम दिया गया है।

(iv) राजा अधि तथा बाह्यण का सम्मान करता था—

पुष्पीधर के धिना तत कब मिलते हैं राजा की

इलापुत्र न पुक पर्वों में नमस्कार करता हू।

धामात्रिक राजनीतिक एवं धामिक परिस्थितियों के धतिरिक्त कुछ  
धन्य धन्य भी है जो तत्कालीन संस्कृति का बोध करवाते हैं। यथा—

ध—बीरालिक कधारें

## उर्वशी में नारी का स्वरूप

साहित्य और समाज का घट्ट सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरे को प्रभावित भी करते हैं और स्वयं भी प्रभावित होते हैं। यदि समाज साहित्य सूजन-ग्रामही होता है तो साहित्य उस सामग्री के समोन्नत से समाज चित्रण करके उसका मार्गप्रदर्शन भी करता है। इसीलिए कोई भी साहित्यकार, चाहे वह अपनी कृति में किसी भी युग का चित्रण कर रहा अपने समाज से बाँटें मूँह कर साहित्य की रचना नहीं कर सकता।

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि बिनकर व्यापक साहित्यकार है। चाहे जिस युग को अपने काव्य का प्रतिपाद्य बनायें किन्तु इनकी धारणा अपने युग पर रहती है। उर्वशी में नारी के स्वरूप-चित्रण में भी इनका यह प्रकृत स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। समाज का युग द्वितीय-साहित्य के उक्त युगों से एकदम भिन्न है जब नारी को केवल काम की पुस्तिका और बाह्य सौन्दर्य की निधि माना जाता था। जब कवियों की दृष्टि नारी के केवल शरीर तक ही पहुँच पाती थी उसकी धारणा में पैठने की कवियों धरित नहीं थी। समाज का कवि नारी की धारणा में पैठकर उसके वास्तविक स्वरूप का विश्लेषण और विवेचन करता है। समाज के समाज में नारी का महत्वपूर्ण स्थान निर्विवाद रूप से स्वीकृत किया जा चुका है तभी तो दिनकर ने कहा है—

“नारी के भीतर एक और नारी है जो अगोचर और अविद्यमान है। इसी नारी का संघर्ष पुरुष तक जाता है जब शरीर की धारा उछालते उछालते, उसे मन के समुद्र में फेंक देती है जब वैदिक धर्मना से परे, वह प्रकृत की दुर्गम समाधि में पहुँच कर निरपेक्ष हो जाता है।”

नारी का यह रूप विद्येय है, जिसका संवाग सभी हो सकता है जब मनुष्य उसके शरीर के सुन्दर आवरण को भेद कर उसकी आत्मा में प्रवेश करे। 'उर्बची' में नारी-आत्मा में प्रवेश करके उसके वास्तविक रूप का समान किया गया है।

'उर्बची' में नारी-स्वरूप का विरमयण का विघासों से किया गया है—

- १ नारी के विभिन्न रूपों के हाग।
- २ नारी के विविष्ट गुणों के हाग।

नारी के विभिन्न रूप

'उर्बची' में तिन नारी-रूपा को मिया गया है, उन्हें चार वर्गों में रखा जा सकता है—

- १ नारी का उच्छ्रसत-रूप।
- २ नारी का प्रेमिका-रूप।
- ३ नारी का पत्नी-रूप।
- ४ नारी का माता-रूप।

*उर्बची को ६५ २२*

१ नारी का उच्छ्रसत रूप—नारी के उच्छ्रसत रूप के अन्तर्गत अम्बरामों की मनोवृत्ति का वर्णन माता है। य अम्बरामें पक्षि सौन्दर्य की अपार संपि है ये मनमोहिनी अमुक्त प्रेम की जोषित प्रतिमाएँ, मदिग नयनों से देवों की गल-अवाप्ति हुग्न करने वाली स्वर्णसाक की अम्बरिना और काम के मन की कामना है तथापि इनका मन उच्छ्रसत है किसी प्रकार का अम्बर इन्हें स्वीकार नहीं। इनका जगम ही अपने मन को मोद में भरने के लिए हुगा है—

अवधो हम किर्नाए ? मोर लखे मन में मरने को।

किन्तो एक को नहीं पाव जीवन अर्पित करने की।

मदिह हमारी नहीं लेकित किन्ती एक अमान में

किन्ती एक के लिए मुरनि हम नहीं संजोती तम में।

यही कारण है कि इनका मन संयम में हम और उच्छ्रसत है। इनमें कामनाओं का अर्पित आगर शरीरगत होता रहता है और इन तरंगों में वे बुगों को इशोर पीड़ा के अघाह भाव में अम्बर देनी है—

रचना की बिना जपाती पर, न स्वयं रचतीं हम  
बंकर कहीं बिबिध पीड़ाओं में न कभी रचतीं हम  
हम सागर-भात्मका सिन्धु-सी ही असीम उच्छल हैं,  
इच्छाओं की अमित तरपों से भँकत बचल हैं।

अप्सरार्यों का नाम अग्य दूबों को बिबिध पीड़ाओं से पीड़ित क  
होता है। ये स्वयं प्रेम की पीड़ा से अमनित होती हैं। यही कारण है  
इनके प्रेम में समर्पण की भावना नहीं होती और इधीलिए इनका मन नि  
एक सीमा में बन्दी बनकर नहीं रहता। ये तो न जाने कितनों की बाहो  
समाई रहती हैं। अपने इस 'हरजार्डपन' पर इन अप्सरार्यों को लज्जा न  
बराह बर्ब है। इनके मन में क्य ही सब कुछ है भावना कुछ भी नहीं  
इधीलिए इन्हें भूलोक की प्रेम-भावना से सप्त भफरत है। इसी भफरत  
अभिव्यक्ति रंघा इन अर्भों में करती है—

अहाँ प्रेम राबसी भूख से अण-अण अकुताठा है  
प्रथम प्राप्त में ही अोवन की अ्योति नियत आता है  
बर देता है भून क्य की अणक अाभिवन से,  
अधि को अभाहीन बर देता ताप-सप्त अुम्बन से  
पताभर का अयमान बना देता अाटिका हरी को  
और अूमता रहता फिर सुम्बरता की ठठरी को।

निष्कर्ष यह है कि अप्सरार्यों के माध्यम से कवि ने नारी के उच्च रूप को  
बिभल किया है जो शरीर की सुन्दरता को भी सब-कुछ मानता है जिस  
कारण मन अहंकार और उच्छ्रलता से अरा हुआ होता है। अस्तुतः नारी  
का यह रूप नारी-अोवन का अोबलापन है। अुम्बरी-अाटा की ना

२ नारी का प्रेमिका-रूप—अब नारी किसी एक अ्यवित के प्रति अयन-  
सर्वस्व समर्पण करके उसके गितन से मुक्त और बिभोम से दुःख का अनुभ  
करती है तब नारी का यह रूप प्रेमिका का होता है। अजदी इसी रूप का  
प्रतीक है। अर्थात् यह अयनी सखियों में सबसे अधिक सुम्बर है तथापि अयन-  
सखियों उसके बीबानेपन को हेय समझती है। अर्हें इस बात से बहुत दुःख

है कि उनको सर्वाधिक सुन्दरी सली पकरवा के हाकों बिक कर प्रन्धराधों की मर्यादा को भंग कर रही है। उमा कहती है—

सहजम्बे ! पर हम परियों का इतना भी रोना क्या ?  
किसी एक नर के निमित्त इतना भीरज जोना क्या ?

हब भी हैं मानबी कि क्योंही प्रम उगे एक जायें  
मिसे कहां भी शान हबय का वहीं मग्न भुक् जायें ?

प्रम मानबी की निधि है अपनी तो वह भीड़ा है  
प्रम हमारा स्वाव मानबी की आकल पीड़ा है।

प्रमिका का प्रेम अनन्य भाव का होता है। वह जब अपने प्रियतम से बिछूट जाती है तो उसे मसार का साग बीमब स्वर्ग का समूचा ऐश्वर्य नपथ्य समये लपटा है। उसकी केवल एक साथ होती है—अपने प्रियतम-सम्मिलन। इस सम्मिलन में एक-एक पल का व्यवधान उस घसड़ा उठता है—

सुप्ति नहीं अब मुझ लोच भर भर सौरज पीने से,  
ऊब गई हूँ बवा कष्ट भीरज रहकर जीने से।

×

×

×

कहती हूँ इसलिये चिन्नमेक ! मत नर लगाधो  
जैसे भी हो मुझे आज प्रिय के समीप पहुँचाधो।

धीर जब वह अपने प्रियतम से दिस जाती है तो उसकी अगुप्ति धीर भी अचिन्न भङ्ग उठती है। वह बिहारी की ये पवित्रतां चरिताप हो उठती है—

‘इत बुधिया अक्षियानु की सुनु निरग्योई नाहि।  
बेसं बन न हैसते अतवैर अकसाहि ॥

पुकरवा में मियकर जर्बंदी की कामता में जो की प्रादृति पड़ जाती है। वह अपने प्रमी में इतनी तन्मय हो जाती है कि समय बरक का ध्यान ही नहीं रहता—

जब से हम-नुम मिले न जाने क्या हो गया समय को,  
लय होता जा रहा मदभगि से अतीत-गह्वर में।



रचना की बेहता जयाती पर, न स्वयं रचतीं हम,  
 बंधकर कहीं विविध पीड़ाओं में न कभी पचतीं हम  
 हम सागर-आत्मजा सिन्धु-सी ही असीम उज्ज्वल हैं,  
 इच्छाओं की अमित तरंगों से भंडित, बचल हैं।

अप्सरसों का काम अन्य पुरुषों को विविध पीड़ाओं से पीड़ित करना होता है। ये स्वयं प्रेम की पीड़ा से अनभिन्न होती हैं। यही कारण है कि इनके प्रेम में समर्पण की भावना नहीं होती और इसीलिए इनका मन किसी एक सीमा में बन्दी बनकर नहीं रहता। वे तो न जाने कितनों की चाहों में समाई रहती हैं। अपने इस 'हरजार्जपन' पर इन अप्सराओं को शर्मा नहीं बनने बर्न है। इनके मन में रूप ही सब कुछ है, भावना कुछ भी नहीं। इसीलिए इन्हें भूमिक की प्रेम-भावना से वंचित नजरत है। इसी नजरत की अभिव्यक्ति देना इन सबों में करती है—

जहाँ प्रेम रचती भूष से अल-अल अकृताता है  
 प्रथम प्राप्त में ही जीवन की ज्योति निबल जाता है  
 भर देता है पून रूप को बाह्य आनिमन से  
 अंधि को प्रमाहीन कर देता ताव-तप्त बुम्बल से  
 फलकर का अममान बना देता बाटिका हरी को  
 और नृमता रहता फिर सुन्दरता की इठरी को।

निष्कर्ष यह है कि अप्सराओं के माध्यम से कवि ने नारी के उच्च रूप का विवरण किया है जो शरीर की सुन्दरता को भी सब-कुछ मामला है जिसके कारण मन प्रहृकार और उच्छृ लभता से बरा हुआ होता है। बसुन्त नारी का यह रूप नारी-जीवन का लोबसापन है। *कुर्तरी का ग की नागि*

२ नारी का प्रमिका-रूप—जब नारी किसी एक व्यक्ति के प्रति अपना सर्वस्व समर्पण करके उसके मिलन से सुख और विमोच से दुःख का अनुभव करती है, तब नारी का यह रूप प्रमिका का होता है। उर्वशी इसी रूप की प्रतीक है। यद्यपि वह अपनी अस्तिमों में सबसे अधिक सुन्दर है, तथापि अन्य अस्तिमा उसके शीवानेपन को हेम समझती हैं। उन्हें इस बात से बहुत दुःख



और जब महाराज पुकरवा अनासक्ति की बातें करते हैं तो चर्च की कोमल हृदय को बड़ी ठंड लगती है। उसे अनुभव होता है कि जिस अनासक्ति को वह सुरपुर में छोड़कर आई थी वही उसे मूलोक में मिली। साथ ही वह इस सत्य को मनी-भाँठि जानती है कि जब तक पुकरवा के मन में काम का निवास है, तभी तक वह उस पर राज्य कर सकती है। अपनी इस धारणा का वह काँप उठती है—

अनासक्ति तुम कहो किन्तु इस विद्या-धस्त मानव की  
झंकी तुममें बैस मुझे, जाने क्यों भय लगता है ?

अपने भय को दूर करने के लिए वह अपने प्रमी के समक्ष अपना सर्वस्व समर्पित करके अंधों की सुधा का उसे प्रसोमन देती है—

‘आ मेरे प्यारे तृपित ! अन्त ! अन्त-तर में मग्निजत करके  
हर सुमी मन की तपन बाँवनी फूलों से सज्जित करके ।  
रसमयी मेघमाला बनकर मैं तुम्हें बँर का जाऊँगी  
फूलों की छाँह-तले अपने अंधों की सुधा पिलाऊँगी ।

यह है चर्च की वह प्रसिद्ध-रूप जिसमें ज़ारी का मन स्वयं में ही कैत्रित हो जाता है। उसे अपने और अपने प्रमी के बाहु-बाध के अतिरिक्त कुछ दिखाई ही नहीं देता। वह दीवानी बन कर अपने प्रमी की बाहुओं में झुसकी रहती है। उसकी आँखों में सर्वत्र कामना की लाली छाँ रहती है और मन निर-अधीन स्वयं सेकर इतन्वित होता रहता है।

चर्च में एक सच्ची और स्वयं-समर्पिता प्रसिद्धा की ये सब प्रकृतियाँ मिलती हैं, किन्तु उसके व्यक्तित्व की सीमा यही पर समाप्त नहीं हो पाती। वह बिदेक के बल पर तर्क भी कर सकती है अर्थात् मानना के अभाव सावर में उसका चिन्तन रुक नहीं गया है, जैसा कि प्रायः हाँसा है। वह कामना और बुद्धि का पार्श्वक इतन्वों में विवक्षित करती है—

‘रक्त बुद्धि है अधिक बली है और अधिक ज्ञानी भी  
क्योंकि बुद्धि सोचती और अक्षित अनुभव करता है ।  
निरी बुद्धि की निर्मितियाँ निष्प्राण हुआ करती हैं  
चित्र और प्रतिमा इनमें जो जीवन सहगता है

बहु मुझों से नहीं, पत्र-पापलों में छाया है  
कलाकार के प्रसर के हिलजोड़े हुए बधिर से।

यहां पर यह बता देना भी आवश्यक है कि उर्बेरी ने यहाँ पर कामना  
का उदात्तीकरण कर दिया है।

उर्बेरी की दृष्टि में मर का—प्रती का—सम्पूर्ण परिचय परम सत्ता  
की मान प्राप्ति का सोपान है। प्रेम से मारी ही नहीं मर का भी उत्थान  
होता है—

‘किसने कहा तुम्हें, जो मारी मर को जान चुकी है,  
उसके लिए अलभ्य ज्ञान ही क्या परम सत्ता का  
धीर मुख्य जो प्रतिपन्न में श्राप चुका रजनी की  
वैद्य-काल को भर भयन में उठने योग्य नहीं है ?

उर्बेरी यह मानती है कि प्रय चिन्त्य का नहीं हृदय का विषय है।  
नास्तिकिक प्रय-मुक्त विधि निषेधों से सभ्यों से धीर मरों से नहीं भिन्ना  
करता वह तो अनायास ही इन प्रकार पूटा करता है श्रेष्ठ जाती से पत्नी और  
दृष्टिमाँ स्वतः पूटा करती है। वह यह भी मानती है कि वह काम मानना  
द्रुपित है जो स्वतः स्फूर्त नहीं जो सप्रयास मानसिक शुधा का उभन करती  
है। वह कहती है—

फलान्वित द्रुपित कर देती ज्यों समस्त कर्मों की  
जली माँति वह काम-कर्म भी द्रुपित और मलिन है  
एकत इकत जो नहीं, प्येप चित्तका मानसिक कुमा का,  
अप्रयास है समन; जहाँ पर सुख छोडा जाता है  
तन की प्रकृति नहीं मन को धाया से प्ररित होकर।

यद्य कहते हैं कि प्रमिका-रूप में उर्बेरी का जो विश्लेष किया गया है,  
वह विश्लेष मारी के उस रूप की प्रति प्रतिष्ठित है जो एक ओर तो सबस्व  
समर्पण करके धारीरिक मुख में द्रुपते को आत्मावित है और दूसरी धार इस  
धारीरिक मुख से ऊपर उठकर काम-मानना का उदात्तीकरण करता है।  
‘वस्तुतः मैं शौरी रूप यमार्थ और धार्य का हृदय पीर मस्तिष्क का माध

और ठक का समुचित समन्वय है। जो नारी केवल बर्बाद समय या भावसंकेतों से कर प्रम-यत्न पर प्रयत्नर होती है, वह अपने रूप में एकांगी है उसका रूप सम्पूर्ण नहीं है।

उबंछी - पुरुष-५।

१ नारी का पत्नी-रूप—जब नारी अपना सबस्व किसी एक व्यक्ति के प्रति समर्पण करके प्राजीवन उसी के साथ बस जाती है तो उसका वह रूप पत्नी का होता है। पत्नी-रूप और प्रेमिका-रूप इन दोनों में मूलभूत अन्तर यह है कि प्रेमिका की भावनाओं में काम की प्रबलता होती है और पत्नी की काम भावना पर संयम का अंकुश होता है। प्रेमिका अपने प्रेमी का परित्याग भी कर सकती है, किन्तु पत्नी के लिए यह संभव नहीं। पत्नी के लिए तो उसका पति ही सर्वोपरि बन जाता है और उसकी समस्त प्राणात्-भावात्-आर्षात् उसी के हृद-विर्द सिमट जाती है। 'उबंछी' में मुक्या पत्नी-रूप का प्रतिनिधित्व करती है।

सच्ची पत्नी जो अपने पति पर गर्व होता है, चाहे उसके पति का कैसा ही रूप रंग और स्वभाव हो। मुक्या को भी अपने पति पर निस्सीम गर्व है—

‘किन्तु बिचलैसे ! मुझको अपने महवि भर्ता पर  
ग्लानि नहीं निस्सीम गर्व है।’

मुक्या अपने पति के हृद-विर्द इतनी सिमट गई है कि उसे अष्टाश्रयों-बीछा विविध भोगों का ज्ञान नहीं है। उसका ध्यान-ध्यान तो उसका केवल पति है और पति ही गृहिणी के लिए परम आराध्य देव होता है—

एकचारिको में क्या जानू स्वाद विविध भोगों का ?  
मेरे तो आनन्द धाम केवल महवि भर्ता हैं।  
योग-भोग का भद्र अक्षरा की अक्षय जोड़ा है,  
गृहिणी के तो परम देव आराध्य एक होते हैं,  
जिससे मिलता भोग योग भी बहो हमें देता है।  
क्या कुछ मिला नहीं मुझको बधिता महवि की होकर ?

मुक्या के मत से नारी-सौन्दर्य की महत्ता इनी में है कि वह किसी पुरुष की परिशीला बन जाय। यही उसका लिए वह मूल अक्षर होता है

जब वह अपने प्रियतम के साथ निश्चित जीवन का तार बांधने में समर्थ और सफल होती है। सोम्य से विगतित हो जाने पर फिर नारी का कोई महत्त्व नहीं रहा—

इसीलिए कहती हूँ जब तक हरा-भरा उपवन है किसी एक के संग बाँध लो तार निश्चित जीवन का न तो एक दिन वह होमा जब पतित म्लान भ्रमों पर, क्षय भर को भी किसी पुरुष की दृष्टि नहीं विरमेयी-बाहर होया विजन निकेतन, भीतर प्राण सजमे अन्तर के बेबता सुमित भीषण हाहाकारों में।

वस्तुतः सुकन्या का पत्नी-रूप भारतीय परम्परा के अनुकूल नर्माशुभत योरवपूर्ण और मायघों से भरा हुआ है।

४ नारी का माता-रूप—नारी का माता-रूप निस्सन्देह नारी के सब रूपों से श्रेष्ठ है। इसकी श्रेष्ठता केवल रूप को नारी का सर्वत्र समझने वाली प्रप्यरायें भी स्वीकार करती हैं। मेनका कहती है—

पर रंभे ! क्या कभी बात यह भी मन में घाटी है,  
मां बनते ही प्रिया कहां से कहां पहुंच जाती है ?  
बलती है क्षिप्रगता, सत्य है गठन बेह की खोकर,  
पर हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर ?  
मुखा जगनि को बैज शक्ति केंसी मन में जगती है !  
क्यमती भी सखी ! मुझे तो बहो प्रिया जपती है  
को गोपी में लिए और-मुझ सिन्धु को मुखा रही हो  
पथका कड़ो प्रसन्न पुत्र क्य पतना भुला रही हो।

उर्बशी में धामु नभजाठ सिन्धु है जिस पर तीन-तीन नारियों की—  
उर्बशी सुकन्या और प्रीचीनरी की—कलमठा फूट पड़ती है। उर्बशी उसकी बननी है और उसे अपने मातृत्व पर यर्ब है—

बही नहीं हुई तो क्या ? जब मां तो हूँ मातृत्व की ?  
नहीं बेचती रत्नमयी को केंसा ज्ञान विष्णु है।

बह जब भी धामु का चुम्बन करती है, उसका सारा मातृत्व सिपट क धसौंफिक मुकों की विविध धाराओं में बहने लगता है—

कितनी झुंटा ऊर्मि प्राणों में प्रकथ, अपार सुकों की ।  
 दुग्ध भवत्त यह सुखि मनोरम कितनी धमृत-हरस हँ ।  
 और स्पर्श में यह तरंग-सी क्या हँ सोम-सुभा की,  
 प्रक लगते ही धाँसों की पलकें झुक जाती हैं ।

सुकन्या जब धामु को अपने पास रखकर उसके अधिष्म की स्वरिण कबा का निर्माण करती है—धामु जब बड़ा हो आवेगा तो वह बेनुओं को चरणे आया करेगा, महर्षि के साथ यज्ञ की बेड़ी पर बैठा करेगा धरुन-सास्त्र में निष्णात हो आवेगा धारि—तो जिस्सरेह उसके मन में मातृत्व की धनेक सुनहली कल्पनाएं धामुत हो जाती हैं और इन पंक्तियों में तो—

हृषण-धूम 'से धाँसों में जब धामु उमड़ धायेंगे  
 तब में बेनीं नयन पोंछ हु की अपने धंभल से ।  
 उसका मातृत्व धाकार हो घटा है ।

धीधीनरी भी धामु को देखकर मातृत्व के मावों से भर जाती है । उसे अपार धानंद का धनुभव होता है । इस धनुभव में उसे केवल एक बात धुमती है और वह यह कि यदि धामु उसे बचपन में ही मिला होता तो वह धनेक उमग और धाणारों से उसका पालन करती । वह धामु को हृषय से धयाकर कहती है—

कितना धम्य स्वक्या नयन नातिका जलाट धिधुक में ।  
 महाराज की धाकृतिधों का पूरा धिम्ब पड़ा हँ ।

हाय धामती कितने सुख, कितनी धर्म्य धाधा से  
 मिला मुम्ह होता यदि मेरा तनप कहीं बचपन में ।

कहने की धावस्यकता नहीं कि उर्बची में नारी के इन धारों क्यो का धिधरु बहुत सफलता तथा मनोर्बधानिकता के साथ हुया है ।

नारी के विधिष्ट मुण

'उर्बची' में नारी-स्वरूप के धिधरु की हुसरी धिया है नारी के धिधिष्ट

पुलों का बर्तन। इस विषय में बताया गया है कि नारी ही वह शक्ति है जिससे मनुष्य को परम रूप मिलता है—

नारी ही वह महासत्त्व शक्ति पर अदृश्य स धमकर  
नये मनुज सब प्राण इन्द्र जग में आते रहते हैं।  
नारी ही वह कौट, देव, कामरु मनुष्य स छिपकर  
महानुष्य, बुधबाप जहाँ आकर ग्रहण करता है।

और जब पुष्टिये तो नारी ही इस सृष्टि की रचना और इसका नियमन करती है—

सब पूछो तो प्रजा-सृष्टि स क्या ह भाग पुत्र्य का ?  
यह तो नारी ही है जो सब यज्ञ पुत्र करती है।  
सत्व-भार सहती अक्षय, समस्तित अक्षय बनती ह  
और बड़ी शिशु को से जाती मन के उच्च निरय में  
जहाँ निरापद मुकद कस है दीमक के भूसे का।

जब मनुष्य की तरी किसी अक्षय घाट पर घटक जाती है तो नारी ही वह शक्ति है जो अपनी छिगुनी की शक्ति लगाकर उस पुन गति प्रदान करने में समर्थ होती है। इस पर भी उस न तो किसी प्रतिष्ठा का लोभ होता है और न प्रशंसा का—

‘यह भी है कर्म क्रिया का  
घटक गई हो तरी मनुज की किसी घाट-अक्षय में  
तो छिपुनी की शक्ति लगा नारी फिर उस असा दे  
और सुप्त हो नाय पुन आतप प्रकाश हलकल स।

निष्कर्षत कहा जा सकता है कि ‘उर्बशी में नारी के दोनों—बाह्य और आन्तरिक—रूपों का सफलतापूर्वक चित्रण हुआ है। वह अपने बाह्य रूप में जितनी सुन्दर है आन्तरिक रूप में उतनी ही उदात्त है। एक बात और बिलकर का नारी-स्वरूप-विवेचन परम्पराओं की श्रुतियों से सुन्दर है।



वह जब भी प्रायु का भुङ्गन करती है, उसका सारा मातृत्व सिमट कर प्रतीकिक मुक्तों की विविध बाटाओं में बहने लगता है—

कितनी मृदुता ऊँचि प्राणों में प्रकट, अपार तुच्छों की ।  
 दुःख बचल यह तुच्छि मधोरम कितनी प्रमत्त-सरस हूँ ।  
 और स्वर्ग में यह तरप-सी गया है सोम-मुखा की,  
 अँठ लगाते ही आँखों की पलकों झुक जाती हूँ ।

गुरुम्या जब प्रायु को अपने पास रखकर उसके अविष्य की स्थिति कथा का निर्माण करती है—प्रायु जब बड़ा हो जायेगा तो वह बेनुओं को चरणे जाना करेगा, महर्षि के साथ यज्ञ की बेदी पर बैठा करेगा अस्त्र-शास्त्र में निष्णात हो जायेगा आदि—तो निस्संभेह उसके मन में मातृत्व की प्रत्येक सुमहली कल्पनाएँ जागृत हो जाती हैं और इन परिस्थितियों में तो—

हृत्त-भूम से आँखों में जब जल्प उमड़ जाये, तब मैं बोनों नयन पोंछूँ दूगी अपने अँधल से ।  
 उसका मातृत्व साकार हो उठ है ।

श्रीश्रीनरी भी प्रायु को देखकर मातृत्व के मावों से भर जाती है । उसे अपार धार्मिक का अनुभव होता है । इस अनुभव में उसे केवल एक बात चुमती है और वह यह कि यदि प्रायु उसे बचपन में ही मिला होता तो वह प्रत्येक समय और आभाषों से उसका पासन करती । वह प्रायु को हृत्त से लगाकर कहती है—

कितना जल्प स्वल्प ! नयन मातिका भलाह बिबुध में ।  
 महापन्न की आकृतिवों का पूरा बिम्ब पड़ा है ।

हाय पासती कितने सुख कितनी उमंग आता से  
 मिला मुझे होता यदि मेघ तनय कहीं बचपन में ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि उर्बची में नारी के इन चारों रूपों का चित्रण बहुत स्पष्टता तथा मनोबैज्ञानिकता के साथ हुआ है ।

नारी के विशिष्ट गुण

'उर्बची' में नारी-स्वरूप के चित्रण की दूसरी विधा है नारी के विशिष्ट

दुर्गों का बाहुन । इस विषय में बताया गया है कि नारी ही वह शक्ति है जिससे मनुष्य को परम रूप मिलता है—

नारी ही वह महासन्तुलिम पर प्रलय से बसकर  
नये मनुष्य तक प्राप्त इन्द्रिय जग में घाते रहती है ।  
नारी ही वह कोण देव, दानव मनुष्य से छिपकर  
महान्नायक, बुधबाप जहाँ घाटकर ग्रहण करता है ।

और सब धृष्टिये तो नारी ही इस सृष्टि की रचना और इसका नियमन करती है—

तब पूछो तो प्रजा-सृष्टि में क्या है भाग पुरुष का ?

यह तो नारी ही है जो सब यत्न पूरा करती है ।

सत्व-मार सहती प्रलय समस्त प्रलय बनती है

और वही प्रियु की से जाती मन के उच्च नित्य में

जहाँ निरापद सुखद कल है दीर्घाव के भूमे का ।

जब मनुष्य की तरी किमी प्रकृत घाट पर घटक जाती है तो नारी ही वह शक्ति है जो घननी प्रियुनी की शक्ति लगाकर उसे पुनः पति प्रदान करने में समर्थ होती है । इस पर जो उम्र न तो किसी प्रतिष्ठा का लोभ होता है और न शर्मनाक—

यह भी है कम प्रिया का  
घटक गई हो तरी मनुष्य की किमी घाट प्रकृत में

तो प्रियुनी की शक्ति लगा नारी फिर उम्र बसा दे,

और सुप्त हो जाय पुन प्रकृत प्रकाश हुनकल त ।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि 'उर्दगी' में नारी के शक्तियों—बाह्य और आन्तरिक—दोनों का सफलतापूर्वक विवरण हुआ है । वह घनन बाह्य रूप में शक्तिशाली सुन्दर है आन्तरिक रूप में उन्नती ही उन्नत है । एक बात और विचार कर नारी-स्वरूप-विशेषण परम्पराओं की शृंखलाओं से-सुन्दर है ।

## उर्वशी में प्रेमामिव्यजना

मानव-मन विविध भावों का सौल है। प्रेम का भाव इनमें प्रमुख है। प्रेम 'प्रिय' शब्द का नाववाचक रूप है। 'प्रिय' शब्द का धर्म है तृप्ति-कारक—प्रीणातीति प्रियः। अतः प्रेम शब्द से हृदय के तृप्तिकर्य प्राप्त का बोध होता है।

व्याकरण के अनुसार भी इस शब्द की व्युत्पत्ति इसी धर्म की ओरति है। 'प्रीप् प्रीपी' बाहु से अलादि-सूत्र सर्वनातुम्भ से मनिन् प्रत्यय लपाकर प्रेम शब्द बनवा है जिसका धर्म होता है प्रीति देने वाला अलन्त तृप्ति प्रदान करने वाला। यही कारण है कि आदिकाल से ही मानव इस भाव की धर्म व्यक्त करता आया है।

प्रेमामिव्यक्ति की परम्परा

संस्कृत-साहित्य में प्रेम की सर्वप्रथम व्यक्तित्व पुकरना-उर्वशी प्रेम-क्याण के रूप में अश्वमेध में मिलती है। अश्वमेध में भी प्रेम विषयक उल्लेख मिलते हैं किन्तु प्रेम का व्यापक चित्रण आदिकवि वात्सीकि के काव्य में ही प्राप्त होता है। आदिकवि के पश्चात् कविकृतमुख कालिदास के काव्य में सभी प्रकार की प्रेम-विषयक भावनाओं के आन्तरिक-बाह्य दोनों प्रकार के सौन्दर्य के मार्मिक वर्णन उपलब्ध होते हैं। कालिदास को प्रेम-वृष्टि पूर्ण साहित्यिक और धार्मिक है। मन्मथि का प्रेम-चित्रण भी सहृदय-ध्वेष उदात्त और उत्कृष्ट है। अश्वमेध का प्रेम-चित्रण भी कालिदास और मन्मथि के प्रेम चित्रण की धाति उदात्त परिष्कृत और संयत है। संस्कृत साहित्य की यह परम्परा जब अश्वमेध के हाथों में आई तो यह एकदम बरन गई। अश्वमेध के प्रेम-वर्णन से यदि धार्मिकता का भीना आचरण हटा दिया जाये तो यह एकदम सौमिक और धर्मीय बन जाता है।

इस प्रकार संस्कृत-साहित्य में प्रेमामिष्यजि की परम्परा के दो रूप स्पष्ट परिचित होते हैं। पहला रूप है प्रेम का उदात्त रूप जो धार्मिक से प्रारम्भ होकर धर्मबोध तक मिलता है। दूसरा है प्रेम का साध्यात्मिक या लौकिक रूप जो जयदेव से प्रारम्भ होता है।

संस्कृत-साहित्य की प्रेमामिष्यजि के इन दोनों रूपों का प्रभाव हिन्दी-साहित्य में भी दृष्टिगोचर होता है। बीरगानाकास के काव्यों में प्रेम का लौकिक रूप बीरता के आधार पर निहित है। भक्तिकाल के प्रेम पर साध्यात्मिकता का गहरा आभरण पड़ा हुआ है। रीतिकाल का प्रेम शुद्ध रूप से लौकिक है। प्राधुनिक काल में प्रेम की लौकिकता पर प्रतीक, भव्यात्म और मौखिक के गहरे रंग लगे हुए हैं।

### प्रेम का स्वरूप

प्रेम की परिभाषा और उसके स्वरूप का विवेचन विभिन्न-विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न विभिन्न धारणासिद्धियों में किया है। नारद भक्तिशुद्ध में प्रेम को अनु-बर्णकव्य माना गया है और बताया गया है कि प्रेम वाली का विषय नहीं है, वह तो मुक्तस्वादनवत् अनिश्चयीय है। यह पहले तो विषयव्यय होता है, पुणों के कारण उत्पन्न होता है, किन्तु बाद में आत्मिक और विषय निरपेक्ष बन जाता है—

‘अनिर्बन्धीयं प्रेम-स्वरूपम् मुक्तास्वादनवत् । प्रकाशते क्वापि पाथे । पुण-रहितं प्रतिक्षणवर्षमानमविच्छिन्नं सुधमतरमनुभवस्तत्पम् ।’

कण्वोत्थामी ने प्रेम को एक ऐसा सागर भाव माना है जो हृदय को लिख करे तथा ममत्व के प्रतिघम से मुक्त हो—

‘सम्पन्नं मसुञ्चितस्वाप्सो ममस्वातिघायाकितं ।

भाव स एव सागरास्या बुभ- प्रेमो निघद्यते ।’

पारशरथ विद्वानों ने भी प्रेम की विभिन्न विभिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं। प्लेटो के अनुसार प्रेमामुभव से रहित व्यक्ति सदा अन्धकार में मटकता रहता है। नीत्य की मते हैं कि प्रेम स ही हमारे अन्तःकरण में सुलभ है। हगेल की भाष्यता है कि प्रेम के द्वारा ही धर्म की स्थिति प्राप्त होती है। हबमार्क काहना और प्रेम में अन्तर मानते हुए कहते हैं कि लुप्त वाचना के खते हुए

प्रम का कमल नहीं खिल सकता। बिनेडीमीर सौथॉम्बेन के अनुसार प्रेम का धर्म है अहंकार के त्याग द्वारा अपनी मुक्ति।

इन परिभाषाओं से घनायास ही यह निष्कर्ष निकल जाता है कि प्रेम वासना का नाम नहीं है और न स्वयं को बाध करने का ही बंधन है, बल्कि प्रेम हृदय की वह परिष्कृत उदात्त और अनिर्वचनीय भावना है जो मन की शुद्धि करती है और व्यक्ति को अहं के बंधन से छुड़ाकर उसे सार्वजनीन बना देती है। यही भाव दिनकर के इन शब्दों में भी है—

इन्द्रियों के मार्ग से अतीन्द्रिय धरातल का स्पर्श यही प्रेम की आध्यात्मिक महिमा है।

### प्रेम के गुण

प्रेम से प्रेमी के चित्त का संस्कार होता है अतः इस दृष्टि से इसके आठ भेद माने गये हैं—उत्साह, समता, विरक्त, प्रिय के गुणों का अभिमान, चित्त का इबीभाव, अतिशय अभिभाषा, प्रिय के विषय में प्रतिक्षण नव-मन्त्र की अनुभूति और प्रिय-सम्बन्धी किसी विलक्षण गुण के कारण उन्माद।

१ उत्साह—इसके उत्पन्न होने से केवल प्रिय के प्रति ही प्रेम रह जाता है। प्रिवत्तर अन्य प्राणियों अथवा वस्तुओं के प्रति तुच्छ बुद्धि हो जाती है।

२ समता—इसके उत्पन्न होने पर प्रेम के बाधक तत्त्वों का प्रेमी के हृदय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता अर्थात् वह बन्धनों की चिन्ता छोड़ देता है।

३ विरक्त—विरक्त अथवा विध्वंस का धर्म है विस्वास। इसके उत्पन्न होने पर प्रेमी के हृदय में अपने प्रेमी के प्रति किसी प्रकार का संशय नहीं रहता वह पूर्ण विश्वासमुक्त हो जाता है।

४ अभिमान—अपने प्रिय को ही दार्शनिक अर्थ समझना अभिमान या मान कहलाता है।

५ इबीभाव—प्रेम में चित्त इबीभूत होता है। इस गुण के उत्पन्न होने पर प्रिय के सम्बन्ध के आभास से ही मन में उत्बोधक हो जाता है। प्रिय के बचन आदि से तृप्ति नहीं होती और प्रिय के अनिष्ट की चाह वह चित्तना ही समर्थ क्यों न हो निरन्तर बंधा बनी रहती है।

१. प्रतिपद्य प्रमिसाव—इसके गुण के उत्पन्न होने पर प्रिय के प्रति इतना अनुपपन्न बह जाता है कि उसका एक पल का वियोग भी असह्य हो पड़ता है; संकीर्ण में भी वियोग की कल्पना नसकती रहती है।

७. नव-अक्षर की भावना—इस गुण के उत्पन्न हान पर प्रमी के मन में उसके सौम्यत्व की—घातुरिक और बाह्य दोनों की इतनी सही छाप बैठ जाती है कि वह प्रिय के विषय में नित नवीन भावनाओं में डूबा रहता है।

८. उन्माद—इस गुण को प्राप्त करके प्रेमी का अनुपपन्न अपने प्रमी के लिए इतना अधिक हो जाता है कि सयोग के कल्प भी निमेष के समान मोल प्राप्त हैं और वियोग के निमेष भी कल्प के समान प्रतीत होते हैं। इसी गुण से महामाद रोग का आविर्भाव होता है।

प्रेम के भेद

प्रेम के दो भेद होते हैं—पार्यायिक प्रेम या असौकिक प्रेम और पारिष्व प्यया सौकिक प्रेम। असौकिक प्रेमाम्बन के प्रति जो अनुपपन्न होता है उसे असौकिक प्रेम कहते हैं। यह प्रेम शक्ति के अधिक निकट है। सौकिक प्रेमाम्बन के प्रति जो अनुपपन्न होता है उसे सौकिक प्रेम कहते हैं। सौकिक प्रेम दो प्रकार का होता है—प्रकृत प्रेम (Natural love) और सात्विक प्रेम (Platonic love)। मानव का सहज अनुपपन्न प्रकृत प्रेम कहलाता है। पारिष्व प्रेमाम्बन के प्रति पारिष्व प्रेम की सहज वासनात्मक प्रणयामिष्यक्तियों इसी प्रेम के अन्तर्गत आती हैं। दूसरे सन्दर्भों में कह सकते हैं कि नर-नारी की सहज प्रीति ही प्रकृत प्रेम है। ऐसे प्रेम का आधार पारिष्व होता है परन्तु धर्तुर-सुख की उत्कट इच्छा से प्रेरित होकर जिस प्रेम का निवेदन किया जाता है वह स्वभाव ही वासनात्मक होता है। रीतिकामीन काव्य में इसी प्रेम की अतिरिक्तता हुई है।

सात्विक प्रेम के सर्वप्रथम और प्रमत्ततम व्याख्याता प्लेटो हैं। प्लेटो ने प्रेम की प्रीति का वर्णन किया है। उन्होंने पारिष्व प्रेमाम्बन के प्रति प्रकृत प्रीति वाक्यांश प्रेम वासनात्मक सुख प्रीति और सुख राग को ही सात्विक प्रेम की रचना की है। ऐसे प्रेम में वासना का परिष्कार एवं उन्मयन हो जाता

है। छायावादी काव्य से पूर्व त्रिबेदी-युग का प्रेम-निरूपण इसी कोटि का है। श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी इत्यादि कवियों की रचनाओं में धरती-पारुष्य का ही चित्रण मिलता है। रीतिकाल में बलात्कार या प्रेम-स्वयं-स्वान-स्वान पर इसी कोटि का वर्णन गया है।

यदि सुदृढता से विचार किया जाये तो प्रकृत और सात्विक प्रेम के भेद नहीं बरन् उसके सोपान प्रतीत होते हैं।

उतरी में प्रामाणिक्य-व्रता

उतरी में स्पष्ट शौकिक प्रेम का प्रतिपादन हुआ है, क्योंकि प्रामाणिक्य और प्रामाणिक्य दोनों शौकिक हैं। इस प्रेम का प्रतिपादन सामान्य बराबर है हुआ है जिसमें किसी प्रकार की उदात्त भावना नहीं केवल वासना की बल है। यही वह धरती है जब पुरुष अपने पौरुष को छोड़कर नारी के आगे झुकने के डरता है। इसी रहस्य का उदात्तन महानिका इन दोनों में कठोर है—

इसमें क्या आश्चर्य ? प्रीति जब प्रथम प्रथम जलती है,

दुर्लभ स्वप्न-समान रम्य नारी नर को लपटी है।

नारी की यही रम्यता उसके जीवन की सबसे अधिक गौरव की बड़ी होती है। अपनी इसी रम्यता के बल पर—धर्म-रूप की सक्ति से—वह पुरुष पर विजय प्राप्त करती है और पुरुष उसके पक्षों पर पड़ा हुआ उसके मुँह को देखता रहता है—

क्षितिगी गौरवमयी चड़ी वह भी नारी-जीवन की

जब अज्ञेय केसरी भूल सुप-बुध समस्त तप-भन को।

पक्ष पर रहता पड़ा, देखता अनिमित्त नारी मुँह को

क्षण-क्षण रोमाञ्जलित, भोगता वृद्ध अनिबन्ध बुद्ध को।

यही वह समय होता है जब नारी अपनी समस्त इच्छाओं और प्राकाशाओं को पूर्ण कर लेती है धरती कर लेती है। इस समय वह बड़ से बड़े तपोमिष्ठ का तप ज्ञानी का ज्ञान, योगधीन का मान और धर्मिणी का धर्मिणी गंध करने में सफल होती है—

तपोनिष्ठ नर का संचित तप घोर ज्ञान ज्ञानी का  
 ज्ञानशील का मान गर्व यकीलि अमिमानी का  
 सब बड़ जाते भेंट सहज ही प्रमदा के चरखों पर,  
 कुछ भी बचा नहीं पाता नारी से उद्धतित नर ।

यह उस प्रेम का बिजलु है जो एकांत धारीरिक होता है जिसमें केवल  
 धारीरिक सुखा का स्वप्न है। यह प्रेम को प्रथम प्रवस्था है। यदि  
 प्रेम इसी अवस्था पर आकर टिक जाता है तो वह निहृष्ट कोटि का होता  
 है। दिनकर प्रेम की इस अवस्था को स्वीकार तो करते हैं किन्तु इसे प्रेम  
 की इति नहीं मानते। अपनी प्रेम-विषयक मायताओं को इन्होंने स्पष्ट रूप से  
 उर्बशी की भूमिका में इन शब्दों में व्यक्त कर दिया है—

‘नारी नर को धूकर तुष्ट नहीं होती न नर नारी के प्रतिफल में सत्त्व  
 मानता है। कोई शक्ति है जो नारी को नर तथा नर को नारी से भक्षण नहीं  
 रहने देती और जब वे मिल जाते हैं तब भी उनके भीतर किसी ऐसी तुषा  
 का संचार कण्ठो है जिसकी वृत्ति शरीर के परात्म पर अनुपलम्ब है ।

नारी के भीतर एक और नारी है, जो अशोचर और इन्द्रियातीत है। इस  
 नारी का सञ्चान पुरुष तब पाता है जब शरीर की बाह्य उछालते-उछालते  
 उसे मन के समुद्र में फेंक देती है जब दृष्टिक केतना स परे, वह प्रेम की  
 रूपम समाधि में पहुँच कर निस्पन्द हो जाता है ।

और पुरुष के भीतर भी एक और पुरुष है जो शरीर के परात्म पर  
 नहीं रहता जिससे मिलने की धाकतता में नारी प्रिय-संज्ञा के पार पहुँचना  
 चाहती है ।

परिस्न-पास में बसे हुए प्रेमी परस्पर एक दूसरे का प्रतिफल करके  
 किसी ऐस लोक में पहुँचना चाहते हैं जो किरणात्मक और कायबोध है ।

इन्हीं के माय स अतीन्द्रिय परात्म का स्वप्न यही प्रेम की आध्या  
 त्मिक महिमा है ।

उर्बशी की प्रेमामिष्यञ्जना के स्वल्प को समझने के लिये कवि के अप्सुक्त  
 शब्द अत्यन्त सहायक हैं, बल्कि कहना चाहिए कि यही शब्द उर्बशी की



प्रेमाभिष्यजना के स्वरूप का प्रतिपादन कर देते हैं। प्रेम की प्रेमावस्था जिसका विवेचन हमों किमा 'बा बुका है, प्रेम की सीमा शरीर-सीमा तक होती है किन्तु वास्तविक प्रेम इस सीमा को तोड़कर बाहर निकलने में ही पुकरवा करते हैं—

बाहू मात्र ही नहीं प्रेम होता है अमृत-त्रिका भी  
 नारी जब देखती पुरुष की इच्छा भरे भयन के  
 नहीं जापती है केवल उड़लन भनल बपिर है,  
 मन में किसी कामत कवि को भी अम्म दिया करती है।

धिया की भनस ही बढते-बढते बायवी—उदात्त—बन जाती है—  
 पहले प्रेम स्पष्ट होता है, तबन्तर धिस्तन भी  
 प्रथम प्रथम मिट्टी कठोर है तब बायध्य वचन भी।

धतीमित्रय प्रेम ही मनुष्य को भावना के बल पर उस परम शोक तन  
 पहुचाने में समर्थ होता है जिसमें ताकिक अपनी कुठि से पहुचने का प्रयास  
 करते हैं—

जिस नदुर भूमिका में जन को दर्शन-तरंग पहुँचाती है  
 प्रत विषय लोक तक हमें प्रेम की नाव सहज से जाती है।  
 और तब नारी का अस्तित्व सीमित न रहकर असीमित हो जाता है—  
 ओ धूम्य पवन में नुभे बेछ चुन्वन धवित करमे बालो !  
 तपुर्ष मिथ्या में मेरी धवि का उन्मिह ध्यान घरने बालो !  
 न बेघ-काल से परे चिरन्तन नारी हूँ ।  
 मैं अतमतन्त्र घोवन की निरय नबीन प्रजा  
 क्षपती अमर में चिर-मुबती मुकुमारी हूँ ।  
 तुम विमुवन में धबबा त्रिकाल में अहाँ कहीं भी हो  
 अन्तर में बय घरो ।

सरिता समुद्र गिरि बल मेरे ध्यवधान नहीं ।  
 न भूत भविष्यत् वर्तमान की कविम बाधा से विमुवत  
 मैं बिबप्रिया ।

उर्बन्धी में व्यञ्जित प्रेम का स्वरूप का विवेचन करने के पदवात् धब मइ देखना प्राबल्यक प्रतीत होता है कि काव्याचार्यों ने प्रेम के जो घाठ गुण बताये हैं उर्बन्धी में उनका निर्वाह हुआ है प्रपन्ना नहीं।

प्रेम के उत्साम्म आदि घाठ गुण बताये गये हैं जिनका परिचय पहले दिया जा चुका है। घाठ यज्ञों पर गुणों का नामोस्मैस करके उर्बन्धी से उनके उदाहरण देना ही पर्याप्त हुआ।

१ उत्साम्म—

स्वर्ग-स्वर्ग मत कहो स्वर्ग में सब सौभाग्य भरा है,  
पर, इस महास्वर्ग में मेरे हित क्या प्राप्ति भरा है ?

२ ममता—

मिले घाट में तब जब सतना की मर्दाह गंवाकर  
स्वर्ग लोक को छोड़ भूमि पर स्वयं चली म प्रायो।

३ विश्रम—

इसीलिए, असहाय तड़पता बंटा रहा महल में  
लेकर यह विश्रम प्रीति यदि मेरी मुपा नहीं है  
मेरे मन का बाह्य व्योम के नीचे नहीं इकेगा  
जान-मुच को भद पटुंकर पारिव्रात के बन में,  
बहु प्रयत्न ही कर देगा सतप्त तुम्हारे मन को।  
धीरे प्रीति जगने पर तुम बँकूच्छ-लोक की तरफकर,  
किसी रात निश्चय भूतस पर स्वयं चली प्रायोमी।

४ धमिमान—

तुम अनन्त लौक्य एक तन में बल जाने पर भी  
निश्चित लुब्ध में फल अतुलिक कंठे व्याप रही हो।

५ श्वीभाव—

जड़ा सिहरता रहता में प्रानन्द-बिह्वल उस तन-सा  
बिसबी आसीं पर प्रसन्न गिलहरियां किलक रही हों  
मा पत्नी में छिपी हुई कोयल कूजन करती हो।

## ६ प्रतिशय समिभाषा—

धनात्कित तुम कहो, किन्तु इस द्विधा-धस्त मानव की,  
भाँकी तुम म देख मुझ जाने क्यों, भय समता है ।

## ७ मदनवत्स की भाषना—

नक्षत्रों के बीच प्राण के नाम में बीने वाली ।  
धो रसमयी बेवगाओं में मुझे बुबोने वाली ।

## ८ उमाद—

जब से हम तुम मिले न जान क्या हो गया समय को,  
सम होता जा रहा महद्गति से प्रतीत गह्वर में ।  
किन्तु, हाय, जब तुम्हें देख में सुरपुर को लौटी की  
यही काल अक्षय-समान प्राणों पर बैठ गया था ।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि उर्बशी में व्यक्त प्रेम शरीर के उच्च नरात्म से प्रारम्भ होता है जिसमें वासना का धमस अहर्निश बसकता रहता है । किन्तु इसकी यही पर इति नहीं हो जाती । यह तन का प्रतिक्रमण करके अत्यन्त व्यापक और उदात्त रूप ग्रहण कर लेता है । ऐसा होगा स्वामाधिक धी वा, क्योंकि कवि तन की सुन्दरता के माध्यम से अद्भुत सत्ता तक पहुँचा करता है—

कवि प्रेमी एक ही तत्व हैं तन की सुन्दरता से  
दोनों मुग्ध देख से दोनों बहुत दूर जाते हैं  
उस अनन्त में जो अमूर्त भाषों को बाँध रहा है  
सभी दृश्य सुवभाषों की अविगत अद्भुत सत्ता से ।

## उर्वशी का दर्शन-पक्ष

मानव-मन की समस्त अवान् प्रक्रियाओं का जन्म एक सत्य होता है—  
 मुख का शब्द और दृश्य से निवृत्ति । उसका समस्त काय-कामाय इसी लक्ष्य  
 के इर्द गिद घूमते हैं । मानव-मन की सही प्रकृति वयन-शास्त्र और काव्य-  
 शास्त्र के भी परिमलित होती है । यद्यपि ये दोनों शास्त्र एक दूसरे के विरोधी  
 शरीर हस्त हैं, तथापि वयन-शास्त्र में मस्तिष्क के पहल विन्दन का भाषिकत्व  
 होता है और काव्य-शास्त्र में हृदय की पहली मातृकता की प्रकृतता तथापि  
 ये विरोधी नहीं बरन् एक दूसरे के पूरक हैं । बर्णन और काव्य का परस्पर  
 घट्ट सम्बन्ध स्थापित करते हुए डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय लिखते हैं—

कवि वाद्यनिक को प्रथम एक-प्रकारक धनवाने में ही मानता थाया है  
 प्रायः तब वा इतिहास कम से कम यही है । (बी) कवि स्वयं वाद्यनिक  
 मारवालों के लिए उनके प्रवक्तव्य या प्रचारक किसी बड़े वाद्यनिक पर निर्भर  
 रहे हैं—यथा श्री धांकराचार्य पर । अतः कविता और बर्णन का घट्ट सम्बन्ध  
 बतला या प्प्रा है ।

इसीलिए यह बड़े धारों में कहा जा सकता है कि वयन की काव्य म  
 पयक नहीं किया जा सकता । विचारक कवियों की हृदयों को स्वतः काव्य  
 मय दर्शन बन जाती है ।

उर्वशी का दर्शन-पक्ष

उर्वशी में वयन-वयन का पर्याप्त और स्पष्ट विवेचन हुआ है । इसका  
 सम्बन्ध प्रथम करने के लिए इसे निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत रखा  
 जा सकता है—

१ शिखर

२ शाल

१ ईश्वर

५ जीवन

५. प्रकृति और पुरुष

१ ईश्वर—उर्वशी' में ईश्वर को सर्वव्यक्तिमान और सृष्टि का स्रष्टा माना गया है। ईश्वर ही मनुष्य के जीवन और भावों का नियन्त्रण करता है। मनुष्य कर्ता नहीं बरन् इस परम सत्ता के इच्छित पर कार्य करने वाला है। इसी भाव को 'उर्वशी' में इन शब्दों में व्यक्त किया गया है—

'यह सब उनकी कृपा सृष्टि जिसकी निमूढ़ रचना है।

मुझे हुए हम मनुष्यमात्र हैं तनी हुई जबा पर ते

कितनी धीर की इच्छाओं के बाध बना करते हैं।

सृष्टि का जितना भी प्रसार है सब इसी परम सत्ता का रूप है। इस संसार में न कोई पुरुष है और न कोई नारी बल्कि एक ही सत्ता के प्रतिमात्र हैं—

'यह निरुद्ध आकाश जहाँ को विविक्त्य लुपता में

न तो पुरुष में पुरुष न तुम नारी केवल नारी हो

दोनों हैं प्रतिमान कितनी एक ही मूलतत्ता के

बेह-बुद्धि से परे, नहीं जो नर संभवा नारी है।

ईश्वर सर्वव्यापक है। यह प्रकृति के कण-कण में समा हुआ है। वृक्षों में कह सकते हैं कि यह संसार उधी का एक रूप है—

'ईश्वरीय भाव जिम्न है इस गोचर जगती से

इसी अवाहन में प्रवृत्त यह वाहन सत्ता है।

ईश्वर और प्रकृति दो विरोधी सत्ताएँ नहीं हैं। प्रकृति ईश्वर-वाप्ति में विरोध उत्पन्न नहीं करती, बल्कि उसमें महायत्न होगी है—

'धाम्नि नहीं धनुमुक्ति जिन्ने ईश्वर हम सब कहते हैं

धनु प्रकृति का नहीं न उसका प्रतियोगी प्रतिबल है।

किसने कहा तुम्हें परमेश्वर और प्रकृति ये दोनों

साध नहीं रहते जिसको भी ईश्वर तक जाना है

उत्ते तोड़ देने होंगे तारे सम्बन्ध प्रकृति से

धीरे प्रकृति के रस में जिसका घग्गर रमा हुआ है  
उसे धीरे धीरे मिसे किन्तु, परमेश्वर नहीं मिलता ?

२ काम—काम की शक्ति निरंतर प्रगतिशील है। वह बिना किसी की  
प्रतीक्षा किये हुए धीरे धीरे बिना किसी रुकावट के प्रवाह पथ से चलता रहता  
है। यह काम धन्य है इसकी कोई सीमा नहीं है। समस्त सृष्टि इस काम  
के नियन्त्रण में चक्कर काट रही है—

‘सिन्धु विन्ध्य हिमवान् सके हैं विषायाम में जसे  
एक साथ एवों काल-वेबता के पहान् प्रांगण में  
भूत भविष्यत् वर्तमान सब साथ-साथ टहुरे हैं  
बातें करते हुए परस्पर पिरा-मुक्त भाषा में।’

३ बेहू—भारतीय दर्शन में बेहू को मुक्ति माना गया है क्योंकि यह  
मित्य नहीं है। उबंघीकार ने भी बेहू को मुक्ति मानकर इसी यत को मान्यता  
दी है—

‘बेहू मति वैदिक प्रकाश की किरणें मुक्ति नहीं हैं  
अधर नट्य होते मिटती भ्रकार नहीं बुम्बन की  
यह अक्षय आभा-तरंग क्षपित उसके चरखों पर,  
निराकार को जाग रहा है सारे आकारों में।’

४ जीवन—उबंघीकार ने जीवन को कार्य-कारण की लड़ी माना है  
जिसे निरंतर समर्पण प्राप्त रहते हैं—

‘अर्थ जोबते हो जीवन का ? लड़ी कार्य-कारण की  
बहुत दूर तक बिछी हुई है पीछे छोड़िये में ।  
जसो जहाँ तक भी प्रतीत पहर में अरण-अरण पर,  
मात्र प्रतीक्षा-निरत प्रान मग में मिलते जायेंगे ।’

५. प्रकृति धीरे पुरुष—उबंघी में प्रकृति धीरे पुरुष का विवेचन करने  
से पूरा यह आवश्यक है कि इनके स्वरूप को समझ लिया जाये ।

प्रकृति धीरे पुरुष की विजय व्याख्या सांख्यदर्शन में मिलती है। सांख्य-  
दर्शन में तीन तल्लों पर विचार किया गया है—अमृत अमृत धीरे अ ।  
अमृत के तेईग भेद हैं धीरे ये कार्य-कारण की परस्पर में बुद्धाप्रकृति के

परिणाम हैं। अश्वत्थ को मूलाप्रकृति कहते हैं। स को पुरय कहते हैं। सारे के अनुसार मूलाप्रकृति पञ्च धीर पुरुष चेतन है। पुरुष निश्चय निर्गुण अतिनिष्ठ है।

मूलाप्रकृति में तीनों गुणों की अवस्थिति होती है इसीलिए इसे तीनों गुणों की 'साम्यावस्था' माना गया है अर्थात् अश्वत्थावस्था में सत्त्व' सत्त्व' रूप में 'रजस्' रजोरूप में तथा तमस् तमोरूप के परिणत होते ही रहते हैं। इसमें कोई वैषम्य उत्पन्न नहीं होता।

प्रकृति के सार्विक अंश से 'महत् सत्त्व' की अभिव्यक्ति होती है जिसे 'बुद्धिसत्त्व' भी कहते हैं। महत् में भी सत्त्व रजस् धीर तमस् गुण अश्वत्थावस्था में निहित होते हैं किन्तु प्रमाणात् सत्त्व गुण की होती है। बुद्धिसत्त्व का अर्थ किसी कार्य के करने का निश्चय करना। इसके दो प्रकार के रूप होते हैं— सार्विक अंश अज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य आदि धीर तामसिक अंश अज्ञान अज्ञान अज्ञान तथा अज्ञान आदि। जीवात्मा के योग का प्रभाव साधन बुद्धि है और यही बुद्धि पूरा प्रकृति धीर पुरुष के सूक्ष्म भेद की अभिव्यक्ति करती है अर्थात् बुद्धि ही के द्वारा मोक्ष तथा मुक्ति भी होती है प्रतिभाएँ परिणाम होने के कारण बुद्धिसत्त्व से परिणाम के द्वारा अहंकार सत्त्व बन जाता है।

अहंकार से म्पारह इन्द्रियों की अभिव्यक्ति होती है। अज्ञान मोक्ष अज्ञान अज्ञान तथा अज्ञान ये पाँच अज्ञानियाँ हैं और इनके विषय हैं—रूप रस गन्ध रस तथा स्पर्श।

सांख्य के अनुसार अ अर्थात् पुरुष विमुखातीत धीर निश्चय है। वह एक है किन्तु जब अ पर अविद्या आदि का प्रभाव पड़ जाता है तो वह अज्ञान पुरुष कहलाता है। अज्ञानपुरुष बुद्धि बुद्धि एवं मोक्ष रूप योग्य वस्तुओं का भोग करने वाला होता है और अज्ञानी मुक्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। इस प्रकार सांख्य में तीन प्रकार के पुरुषों पर विचार किया गया है—

निश्चय पुरुष

२ अज्ञान पुरुष

३. मुक्त पुरुष

यदि इस विवेचन की छाया में देखा जाय तो उर्बची प्रकृति का स्वरूप ही घोर पुरुषवा पुरुष का। उर्बचीकार ने इस मत को इन चारों में स्वीकार किया है—

‘उर्बची ब्रह्म, रसता प्राय त्वरु तथा श्रोत्र की कामनाओं का प्रतीक है पुरुषवा कम रस गन्ध स्पर्श और शब्द से मिलने वाले सुखों से उद्बलित मनुष्य।

उर्बचीकार का विश्वास है कि प्रकृति घोर पुरुष दोनों के संयोग से ही परम तत्व की प्राप्ति होती है। जो लोग इन्हें पृथक्-पृथक् मानते हैं वे कभी भी परम सत्ता को प्राप्त नहीं कर सकते—

‘कितने कहा तुम्हें परमेश्वर और प्रकृति ये दोनों साथ नहीं रहते’ जिसको भी ईश्वर तक जाना है उसे सोड़ केने हूँते सारे सम्बन्ध प्रकृति से और प्रकृति के रस में जिसका अन्तर रना हुआ है उसे और जो मिले किन्तु परमेश्वर नहीं मिलेगा ?

अब कहा जा सकता है कि अपने काव्य-धीवर्य की परिमा की भाँति ही उर्बची का दार्शनिक पक्ष अत्यन्त सूक्ष्म और काव्यमय है। काव्यमयी धीमी के द्वारा कवि ने बर्तान की पूढ़ सूक्ष्मताओं को बहुत ही सरस बना दिया है। कवि और दार्शनिक में यही वा मूल भेद है।





## उर्वशी का प्रतीक विधान

‘प्रतीक’ का शाब्दिक अर्थ ‘चिन्ह’ ‘परिमाण’ ‘तकण’ इत्यादि है। हिन्दी का यह शब्द अंग्रेजी (Symbol) का समानार्थी है। ‘हिन्दी साहित्य कोश’ के अनुसार “प्रतीक शब्द का प्रयोग उस वृत्त (पद्य या गद्य) वस्तु के लिए जो किसी अव्यय (अक्षर या अक्षरसूत) विषय का प्रतिबिम्बन उसके साथ अपने साहचर्य के कारण करती है।”

सामान्यतया प्रतीक भाषा की वह शक्ति है जिसके द्वारा हम वस्तुगत स्मृतता का निराकरण करके भाषागत अमूर्तता की साधना करते हैं। (Matter) पदार्थ की (Materiality) पदार्थत्व से ऊपर उठा कर जो शब्द पद्य या चिन्ह हमें भाव की कोमलता तक पहुँचाता है, वही प्रतीक है। मानव चिन्तन की सूक्ष्मता और मानव भाषा का विकास प्रतीकों के माध्यम से ही हुआ है। विस्तार, पहुँच, ऊँचाई, तारत्व, कठोरता सबके निश्चित प्रतीक हैं जो हमारी भाषा में स्थिर हो गये हैं। कर्म, धर्म्यात्म, सांस्कृतिक परम्पराओं एवं परसभों में भी अनेक प्रकार की प्रतीकरमता देखी जा सकती है। इस प्रकार प्रतीक मानव भाषा एवं विचारों का अभिन्न अंग है। प्रतीकों से हम किसी विषय के महत्व को स्वीकृति देते हैं, पद्य या उक्तकी व्याख्या करते हैं और इसके प्रतिरिक्त अपनी शोच्यं वृत्ति को विभिन्न रूपों में प्रस्तुत करते हैं।

साहित्य क्षेत्र में प्रतीकात्मकता कई रूपों में परिणत होती है। सार्वजनिक-विचार प्रतीक-पद्धति पर ही धारित है। धार्मिकता का उद्भव है कव्य को सुन्दर कथन में बाधना और प्रतीकात्मकता का उद्भव है कव्य को सार्वभौम शोच्य एवं स्वीकृत तथा काव्य रूप देना। सार्वभौम’ शब्द इन प्रसंग में विशेष रूप से उल्लेख्य एवं महत्वपूर्ण है। प्रतीक चिन्तना विराट् एवं सार्वभौम होना उतना ही कवि विषय की विराट् काव्य-साधन्य एवं वस्तुता

गरिमा का परिचायक होगा। संगमधीन, उदात्त भारतीय संस्कृति के प्रतीक के रूप में रामचरितमानस का तथा विश्व-मानवता के विकास के प्रतीक रूप में कामायनी का उदाहरण दिया जा सकता है। य दोनों काव्य-ग्रंथ अपने रचयिताओं की विराट् कल्पनाशक्ति के समर कीर्ति-चिह्न हैं।

प्रतीकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन कवि के व्यक्तिगत और चित्तन व-समझने में विशेष रूप से सहायक हो सकता है। छायावादी काव्य के ये प्रतीक जो प्रकृति के शृंगार से सृजित हैं समित और कोमल हैं छायावादी कवियों की सीन्धु-वाससा दमित वासना का चित्तना सञ्चा प्रतिनिधित्व करते हैं। इसके विपरीत प्रयागवादी और कई कविता के भद्र अश्लेष प्रतीक अपने विषय अर्थ संसर्गों के कारण प्रयोगवादी कवियों की नतिक उच्छ्वसलता सस्कार-विहीनता का कच्चा चिट्ठा प्रस्तुत करते हैं।

'विधान' शब्द से अभिप्राय किसी प्रकार की योजना-बद्ध प्रतीक-विधि से नहीं बल्कि सामान्यतया काव्य में प्रयुक्त अथवा उपलब्ध प्रतीकों से ही है। जैसे विधान की शाब्दिक व्यंजना का पुण्यता निषेध भी नहीं किया जा सकता कारण कि एक ही भाव के विभिन्न प्रतीक बत समय कवि निरचय ही उन प्रतीकों की अलक्ष्य एवं मूल एकत्वता के प्रति सजग रहता है।

अब हम उबड़ी के प्रतीक विधान को लेते हैं। उबड़ी में जहाँ एक ओर प्रकृति चित्रों में अथवा उबड़ी-पुरुषों के सम्बन्ध-अनुन में अनेक सुन्दर प्रतीकों की योजना है वहाँ दूसरी ओर साध काव्य अपने सहज स्वाभाविक रूपविधान के कारण, प्रतीक-काव्य सा बन गया है। दोनों प्रमुख मान अपनी पृष्ठभूमि का प्रतिनिधित्व करते हुए स्मृतता के निरोध करके सृजन प्रतीकात्मक व्यक्तित्व से संयुक्त हो जाते हैं।

उबड़ी

'उबड़ी' का शाब्दिक अर्थ है "हृदय-निवासिनी"। अर्थ के अनु रूप ही कवि ने उबड़ी को विश्व-मानव (Universal Man) के अन्तर में निवास करने वाली काम-प्रणय का रूप दिया है और ज्ञाना बहिष्कृत्य उबड़ी—  
'इत्यादि प्रतीकों से उसके इस गुण का स्पष्टीकरण एवं समूर्तन किया है—

- १ 'जब जब के मन की मजुर बन्धि, प्रत्येक लुब्ध की उर्बन्धी,  
नारी की जे कल्पना बरम नर के मन में बसने वाली,  
२ 'कामना बन्धि की सिखा मुक्त म अनवच्छ'

'कामना बन्धि की सिखा इत्यादि सर्व अपनी सांकेतिकता में बेजोड़ हैं, काम प्रेरणा जीवनेच्छा रक्तोष्णता इत्यादि के इसके अधिक अभिव्यंजक प्रतीक कदाचित् ही दिये जा सकें। मानव के सतत कर्मों को प्रेरित करने वाली कामेच्छा के वृत्तियत अस्तित्व की स्वीकृति इन प्रतीकों में सर्वथा स्पष्ट रूप से हो जाती है। इसी भाव के धर्म्य पक्षों पर दृष्टिपात करते हुए कवि के कथन हैं —

- १ 'जु नाम के सब संगीत नाद मेरे निस्तोल प्रलय का हूँ  
सारी कविता जयगान एक मेरी जयलोक विजय का हूँ।  
प्रिय मुझे प्रखर कामना-कलित संतप्त व्यथ चञ्चल चुम्बन  
प्रिय मुझे रसोबधि में निमग्न उच्छ्वस ह्रिस्तोल निरत जीवन।  
२ में जब रस बन्ध दूर्य साकार कमल।

ये अभिव्यक्तियाँ उसी प्रतीक का साहित्यिक स्पष्टीकरण हैं। प्राध्यात्मिक स्तर पर यह कामना-सिखा ईश्वर से उद्भूत जीवच्छा है वैसे कि निम्नलिखित संकेत में स्पष्ट है —

“ तभी नारी जब निकल पड़ी तुम  
नारायण की महा कल्पना से एकाग्र मन से। ”

काम लुप्ता की यही सार्वभौमिकता है।

उर्बन्धी के रूप में कवि ने चिरन्तन नारीत्व को भी प्रतीक रूप में अभिव्यक्त करना चाहा है। इस विषय में पाठक समाम्यतया प्रश्न कर सकता है कि जबही एक साध काम-लुप्ता एवं नारीत्व का प्रतीक बयोँकर हो सकती है। इसका सीधा समाधान यह है कि काम-लुप्ता धरवा कामेच्छा का मूर्त रूप नारी है 'रूप रसगन्ध पूर्ण' साकार कमल बाँधी उक्ति नारी के अनेक विध भावपूर्ण की ओर इंगित करती है। कवि ने उर्बन्धी के इस प्रतीकारमक रूप पर अनेक स्थलों पर प्रकाश डाला है —

'म वैद्य काल से परे चिरन्तन नारी हू  
मे मृत भविष्यत् वर्तमान की कृत्रिम भाषा से विभक्त  
मैं विश्व प्रिया ।

तुम बंध जोहने रहो  
प्रधानक किसी रात में घाड़ंगी ।  
घघरीं में अपने घघरीं की मबिरा उडल  
में तम्हें बस से सषा  
पुगों की संघित तपन मिबाङ्गी ।

पुरूरवा मे भी उर्बंघी के चिरन्तन नारीत्व का रूप पर प्रकाश  
डाला है—

एक पुष्य में सभी पुष्य सब किरणें एक किरण में  
तुम सहित एकत्र एक नारी में सब नारी हो ।

इस प्रकार कामेच्छा एवं नारीत्व को प्रतीक रूप में प्रतिध्वनित करने वाली  
उर्बंघी कामात्मजा शब्दा से कितनी समान है, जो चिरन्तन नारीत्व का रूप  
भी है—'नारी तुम केवल शब्दा हो । मनोवैज्ञानिक रूप से उर्बंघी मानव-मन  
की कामप्रेरणा (Libido) का प्रतीक है और सांस्कृतिक दृष्टि से चिरन्तन  
नारीत्व का । काव्य में उसके स्पृश व्यक्तित्व से मिला है दोनों रूप उर्बंघा  
स्पष्ट मुक्त हैं ।

पुरूरवा

उर्बंघी के उत्तरपक्ष में पुरूरवा विश्व-पौरुष्य (Universal Manhood)  
का प्रतीक हाकर भाषा है । उर्बंघी का प्रकृत है —

कौन पुष्य तुम ?

पुरूरवा का उत्तर है—

जो धनेक कर्मों के संघिमाने में  
तुम्हें जोडता फिरा तर कर बारम्बार मरण की  
कर्मों के धनेक जुडों बीपियों प्रायनाशों में  
पर तुम मिलीं एक दिन लहसा बिसे सुख मेयों पर  
एक पुष्य में धमित पुगों के स्वप्नों की भाषा सी ।

स्वतंत्र संस्था एवं सौम्य रोगों दृष्टियों से प्रचुर हैं। काम का इतना यथा-  
तथ्य सुन्दर प्रतीकात्मक चित्रण हिन्दी साहित्य में बहुत कम स्वर्णों पर  
मिलेगा।

१ उदात्त काम को अमृतसिखा यम अम्यक्त कमल शून्य इत्यादि  
शब्दों की सहायता से प्रतीकात्मक रूप देने का प्रयास किया गया है। ये शब्द  
भारतीय अध्यात्म के प्रायः सब से प्रतीक हैं तथा इनका प्रतीकात्मक अस्तित्व  
असंदिग्ध एवं सर्वस्वीकृत है—

(क) बाहू मात्र ही नहीं, प्रम होता है अमृत सिखा भी।

(ख) ये किरणें ये कूल किन्तु, अंतिम सोपान नहीं हैं  
उठना होया बहुत दूर ऊपर इनके तारों पर  
स्यात् ऊर्ध्व उस अम्बर तक किसकी ऊँचाई पर से  
यह मूर्तिका-विहार दिव्य किरणों का हीन लगेगा।

(घ) बेह प्रेम की अम्ममूमि है पर उसके विचरण की,  
सारी लीलामूमि नहीं सीमित है बधिर-त्वचा तक।  
यह सोमा प्रसरित है मन के बहुत मुह्य लोको में  
जहाँ क्य की लियि अक्षय की सवि साँका करती है  
धीर पुरुष प्रत्यक्ष विभासित नारी-मुह्यमंडल में  
किसी दिव्य अम्यक्त कमल को नमस्कार करता है।

× × ×  
प्रथम प्रथम मिट्टी कठोर है तब वायव्य यम भी।

अतिसय बौद्धिक एवं अन्वैहिक ५ कृति का पाठक साधारणतया कामवृत्ति  
के इस उदात्त रूप को तर्कान्तर पर अस्वीकृत कर सकता है किन्तु यह सर्वथा  
बैज्ञानिक तर्क है कि कामवृत्ति का प्रत्यक्ष प्रमाण शारीरिक ही नहीं मानसिक  
स्तर पर भी हुआ करता है। मनोविज्ञान उसी को कामवृत्ति की पूर्ति से  
उत्पन्न सतोप कहता है। उर्वशी के कवि ने काव्यात्मक शब्दों और सभी में  
इसी तथ्य को स्पष्ट किया है। कवि ने लिखा भी है—

“मानवीय प्रेम की सारी लीला शरीर पर समाप्त नहीं होती उसके  
अनुत् से मंच वायवीय और निराकार है।”



हुए दो अत्यधिक अभिव्यंजक प्रतीकों का प्रयोग करती है—

‘सबो छह में बनी प्रम यह भोप निरत प्रमी का,  
पर योपी का प्रम रूप से छाया में घाना है।

कृष्ण घनों में मधमावन पर्वत सुकम्पा घानु भी प्रतीक माने जा सकते हैं। यदि इनके प्रतीकात्मक स्वरूप को पूर्ण व्याख्या हो जाये एवं चौकीनरी के व्यक्तित्व के मौलिक पक्ष का विवेक करके उस पात्र को कोई धार्मिक व्याख्या प्रदान की जा सके तो उर्बन्धी को निरवय ही रूपक काव्य (Allegory) माना जा सकता है।

मिथ्या रूप में यही कह सकते हैं कि उर्बन्धी के प्रतीक विधान का सर्वथा सतोपजनक परालोचन तो उसके कथापत्र विवेक रूप से अस्तुत-विधान के सूक्ष्म विरलेपण द्वारा ही संभव है तो भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि —

(१) उर्बन्धी के दोनों प्रमुख पात्रों—गुरुरबा एवं उर्बन्धी—तथा कामानुसूति के विभिन्न स्वरों को प्रतीकांकित करने के लिये कवि ने काव्यधर्म का पूर्ण व्यय किया है और उर्बन्धी निरवय ही कामानुसूति का सहज सरल और उच्च प्रतीकात्मक रूप प्रस्तुत करने में सफल है।

(२) उर्बन्धी का प्रतीक विधान यथावश्यकता मनोविज्ञान-सम्मत एवं वैज्ञानिक दृष्टि से प्रायः है।

(३) भारतीय साहित्य संस्कृति कला इत्यादि से प्रतीकों का चयन करने में बिनकर जी ने अपूर्व नवी बुद्धि का परिचय दिया है। आयाबाब के वायवीय ययन से उर्बन्धी भरती पर न केवल स्वयं घाने का बल्कि कविता कामिनी को भी सींच घाने का जो प्रयत्न किया जा उसकी सार्विक पूर्ति उर्बन्धी की रचना से हुई है। परंपरामत प्रतीकों का उपभोग उर्बन्धीने एक नई विधा में किया है। परंपरा एवं प्रकृति का यह यथार्थम हिरो काव्य के लिये निरवय ही धूम है। उर्बन्धी की प्राथमिक सिद्धि जब भी इस काव्य का व्याख्यात विरलेपण किया जायेगा यही घानी जायेगी कि मानव-जीवन के मूल प्ररक्षा-योग्य काम का यह काव्य निरवय निरवयत्न सहज वाक्यात्मक चित्र प्रस्तुत करता है और कि नई कविता के अस्तित्व विद्याभूट वातावरण में यह काव्य बहुत महान, प्ररक्षात्मक तथा मनाहारी प्रयास का सूचक है।

## उर्वशी में काम का स्वरूप

साधारणतः काम का अर्थ है इच्छा या इन्द्रिय सुख की इच्छा। यह इसका सीमित अर्थ है जो काम के केवल एक रूप का बोधक है किन्तु केवल इन्द्रियों के द्वारा प्राप्ता सुखेच्छा ही काम नहीं है। अपने व्यापक अर्थ में यह मानव-जन की समस्त क्रियाओं का प्रेरक है। यही कारण है कि मानव मन के प्रवृत्त और स्थायी भावों में काम का आधिकार्य से ही महत्वपूर्ण स्थान है और इसका विवेचन भी इसी की महत्ता के अनु रूप होना पड़ा है। वेदों में इसका प्रयोग शब्दा की इच्छा के अर्थ में हुआ है जो समस्त सृष्टि का मूल कारण है—

कामस्तदग्रे समवर्ततामि मनसोरेत प्रथमं यथासीत् । इमे कामं मन्वया  
गोमिरश्वेषाश्चात्रावतारायसा पप्रप्सवच ।

काम की इसी महत्ता के कारण इसके विवेचन की परम्परा आदिकाम से लेकर आज तक अक्षुण्ण बनी हुई है।

### काम का विवेचन

ऋषि और महर्षि सभी ने एक स्वर से काम की महत्ता स्वीकार की है। गृह्यसारथ्यक उपनिषद् में पुरुष का काममय माना गया है—

‘काममय एवार्थं पुरुषः।’

शिवपुराण में बताया गया है कि जो ध्यानस्थ अमृत और दिव्य है उसी को परब्रह्म कहते हैं और परमात्मा भी उस ही कहते हैं। उसी के विकार का नाम है काम—

ध्यानस्थममृतं दिव्यं पर ब्रह्म तदुच्यते ।

परमात्मेति चाप्सुवत विकारा कामसंज्ञिका ।

मनु महाराज ने कहा है कि काम ही सब क्रियाओं का मूल है। कोई भी क्रिया अकाम नहीं होती—

‘अपद्यि कुप्ते किञ्चित्कामस्य वैच्यतम् ।

अकामस्य क्रिया काञ्चिद् वृष्यते भिद् कश्चित् ।



महाभारत में मुमुक्षु पर काम की विषय बिछाई गई है। काम अपनी विषय की घोषणा करता हुआ कहता है कि जो मोक्ष-इच्छुक पण्डित मोक्ष प्राप्ति में ध्यान लगाकर मुझे नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं उनमें भी मैं मोक्ष रति के रूप में स्थित रहकर नृत्य करता हूँ और हंसता हूँ ; प्रयत्न मोक्षकामी को मैं नचाता हूँ और उसका परिहास करता हूँ—

‘यो मां प्रययते हन्तु मोक्षमास्थाय पण्डित ;

तस्य मोक्षरतिस्वस्य नृत्यामि च हंसामि च ।

कामयून में काम की बर्ष, धर्ष और मोक्ष सभी में व्याप्त बताया गया है—

‘नमो धर्मावकामैभ्य तत्कामैभ्यो नमो नमः’ ।

भगवद्गीता में भी बर्ष धर्ष धारि काम की धोर संकेत किया गया है—

यं धर्मावधिमुक्तिकामा भवन्त इष्टां गतिमाप्नुवन्ति ।’

मोक्षकामी तुमसीवास ने काम की अपार शक्ति मानी है जो समस्त संसार को अपने बल में किए हुए है—

‘काम कुसुम बनु स्यापक कीन्हे, लज्जत भुवन अपने बस कीन्हे ।

मोह न धम्ब कीन्हे केहि केही को बन काम नचाव न छोही ।’

पारशात्य साहित्य में भी काम का विचैचन पर्याप्त गम्भीरता से हुआ है। इस विषय के तीन प्राचार्य प्रमुख रूप से सम्बेदनीय हैं—फ्रयड ऐडलर और कु ग। फ्रयड ने भारतीय प्राचार्यों की धारि काम को प्रमुखतम प्रेरक शक्ति माना है। ऐडलर ने काम का स्वान ‘ग्रह’को लेकर अपने मत की स्थापना की है। कु ग ने विरोधी होत हुए भी एक प्रकार से फ्रयड के मत की ही व्याख्या की। इन्होंने कामवृत्ति (Libido) शब्द का अधिक विस्तृत धर्ष में प्रयोग किया जिसमें फ्रयड की कामवृत्ति और ऐडलर की ‘ग्रहमस्थापन प्रवृत्ति प्रयत्न ‘ग्रह’ दोनों ही सम्मिलित हैं।

उपर्युक्त उद्धरणों से काम के मोक्षरथ का स्पष्ट बोध हो जाता है किन्तु काम का प्रयोग इसी धर्ष में हुआ हो ऐसी बात नहीं है। काम का प्रयोग साहित्य में केवल इतिव सुबेच्छा के लिए भी हुआ है। धर्म साहित्य में स्थित धाम-प्रयोग को दो बर्षों में रक्ता जा सकता है। एक बर्ष में काम



अपनी इसी मान्यता का (यद्यपि यह मान्यता भारतीय साहित्य के लिए नहीं लगी है) कवि दिनकर ने काव्यमय विवेचन पुरुरवा और उर्बन्धी के माध्यम से प्रस्तुत काम्य के तृतीय अंक में किया है। पुरुरवा अनातन पुरुष का प्रतीक है जो केवल जब माननाओं के अराजक पर ही नहीं बुद्धि और आत्मा के अराजक पर भी खड़ा हुआ है। उर्बन्धी अनातन नारी का प्रतीक है जो जब माननाओं के अराजक को ही सब कुछ समझती है और अपनी काम तृप्ति के लिए वह पुरुरवा के बाहु-नाथ में बंधने के लिए स्वर्गलोक से भ्रूलोक पर इसी प्रकार जमी आई है जैसे अमरकान्त अमर को बीच लेटा है। इसी अराजक के कारण वह अपने अपहरण को उचित नहीं बरन् पथ बधाती है और उसे उन प्रेमिकाओं से बोड़ी घेर के लिए ईर्ष्या हो जाती है जो अपहृत होती हैं—

‘बहुी अम्य जो मानसवी प्रणयी के बाहु-बन्धन में  
लिखी नहीं विक्रम-तरंग पर खड़ी हुई जाती है।’

पुरुरवा के मन में जो काम भावना है उस पर बुद्धि का अंकुश है इसलिए उसमें अनासक्ति का भी योग है। पुरुरवा की मान्यता है कि जो व्यक्ति संसार में संसिद्ध में बसबत् रहता है वही ध्येय है क्योंकि अनासक्ति जिस प्रकार अम्य माननाओं को पवित्रता प्रदान करती है, उसी प्रकार अम को भी पवित्र बनाती है—

‘नहीं इतर इच्छाओं तक ही अनासक्ति सीमित है  
जलका किंचित् स्पर्श प्रणय को भी पवित्र करता है।’

पुरुरवा की यह अनासक्ति-भावना उर्बन्धी को बहुत अलस करती है। उसकी कारण है कि अनासक्ति से काम भावना दुर्बल हो जाती है। केवल आसक्ति ही इस भावना को अक्षि और आत्म्य प्रदान करती है। इसलिए जब तक अमृत्य के मन में आसक्ति रहती है, तभी तक नारी का उस पर अधिकार रहता है और जब यह आसक्ति अनासक्ति में बलम जाती है नारी अपना अधिकार खो बैठती है।

यहीं से पुरुरवा के मन का उन्मत्त आरम्भ हो जाता है। वे आसक्ति और अनासक्ति के बीच झुसने लगते हैं। उनके समझ में नहीं आता कि उनके मन का उन्मत्त रूप के रसमय दिग्मन्त्र के कारण है अथवा अपने ही अक्षि की

बुद्धि के कारण ? और इस प्रश्न का उत्तर बार-बार उन्हें यही मिलता है—

‘बुद्धि का जो वेप है, वह रक्त का भोजन नहीं है।  
रक्त की प्राप्ति का मार्ग प्राणिक नहीं है।’

पुकरवा इस उत्तर को भी पूणतया ग्रहण नहीं कर पाते। यदि ग्रहण कर लें तो इन्द्रकैला? जो मानव का स्वभाव है। वे जानते हैं कि उनमें प्रमित पार्थिव शक्ति है किन्तु काम की शक्ति सबसे भी प्रबल है जिसके कारण वे महज ही भाषी के बंकिम भयन-बाण से गिड़ हो जाते हैं। वे स्वीकार कर लेते हैं कि काम भावना दुर्निवार है यह समूचे संसार में रही हुई है।

उर्बेगी समझ जाती है कि पुकरवा क मन पर बुद्धि का संक्रुण सपा हुआ है। जब तक यह संक्रुण दूर नहीं होगा तब तक उनकी धनामयिता की भावना दूर नहीं हो सकती। इसलिये वह काम और बुद्धि की तुलना करके बुद्धि को हथ मिड़ करने का प्रयास करती है—

‘रक्त बुद्धि से अधिक बली है और अधिक शक्ती भी  
बनोकि बुद्धि सोबती और मोहित अनुभव करता।

इसलिये वह ‘रक्त की माया’ का समयन करती है—

‘तुम निकरते सो बिराग जिसकी बिभीविका सुनाकर,  
मेरे लिये तप्य की बाणी बहो तप्य सीमित है।  
पदो रक्त की माया को बिबास करो इस लिये का’

किन्तु महाराज पुकरवा जबकी क इन तर्कों से सहमत नहीं होते। उन्हें पूर्ण विश्वास है कि केवल शरीरालयित हैप है। मनुष्य को शरीर की सीमा की बांध छुतिमान और मनोमय जीवन को प्राप्त करना चाहिये—

‘ज्जर को छुतिमान मनोमय जीवन भक्तक रहा है  
पते प्राप्त हम कर सकते हैं तन के अतिकमप्य से।

और इसी के द्वारा मनुष्य अतपरमा तक उठ जाता है—

‘यह अतिकर्ति बियोग नहीं अतिकमप्य दर-दारी का  
बैह-बम से परे अतररामा तक उठ जाता है।’

निष्कर्ष यह है कि उर्बेगी में काम के जिस स्वरूप का बिबेक हुआ है, वह परिप्लुत और उघात है। अपनी इसी परिप्लुति और अधात्म के कारण काम की अनुर्बेगी में मनुष्य की गई है।

## उर्वशी का काव्य-सौंदर्य

भारतीय साहित्य में काव्य-मुरप की कल्पना अत्यन्त प्राचीन है। इसी आधार पर काव्य-संबन्ध को दो भागों में विभाजित किया गया है—आत्मा और शरीर काव्यशास्त्र की भाषा में इन्हें क्रमशः भावपक्ष और कलापक्ष कहते हैं। भावपक्ष का सम्बन्ध काव्य की वस्तु से है और कलापक्ष का उसके आकार से। जिस प्रकार वस्तु और आकार का घट्ट सम्बन्ध है, उसी प्रकार भावपक्ष और कलापक्ष दोनों परस्पर इस प्रकार जुड़े हुए हैं कि इन्हें अलग नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार शरीर के अभाव में आत्मा की और आत्मा के अभाव में शरीर की कल्पना निराधार है, उसी प्रकार भावपक्ष के अभाव में कलापक्ष की और कलापक्ष के अभाव में भावपक्ष की कल्पना नहीं की जा सकती। इन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध अध्ययन की सुविधा के लिए स्वीकार किया गया है अथवा किसी काव्य की गरिमा इन दोनों के समुचित सम्बन्ध में ही निहित होती है।

### भावपक्ष का विवेचन

भावपक्ष का सम्बन्ध काव्य के अर्थ विषय से है अर्थात् इसका विवेचन करने के लिए इसे दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—भाव और रस। इन दोनों का भी परस्पर घट्ट सम्बन्ध है। भाव के बिना रस की और रस के बिना भाव की कोई उता नहीं होती। इसीलिए आचार्य मल्ल ने कहा है—

‘न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्धितः’।

मनोबुद्धिदोषों के अनुसार भाव उन विकारों का समूह है जो बाह्य वस्तु के संवेदनों से मनुष्य के हृदय में उठते हैं किन्तु साहित्य के भाव मनोविज्ञान के भाव से भिन्न होते हैं अर्थात् साहित्य में मनोविज्ञान की वह परिभाषा स्वीकार नहीं की जाती। साहित्य के भाव मन के वे विकार हैं जिनमें सुख-दुःखप्रमद प्रभुत्व के साथ कुछ विशात्मक प्रवृत्ति भी रहती है। दूसरे शब्दों में भाव का परिभाषा काव्य के अर्थ विषय (कलापक्ष) के है।



## उर्वशी का काव्य-सौंदर्य

भारतीय साहित्य में काव्य-मुद्रण की कल्पना अत्यन्त प्राचीन है। इसी प्रकार पर काव्य-संरक्षण को दो भागों में विभाजित किया गया है—आत्मा और शरीर काव्य-आत्म की भाषा में इन्हें क्रमशः भावपक्ष और कलापक्ष कहते हैं। भावपक्ष का सम्बन्ध काव्य की वस्तु से है और कलापक्ष का उसका आकार से। जिस प्रकार वस्तु और आकार का घट्ट सम्बन्ध है, उसी प्रकार भावपक्ष और कलापक्ष दोनों परस्पर इस प्रकार जुड़े हुए हैं कि इन्हें धमक नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार शरीर के अभाव में आत्मा की और आत्मा के अभाव में शरीर की कल्पना निराकार है, उसी प्रकार भावपक्ष के अभाव में कलापक्ष की और कलापक्ष के अभाव में भावपक्ष की कल्पना नहीं की जा सकती। हम दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध अत्यन्त ही सूक्ष्म के लिए स्वीकार किया गया है अतः किसी काव्य की गरिमा इन दोनों के समुचित समन्वय में ही निहित होती है।

### भावपक्ष का विवेचन

भावपक्ष का सम्बन्ध काव्य के अर्थ विषय से है अतः इसका विवेचन करने के लिए इसे दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—भाव और रस। इन दोनों का भी परस्पर घट्ट सम्बन्ध है। भाव के बिना रस की और रस के बिना भाव की कोई उता नहीं होती। इसीलिए आचार्य भरत ने कहा है—

‘न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसबन्धितः’।

मनोविज्ञानियों के अनुसार भाव उन विकारों का समूह है जो बाह्य जगत् के संवेदनों से मनुष्य के हृदय में उठते हैं किन्तु साहित्य के भाव मनोविज्ञान के भाव से भिन्न होते हैं अतः साहित्य में मनोविज्ञान की यह परिभाषा स्वीकार नहीं की जाती। साहित्य के भाव मन के वे विकार हैं जिनमें सुख-दुःखात्मक अनुभव के साथ कुछ क्लियात्मक प्रवृत्ति भी रहती है। दूसरे शब्दों में भाव का अतिप्राय अर्थ के अर्थ विषय (कथावस्तु) से है।





मनुष्य का धर्म है—प्रायश्चित्त से ऊपर उठना धीर अपनी सहज प्रकृतिमें पर मानवोचित उदात्तीकरण की छाप मगा हैना। 'उर्बंसी में यही बताया गया है कि काम का उदात्त रूप को तन की सीमा का अधिकमणु करके प्राप्त होता है मनुष्य को प्राण है। इसी से उसके जीवन में प्रगति के सत-सहस्र निर्मर फूटते हैं।

'उर्बंसी का धर्म रस शृंगार रस है। इस रस में शय्य रसों की अपेक्षा अधिक व्यापकता होती है इसलिए इसे रसरज स्वीकार किया गया है।

शृंगार रस के दो भेद हैं—संयोग शृंगार धीर वियोग शृंगार। इन्हें क्रमशः सम्भोग धीर विप्रसम्म भी कहते हैं। संयोग में नायक-नायिका एक साथ रहकर प्रानन्द की उपलब्धि करते हैं। वियोग में वे दोनों बिछुड़ जाते हैं। विप्रसम्म शृंगार के चार भेद होते हैं—पूर्वराग, मात प्रवास धीर कण। पूर्वराग का अभिप्राय है रूप-सौन्दर्य आदि के श्रवण श्रवण बर्तन से परस्पर श्रुत नायक-नायिका को उस दशा का जो उनके समागम से पूर्व हुआ करती है। मान का धर्म है क्रोध या प्रथम-क्रोध। इसे प्राचार्यों ने विमूढ विप्रसम्म नहीं माना इसमें नायक-नायिका परस्पर जाड़े न बोले किन्तु एक दूसरे के पास तो रहते हैं। इसलिए इसमें विरह की पुणानुभूति नहीं होती। प्रवास में नायक-नायिका किसी कारण से विरह जने जाते हैं धीर इस प्रकार एक दूसरे से बिछुड़ जाते हैं। कबल विप्रसम्म शृंगार का यह प्रकार है जिसे प्रेमी धीर प्रमिका में से किसी एक के दिवंगत हो जाने किन्तु पुनर्जीवित हो उठने की शक्यता में जीवित बचे दूसरे के हृदय के शोक संश्लिष्ट रति भाव का अभिव्यञ्जक कहा गया है।

उर्बंसी में शृंगार रस के ये दोनों पक्ष दिखाये गये हैं। उर्बंसी को महाराज पुकरवा एक रास से बचा भेते हैं। उर्बंसी उनके धीरे धीर रूप को देखकर उन पर मुग्ध हो जाती है। महाराज स्वर्णलोक से अपनी राजधानी प्रतिष्ठानपुर को जने जाते हैं। उर्बंसी उनके विरह में इतनी व्याकुल हो जाती है कि स्वर्ण का समूचा बीज उस गौरव धीर भी-मोट प्रतीत जाने सयत है—

'स्वर्ण-स्वर्ण मत कहो स्वर्ण में तब लीलाग्य भरा है।

धीर महाराज पुकरवा भी उर्बंसी के लिए कम व्याकुल नहीं है—

'मेरे शय्य धीर बनकर कल्पद्रुम पर ठामें।

इसके अलावा उबंती और महाकाव्य युद्धका का विरत ही जाना है। विरत-युद्ध में महाकाव्य युद्धका इतना आनन्द है कि घन घन घन घन की घन ही मरी बर पाते—

‘बहु मे हृम-युद्ध जिसे का के घनम काव्य काव्य में।

उबंती का एका “कार एते घन” की अभिव्यक्ति जानी है—

‘बहु मे हृम-युद्ध विरत मे घने बना ही एका तबय को।

एक प्रकार उबंती, और युद्धका एकी व माध्यम व बरि मे शृंगार रग की शोरग वा है किन्तु एत शोरना शशाभाविद कम और बिग्न-युद्ध घणित है। युद्धका और उबंती की काव्य-विषय तादिक भावपाशार्थो म विरत युद्ध युद्धका विरत जाना है। एका व, मरा है कि एत एका व शृंगार रग काव्य में एत शशाभाविदना मही या घणित को। बरि उक्त विरत और एका की भाव मे शोरना है एत शशाभाविदना घणित वही मही एत जानी।

एकी घणित-गी की बिग्न-युद्धा घणित-युद्धा शशाभाविद और ममणती है। इतना काव्य मही है कि बरि मे उक्त एका बिग्न का माध्यम मरा जाया। घणित-गी क व एत विरत माविद और प्रकाश है—

‘घणती ! जीन एका है बिग्नको मारी मही मही ?

क/गी का मर कका घणित की रैता की घने मे

जाता है यह हृम घणित का उक्तको जाती है।

शृंगार रग के घणित-गी और और माध्यम रग क प्रमग भी उबंती मे घणित-गी ही है, किन्तु उक्त भी घणित-गी बिग्न का घणित है।

उबंती का काव्य-गौरव

कनायक व घणित-गी बिग्न-युद्धा घणित-युद्धा शोरना और माया-मंगलन का बिग्न-युद्धा है। घणित-युद्धा-युद्धा मनुष्य की मोक्ष-युद्धा-युद्धा युद्ध की परि भाविद है, घणित-युद्धा-युद्धा-युद्धा मोक्ष-युद्धा-युद्धा प्राली है। बहु घने युद्ध-युद्धा के काव्य-युद्धा की मोक्ष-युद्धा मे मंगलन रैता माहता है। उक्तकी यह इच्छा काव्य उक्त ही मोक्ष-युद्धा ही परन्तु घणित-युद्धा-युद्धा की भी बहु घणित-युद्धा-युद्धा-युद्धा का इच्छा है। इकी इच्छा क अभीभूत होकर बहु मोक्ष-युद्धा का घणित-युद्धा करता है। बाणी क बिग्न-युद्धा में भी उक्तकी यही इच्छा



## उर्वशी का मूल्यांकन

विद्ये अत्यासी म उर्वशी वा गर्हातीग आशाचना को अिन्न अिन  
 रक्षणों से देना द्या । अिन के अरि मय अयशा अय म अण अिनर्ण मया  
 कुम्भम भी अवापान अगत अिन ए अिन्यु अिन भी अय म अूनरन  
 रक्षा अण अयन अनाय अचना अक व या अवादि अगते अिना न ती  
 नेक अ अिअम ती अना व मम्युग अा गता ? अौर न ती अदि को  
 अदि का मार-अौर अिअक अा गता ? ।

अय उर्वशी वा अवापिन अू अरीअ अय अर्ण हो गया ? । अय अय अर्ण  
 से अिअ-अिअ मयीअरीअे अनी मदि व अकुअर अये अिन म अरी  
 अिअ अुअिअोअ अम्युग अिन ? । अय अिअारीअे अरीअे अे अुअरीअन की  
 अदि अिअे अर्ण से अारी अीअ अी । अय अीअन को अुअिअ अयन मये  
 अरुअ अिअर्ण ता अरी अिअनता है अि अाअुअिअ अान अग म अर्वशी  
 अरु अय वा अनाअान्य अदि ? । अय अवापान म एक अरुता मम्युग  
 अरीअर अम्यु की अुअि अराअीअ अ म । अुअि अे अराअीअ होने का अूम  
 अरुअ वा—अून अय अारी के अिन म अरुअिअ अाअानुअुअि अी मशीअीअ  
 अान्य ।

अदि अिनअर अे अुअरवा अका अरुशी की अका वा अीअरुअ अाअर  
 अेअर अय अाअानुअुअि वा अिअिअनअ अिया है । अण अानाअरुओं का ऐमा  
 अण है अि अिनअर भी अे अरुशी अौर अुअरवा का अवाअरु अरुअ अरुअे अरुअे  
 अुअे अगाअ है । मय अानोअरु के अय अरुअय से अरुशी मय अय अंअीअ  
 अुअि का अाम अाअ है । अरुअे अानअ अय अान वा अान नही है अि अान  
 अण अिनरी भी मयन अाम्य-अुअिअ है अय अका अरुअ अिनअ अका मयान  
 अयअय अरुअे अया अिरुअनीअ अरुअ है अरुअिअ अाम्य के मरुअरुअीअरुअ म  
 अरुअीअ अरुओं का अरुअरुअुअे अयन है । अरुअिअ अरुओं का अाअर  
 अाम्य की अना अगअ अय अरुअन नही अना मरुअ अिनना अुअिअरुअिअ

कर्मशीला है। वह चाहता है कि वह जो कुछ भी करे सुने प्रशंसा मिले, वह भी सीम्बर्न-विहीन न हो पाये इसीलिए काव्यों में धर्मकारों की शोचना की गई।

धर्मकार दो शब्दों से मिलकर बना है—धर्म+कार। धर्म का अर्थ है सुवर्ण और 'कार' का अर्थ है करने वाला अर्थात् मूर्खित प्रशंसा प्रसन्न करने के साधन को धर्मकार कहते हैं।

सामान्यतः धर्मकारों के तीन भेद माने जाते हैं—धर्मधर्मकार, धर्मार्थकार और उभयार्थकार। धर्म को समस्त करने वाले धर्मधर्मकार धर्मार्थकार कहलाते हैं। धर्म को समस्त करने वाले धर्मार्थकार धर्मार्थकार कहे जाते हैं और धर्म तथा धर्म दोनों को समस्त करने वाले तथा दोनों में प्रभावित रहने वाले धर्मकार उभयार्थकार होते हैं।

उन्नति में धर्मकार योजना स्वाभाविक और धर्मधर्मकार है। कवि का कहीं भी धर्मकारों के प्रति प्रभावपूर्ण मोह दृष्टिगोचर नहीं होता है। इसीलिए इसमें धर्मकारों का ही धारण है। धर्मार्थकार में सभी धर्मकारों का निर्देश यथास्थान कर दिया गया है अतः यहाँ जहाँ शोचना अनुचित प्रतीत होता है।

✓ 'उन्नति' की भाषा धर्मधर्मकार और भाषाधर्मकार है जो भाषा को अपने प्रकाश प्रकाश में सर्वत्र प्रकाशित कर रही है। इसीलिए 'उन्नति' में धर्मकारों का सुवर्ण सुवर्ण बन गई है।

निर्णय रूप में कहा जा सकता है कि 'उन्नति' का काव्य-सौन्दर्य कवि की प्रकृति की सही प्रकृति है। यद्यपि इसमें काव्यशास्त्रीय नियमों का पूर्ण प्रबोध नहीं मिलता, तथापि अपने क्षेत्र में जो कुछ भी कहा गया है, वह साम्य है। इस काव्य में भाषा और भाषा दोनों का समुचित सम्बन्ध हुआ है, किन्तु दोनों एक दूसरे को चुनौती देते हुए-से प्रतीत होते हैं। किसी महान् कवि प्रकाश उत्तम काव्य की सफलता भी यही है।



घामार बना सकता है। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि 'काम' मानव की मूल प्रकृति है। घोर मानव की मूल प्रकृतियों पर काम का बन्धन नहीं होता। कबा या पात्र तो उस मूल अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र होते हैं मगर फर्क इतना है कि प्रस्ताव कबा की ठोस भित्ति पर मूल बिलकृतियों के बिना बितने सुन्दर उभर कर आते हैं। उतने उत्पाद कबावस्तु में नहीं उभर पाते। उर्बंसी-पुकरबा के ऐतिहासिक प्रकबा पीछलिक स्वरूप व्यक्तित्व को यद्यपि कवि ने प्रहृष्ट किया है लेकिन काव्य में इनका व्यक्तित्व एवं पटनाक्रम अभिव्यक्ति को ही प्रस्तुत करता है। मूल अभिप्रेत काम की व्यञ्जना नहीं करता। ये (पुकरबा-उर्बंसी) तो मूलभाव (काम, प्रेम) के साधन मात्र हैं पर्याप्त नहीं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि उर्बंसी-काव्य का घामारभूत विषय पुकरबा-उर्बंसी की कबावस्तु नहीं है अपितु कामानुभूति है। काम मानव की प्रबलतम वृत्ति है। 'नर नारी के स्वाभाविक संसर्ग में प्रेम का पाणी बह जाने पर यही काम-वृत्ति एक पवित्र कमनीय सम्बन्ध का रूप प्रहृष्ट कर लेती है। किन्तु उर्बंसी का कवि उसे सहज मानव-वृत्ति के रूप में चित्रित करने का इच्छुक है। उसने घामह-सहित यह किया भी है।'

काम की सहज मानव-वृत्ति को कवि ने केवल घरीर प्रकबा जैव प्रयातम तक ही सीमित नहीं रखा अपितु उसे घात्मा के उर्ध्वसोक पर समासेन करने का प्रयास किया है। कवि ने अपने काव्य की भूमिका तथा उर्बंसी काव्य में बात का दार्शनिक विवेचन किया है कि प्रेम के द्वारा जो ब्रह्म प्रयातम कर सकता है पहुंच सकता है जब कि योवादि के माय सूर्य के समान हैं जो साधक को चौंधिया देते हैं। परिणाम यह होता है कि वे विभ्रमित एवं पबभ्रष्ट हो जाते हैं। घत नर-नारी के प्रेम की महत्ता को स्पष्ट करते हुए कवि दिनकर ने अपनी भूमिका में कहा है—'देख घोर काम की सीमा के बाहर निकलने का एक मार्ग मोप है किन्तु उतकी दूसरी राह नर-नारी के प्रेम के भीतर से भी निकलती है। X X X प्रेम की एक उदात्तीकृत स्थिति बह भी है जो समाधि से भिन्नती-मुक्तती है। यद्यपि कवि दिनकर ने यह कोई मौलिक विचारधारा प्रस्तुत नहीं की है। बेरो में योवादि द्वारा प्राप्त





कारण बिरह में ठपने से 'यौन-स्वभाव' भी हो जाता है। यौन-उर्ध्व को कवि ने महाशयनी शोधीनरी की सखी मन्थिका के मुँह से इस प्रकार कहल बाया है—

“इसमें क्या आश्चर्य प्रीति—जब प्रथम प्रथम जपती हूँ  
दुर्लभ स्वप्न समाप्त रम्य नारी नर को सपती हूँ।”

मर-नारी के प्रेम की जड़ जम जाने के बाद परस्पर मिसने की धाकांला होती है। व एक-दूसरे में समा जाना चाहते हैं। धारीरिक कामानुभूति की इस भावना का कवि ने बड़े विस्तार से उल्लेख किया है। 'उर्वशी ऐकभोक की अप्सरा है जहाँ शीतलता का निवास है घट खट्टी पर आकर वह शीतलता को छोड़कर पुंस्य की उत्तम्य मुबाधों के पास में बसी रहना चाहती है। बापि पहले-याहल पुररना की भी यही स्थिति थी। इस धारीरिक कामानुभूति का कवि ने बड़े ही हृदयवाही शब्दों में अभिव्यक्त किया है। यथा—

“जड़ री यह माधुरी और ये धवर विरह फूलों से।

× × ×  
पर्वत की धामुरी लक्षि के धाकुल आलोड़न में।

धारीरिक स्तर पर किया गया यह परिवर्तण धातिगम-वास तथा काम केति अधिष्ठ समय तक नहीं बस पाती। मनुष्य का चित्त इससे भी धाने पहुंचना चाहता है, कारण परिवर्तणावस्था में प्राप्त क्षणिक धामाद को वह धारवत धामाद की भूमि पर से जाना चाहता है। घट प्रेमी या प्रेमिका धारीरिक स्तर के प्रति बिरह होकर उर्ध्वलोक को धोर धवसर होता चाहता है। इस प्रकार प्रेम की यह तीसरी सोपान जीव को महत्तर लुपा की धोर धवसर करती है। जबकी वो पा लेने के पचात् पुररना को भी यह धामास होता है कि धारी-योग करने के पश्चात् भी कोई ऐसी धाग है जो मुझ एक पक्ष भी जीने नहीं देती और रादा धघान्त किये रहती है।

इस प्रकार धोर धान्तुंम्व की इस स्थिति में धाधिभीतिक लुपा के पर्व फटने लगते हैं और धारम सत्य वा मर-मन्द प्रकाश जीव को धामुत कर लेता है। ऐन्द्रिय धर्गम समाप्त हो जाता है और चित्त उदात्त एवं निष्काम होकर चिन्तन की भूमिका में धरण रखता है। चिन्तन बुद्धि का काम है धोर प्रेम रक्त भाव धवबा हृदय वा। घट चिन्तन के लणों में कामानुभूति समाप्त हो जाती है धोर चित्तवृत्ति सुरम-वत्त धाही एवं कुछ नीरस सी होने

जग जानी है। देग जगो पर बरि का बिगार गारवान होकर धानी काय बना के दाह दिगामे पर है दिगाम दिगम से मोरगा म जाने जाने। बरि का प्रथम दाह है—बिवायमरणा। जिनका म बिवायमरणा की प्रथम धान काय जगो पर गार बरि धानुनिक काम से जाने जाने रीग हा गई की जमे निरहा से बरि जागुन बिजा। यहा मर दि निरहर की ता बिवायमरणा को बरिगा को सहे बरी कनी के कनी है। एग बहार बरि म का गिदाय्य उपरिदा रिमा है बरी मरहर के मार बरनी धीर बरनी का जगम उगायगा जगुन बिजा है। उगायोकरय को गिदिन से पुकरवा हाग बहे मरे के बिवायमरणा म म बिगार मरवागों का गाग है—

देह बरि की जगमनुमि हूँ बरि जमेके बिबारन को  
 मारी लोका मुनि मही मोमिन हूँ शपिर-बका तक।  
 यहा लोका प्रमदिन हूँ मम के एग मरु गोरो के  
 बरुन हूँ को निदि प्रमदिन की धरि धार बरनी हूँ  
 धीर कृप प्रायत बिबायित मारी कुलमरुग मे  
 बिनी दिगम मरुगन कर्मन को ममार बरना हूँ।

एग धानका से पुकरवा जमेकी धानी देह-लोका का धोकर गारवान का-माठी का मरु प्रायत कर गन है। निरहर की के काय-जगा से एग मरु पुष्टिगाग का मरु काम की कुनि को उगाय कर गन रिमा है। मारु कुनि से काम की की मून मारवा निबाग बरनी है जमेका नि-धन कर म धरि-धरि-धरणा हो बरि का कायम उगाय गन है दिगमे बरि पूरुं मरुन गहा है।

धर प्रथम उगाय है उत्तरी काय से मना-धार दिग वाटि का है ?

उरनी मृगार एग प्रथम रचना है। के रूप जहा पर बरि को रग धिन पुपों का बिबाग करने का धरुमर विगा है धरुका जहा धरुनि का धानमरुन लक्ष उरीम मरु से धिनग कामे का धरुमर विगा है बहा बरि की मोगनी को मगाधिठ होने का प्रथम मरुन बिगा है। प्रथम धरु म धरुनी धीर मरुनी की मरुना, द्वितीय धरु मे धीरगरी का मरुदगा मरुनी धरु म उरनी पुकरवा का प्रथम-मरुन धरुन धरु मे गति-मुन हीन उरनी की धिनगता तथा मुकरवा का मारी वादि के धरि मरुन लक्ष धरि-धरुना धरु के मरुन का धरु-धरुन तथा धरुन धरु मे धरुनी का धरु-धरुन धरु के धरुन धरु पुकरवा के धरु धरु होकर बहे गये धीर मरु-मुन गार धरु-धरु मरुन धरु धरु-धरुन धरुने धरुन धरुन है, धरु-धरुन धरुने धरु-धरुन धरु धरु भी धरुन है

जो रस-जर्बल में बाबक सिद्ध होते हैं—ठीसरे सर्ग में उर्वशी द्वारा कहलाया गया भईतवार का दार्शनिक व्याख्यान तथा पाँचवें अंक के अन्त में प्रीतिवती तथा सुकन्धा का संवाद। अन्तिम सर्ग के अन्तिम भाग में तो पाठक के सामारणीकरण में बड़ा भारी व्यङ्ग्यमान पैदा कर दिया है।

भाषा की दृष्टि से कवि बिनकर भवली हैं। इनकी भाषा बड़ी भीमन्त एवं सघन है। उर्वशी में अमर-भिन्न इतने कमास के हैं कि पाठक का मन मञ्जूर मान उठता है। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि अम्य चित्रों के बल पर उर्वशी साहित्य-क्षेत्र में अमर होने की सामर्थ्य रखती है। बिनकर जी की काव्य-साधना की चित्रात्मकता का बरखुन प्राप्त है। भाषा की गई कविता उर्वशी से इस विषय में बहुत कुछ ग्रहण कर सकती है। परन्तु इतना होने पर भी स्थान-स्थान पर कवि की सम्भावनी बड़ी दुर्बल हो गई है। उत्तम सम्भावनी की प्रतिघयता के कारण कहीं-कहीं पाठक भाषा का सामारणीकरण न होने पर लीम उठता है जबकि स्वयं कवि अपनी कविता की 'सूक्ति' नामक पुस्तक में यह कतु गये हैं कि कविता की भाषा घामकह्य होनी चाहिये। यहाँ पर कवि कबनी और करनी पर खरे नहीं उतरें।

उर्वशी में कवि द्वारा प्रयुक्त एक और सबसे बड़ी रोग यह है कि उर्वशी 'सूक्तियों का अरथान मनोरम आभासिक एवं साशयिक' प्रयोग है। सुमा यितों का ऐसा मनोरम प्रयोग हिन्दी के बहुत कम कवियों में विभेदा।

अन्त में या, कहा जा उठता है कि कवि का मूस उर्हस है कानामुमूति की काव्यमय अभिव्यक्ति और उसका उदात्तीकरण और घापार है उर्वशी पुररबा का प्रम। समाधान कवि के पास नहीं है। कारण बिनकर इन्ड का कवि है सनप एवं समस्या की उत्पन्न करने वाला कवि है समाधान ना कवि नहीं। समाधान का काय वि बुद्धिबीबी आतोबकों पर डाल रैता है। उसका काम है—केवल समस्या को उमार कर रचना। उर्वशी में मौ कवि न ऐसा ही किया है। प्रेम के विभिन्न पहलू कवि ने पाठक के समक्ष प्रस्तुत कर दिये हैं जिनमें से पाठक जिसमें चाहे अपनी समस्या का समाधान ढूँढ़ स कवि को कोई ऐतराज न होगा। निश्चय ही यह 'गीति-नाट्य' काव्य-विधाव की एक नवीन सीपान है।

1

## द्वितीय भाग

(गणार्थं यथा यथा नित्यं तुलनात्परं यथायथा एव  
यन्तरेषामो न युक्त)





धर्म—सूत्रधार ने आकाश के तारों को ज्योति के द्वीप बताया । उछे सुनकर नटी उत्तर देती है—

इन द्वीप जैसे बिभरे हुए तारों के बीच जगती धीरे-धीरे बसता है । घाब ही पृथ्वी पर मधुवन की बकी हुई हवा भी धीरे-धीरे बस रही है । यह हवा ऐसी प्रतीत होती है, मानो तब से आकाश प्रेम की कामना धमकाकर धीरे-धीरे प्रत्येक पल पर ठहर-ठहर कर मन्द धीरे सुन्दर गति से घूम रही हो ।

विशेष—उत्प्रेसा तथा पुनश्चित्त धर्मकार ।

### सूत्रधार

सारी बेह समेट मुझा हुआ है ।

धर्मार्थ—निबिड़ = बहुरा । विसुष = महोग्मत्त । वसुधा = पृथ्वी ।

धर्म—आकाश अपनी बाहें छोड़कर धीरे अपनी सारी बेह को समेट कर महोग्मत्त पृथ्वी को सहरे धारिणम में भरने के लिए मुझा हुआ है ।

### नटी

सुख की सुपम्भीर लपता है ।

धर्मार्थ—वेला = समय । समाधिस्व = समाधि में डूबा हुआ । प्रथतन = निर्जीव ।

धर्म—यह समाधि में डूबा हुआ निर्जीव संसार मध्य के इस पर्यन्त यम्भीर समय में मादकता की बाण में बहता हुआ-सा दिखाई दे रहा है ।

### सूत्रधार

स्वच्छ कीमुटी भूल गई हो ।

धर्मार्थ—कीमुटी = जादूनी । प्रशान्त = शान्त । जगती = संसार । स्वच्छ = शीघा । मंजू = सुन्दर । जगिहसा-मुकुर = पावनी स्त्री शीघा ।

धर्म—स्वच्छ जादूनी में संसार इस प्रकार बसक रहा है मानो वह अपनी स्वच्छा स्वरूप छोड़कर किसी शीघे में समा गया हो । धर्मार्थ उच्छा स्वरूप भी स्वयंभूय हो गया हो । जारों मोर शान्ति ही शान्ति कैती हुई है । मानो प्रकृति सुन्दर जादूनी स्त्री शीघे में अपनी शोभा को रोककर स्वयं को भी भूल गई हो—आत्म-विस्मृता हो बैठी हो ।

विशेष—उत्प्रेसा धर्मकार ।





पद-निकेपों में-वैरों के रखने में । भंगिमा=कृटिमता । वसत=वस्त्र ।  
पुष्प रेणु भूपित=फूलों की धूम से सज्जित । धामन=मुग्ध ।

अर्थ—धासमान से उतरती हुई अक्षराओं का वर्णन गटी से करता हुआ  
सूत्रधार कहता है कि यह रत्ना धाकास की घोमा पद्मों पर या पट्टी है ।  
इसका धाकास से उतरना ऐसा बात होता है जैसे नील मान वाले फूलों के  
समूह उतर धाम हों । उनके पैर रखने में उगकी देह-वष्टि इस प्रकार बस  
जाती है जैसे महुरों की कटिमता हो । उनके सज्ज कठों से गीठ निकल रहे  
हैं और उगकी हंसी इस प्रकार है जैसे फूल झड़ रहे हों । उनके शरीरों पर  
किरणों की बासी के भीमे हुए वस्त्र है । फूलों की धूम से सजे हुए उनके  
मुख इस प्रकार बस रहे हैं मानो आँखियाँ सिमट सिमट कर फूल बन  
गई हों ।

बिधय—उपमा घोर अथक धर्मकार ।

नटी

फूलों की प्रपत्तियाँ हैं ?

उपमा—बिधु=अश्रमा । प्रपत्तियाँ=प्रियतमा ।

अर्थ—ये या तो फूलों की सपत्तियाँ हैं या अश्रमा की प्रियतमा हैं ।

सूत्रधार

नहीं अश्रिका मन की ।

उपमा—अश्रिका=आँसवी । अश्रमा=अश्रमा । अश्रुक्त=अश्रुक्त  
उपयोग नहीं किया गया है । प्रतिमाएँ=मूर्तियाँ । उण-नान्ति=गुड के द्वारा  
हुई अकान । मदिर=मदिर । काम=कामदेव ।

अर्थ—धाकास से उतरने वाली अक्षराएँ न तो अश्रमा की आँसवी हैं  
न फूलों की सपत्तियाँ हैं, बल्कि अश्रुक्त को मोहित करने वाली न उपयोग किये  
हुए प्रेम की अश्रुक्त मूर्तियाँ हैं । ये देवों की रण के द्वारा हुई अकान को  
अपने नशीले नशों से हरण करने वाली, स्वर्गलोक की अक्षराएँ और कामदेव  
के मन की कामनाएँ हैं ।

बिधय—उपमा घोर अनुप्रास धर्मकार ।

मरी

वर गुरुपुत्र -पानी है ?

सामर्थ—गुरुपुत्र—स्वर्गपौत्र । वर वर—गुरुपुत्री वर ।

वर्ण—वर्णित वर बनाया कि के निर्मा-त्ये स्वर्गपौत्र को छोड़ वर इस वरुषी वर उतरी है ।

गुरुपुत्र

वो ही बना करती है ।

सामर्थ—वीणा—गैल । धार्य—कुरुपुत्राव भूमीव । वरर सोरु—वैव वादा का सोरु धार्या स्वर्गपौत्र । गुरुपुत्र—वर्णनी तरु । गुरुपुत्र—वर्णनी मे कुरुपुत्राव धार्या उने गुरुपुत्र बनाता । गुरुपुत्र—धार्या वरु स्वर्गपौत्र के तात्पर्य है । कुरुपुत्र—वरे वरु है । धार्या है—धार्या है । विद्वान्पौत्र—स्वर्गपौत्र । धार्या वरु की—वर्ण म निर्वास करन वाने देवतापुत्री को ।

वर्ण—वर मरी के वर गुरुपुत्र कि के धार्यापुत्र गुरुपुत्री वर वरु उतर धार्य है ता इसका उतर गुरुपुत्र इन गुरुपुत्री में देना है—

के धार्यापुत्रे किता किती प्रयोग के लक्ष्मी हुई विरलुओं के छारो वर वर वर का ही इन गुरुपुत्री वर उतर धार्य है वरुपुत्र के वर उतर धार्य प्रमते हुए कभी कभी गुरुपुत्री वर धार्या है । धार्या ही गुरुपुत्रा है कि इनका गुरुपुत्री वर धार्या का वरु कितापुत्रा हा वरुपुत्रा भूमीव इन धार्या के निर्वासि ररुग को पुत्रो मान बैठे है इमीतिप उतरी धार्या है कि स्वर्ग के वरुपुत्री किती विरलु प्रयो धार्य के वरुपुत्रा होकर ही इन धार्या वर उतरने है । इन गुरुपुत्री वर रहने काल लोपी वी वरु वरु है कि व प्रेम को धार्या मे लक्षण कर दें, धार्या प्रम के धार्या वर वर धार्यापुत्रा करके उने लक्षण धार्या वर किन्तु इनके विरलु स्वर्गपौत्र के वरुपुत्रा धार्या प्रेम के धार्या है धार्या मरुध वर वी धार्या वरुपुत्री में वरुपुत्रे के लिए धार्यापुत्रा रहते है । धार्यापुत्रा ही वरु है कि स्वर्ग धार्या वरु लोके वरुपुत्री ही धार्यापुत्री मे धार्या है । वरुपुत्री के धार्या-धार्या प्रम है, धार्यापुत्रा है धार्या वरुपुत्री वी धार्यापुत्री धार्या-धार्या है । इन धार्यापुत्री के धार्या

सियों की यह इच्छा है कि हम सांसारिक बन्धनों को तोड़कर मुक्त पवन में विचरण करें; किन्तु मुक्त वेवता कभी-कभी सांसारिक बन्धनों में बन्धन के सिधे मनुष्य-बेहू धारण करने के लिये ब्याकुल रहते हैं। स्वर्गलोक धीर मूलोक दोनों के स्वाय भिन्न-भिन्न हैं किन्तु यह कहना बहुत कठिन है कि इनमें किसका स्वाय खेठ है। जो इच्छा मनुष्य को खीचकर स्वर्ग को खे जाती है वही स्वर्ग के निवासियों को पृथ्वी पर खीच जाती है। लेकिन खेखे इन बातों को। धाधो सुनें ये परियां धापस में क्या बातचीठ कर रही हैं।

(नदी धीर सुत्रधार बृक्ष की छाया में जाकर प्रदुष्य हो जाते हैं। अक्षरस्यें पृथ्वी पर उतरती हैं तथा फूल हरियाली धीर मरनों के पास बृषकर जाती धीर धानम्ब मनाती हैं।)

परियों का समवेत गान

फूलों की रूपहसी धाई।

सध्वार्ध—सुबा-समित्त—धमूठ रूपी नदी। कूत्—किनारा। सुमम्ब—मंभी-मंभी बहकर धानम्ब खेने वाली।

धर्ध—धाकास खे उतर कर परियां सामूहिक रूप खे गीठ जाती हुई कहती हैं कि हे सखियो! यह रूपहसी राठ धाई है, धठ फूलों की नाब धाधो। इस राठ धमूठ रूपी नदी की धारा फूटकर बह निकली है जिसमें म का किनारा बृष गया है। इसलिए सजस धाधनी की मंभी-मंभी बहकर धानम्ब खेने वाली नहरों में खेर कर नहाधो धीर यह रूपहसी राठ धाई है।

विधाय—'कूत्-किनारा' में धधिक पदस्र खेप है।

मही सुप्त रूपहसी धापी।

सध्वार्ध—मही—पृथ्वी। निरखेठ—खेतना रहित सूना। मजज—मज्ज धा हुधा। धर्धक—निडर। धधनी—पृथ्वी।

धर्ध—परियां समवेत स्वर में जाती हुई कहती हैं कि पृथ्वी छोई हुई है धाई धान्ठ है। धाकास सूना तथा मम्भीर है। लेकिन बह धुपधाप पृथ्वी को पने धासिधज में धिए हुए धानम्ब में बृषा हुधा है। हे सखियो! खेखे



जात होता है कि हम पूरी तरह से पीठ के बल से भर नहीं है, अर्थात् हमारा मन में अनेक भाव उमड़ रहे हैं। मेरा तो मत यह रहता है कि इन किरातों को प्राणों का गीत सुनाय अर्थात् इनके साथ मूस मिलकर बीत पायें।

### समवेत गान

हम पीठों के छूम छबन।

अर्थार्थ—सबन=बहरे। म्योम-बीणा=धाकास रूपी बीणा। त्रिमूवन=पीठों सोफ।

अर्थ—एक परिचा सामूहिक रूप से गीत गाती हुई कहती है कि यह पीठों के गहरे प्राण हैं अर्थात् हमारे हाथ भाव और रूप भावि से ही पीठों का जन्म होता है। हम धाकास रूपी बीणा के तार बजाकर गीतों का जन्म करती हैं जिससे पीठों भोक बिरक उठते हैं।

सपनी की मबन-अबन।

अर्थार्थ—सुपमा=छोका। कमित=सुम्बर। उड्डीन=उड़ती हुई।

अर्थ—हम स्वप्नों की रंघीत सोमा पर और सुम्बर कल्पना पर उड़ती हुई मबन-अबन में अर्थात् प्रत्येक लोक में फिटा करती हैं।

हम अमृशत रस-कन।

अर्थार्थ—अमृशत=जिनका भोज नहीं किया गया है। रस-कन=भोजन के कण।

अर्थ—हम भोजन की वे हिसोरें हैं जिनका भोज नहीं किया गया है। हम धाकास और पृथ्वी के छोरों को जिनोकर भोजन के कण बरसाती हुई फिरती हैं।

### रम्भा

बिछा हुआ है 'होती है।

अर्थार्थ—रमित=किरात। मही=पृथ्वी। मृति=मिट्टी बरती।

अर्थ—किरातों का पास बिछा हुआ है जिस पर पृथ्वी धान्य में डूबकर लो रही है। इस प्रकार की धोमा से मुक्त बरती को बैठकर स्वर्ण के निवासियों को भी उसकी घोषा से ईर्ष्या होती है।

मार्ग

कौन खेद है मय म ?

समर्थ—सर्व - सभी पर मन का भाव । मन मन म मन  
 जाने मंद ।

सर्व—'सर्व' क्या रहे मन में ही वह मन जाता है कि पत्नी पर  
 रहने का भाव । के लिये मन म रहने का भाव का भाव जाता है । इनमें  
 क्या मंद है ?

मन

मन उठ भाव है ।

समर्थ—मनभाव = बुद्धि । मनभाव = मनवत् । शिवाय = सुख ।  
 निर्वृत्त निवृत्त । = दिवा पुनः वी मो क ममान ।

सर्व—मनभाव और मनभाव म मन जाता है । इस मन का उत्तर  
 देती हुई सत्ता कहती है कि काह पर मन में मन म उठ भाव रहे किन्तु  
 इन दोनों का एक भाव ही एक ही है और वह भाव यह है कि भूमाव क  
 निवासो मनवत् है जबकि मनभाव के निवासो अपर होते हैं । मनभाव  
 का शरीर तो घनित मनवत् और दिवा पर वी मो के ममान मनवने जाता  
 होगा है । इस विरहीत भूमाव में रहने काय मोया व शरीर को मन्दवत्  
 को शक्त मन वी ही भावा है । सर्वान् उनका मीन्द्र्यं धनमनु होता है ।

विवाह—उनका मनवत् ।

मनका

वर, तुम मन कहि हारी है ।

समर्थ—सर्व वी = मन में रहने का मनवत् का । मनवत् का =  
 मनवत् मनवत् का । मनका = मन । मन-मावृत्ति = सुखी वी मवृत्ता ।  
 मनवत् = मन । मनवत् मनवत् = मनवत् मनवत् मनवत् का मन । मनका = मन ।  
 मनवत् = मनवत् । मनवत्-मा = मनवत् व मनवत् । मनवत् = मनवत् । मनवत् =  
 मनवत् । मनवत् = मनवत् । मनवत् = मनवत् । मनवत् = मनवत् । मनवत् =  
 मनवत् ।

धर्म—मर्त्यलोक स्वर्गलोक से हीन है रम्मा के इस कथन का उत्तर देती हुई मेनका कहती है कि रम्मा ! यह सच है कि भूसोक के निवासी मरने वाले हैं मरने हैं किन्तु तुम मरने की श्रेष्ठता को भूल रही हो। पृथ्वी पर रहने वाले लोगों को जो धानम्ब धामानी से मिल जाता है, वह स्वर्ग में रहने वाले देवताओं को कभी प्राप्त नहीं हो सकता। हम स्वर्ग के वासी इतने विवश हैं कि केवल 'गन्ध' पीकर ही रह जाते हैं। (रहो जाता है कि देवता भोजन नहीं करते) और स्वादिष्ट भोजनों का धानम्ब कभी भी अपनी जीभ से नहीं ले पाते।

हम केवल कानों से ही संगीत की मधुरता का पान करके तृप्त हो जाते हैं और सौन्दर्य वा उपभोग वा तो केवल मन से करते हैं वा लृष्ट्या मरे मयनों से। भक्ति सौन्दर्य को देखकर अब हमारे मन में भावों का उबार घा जाता है तो हमारा जीवन उस भूल से व्याकुल हो उठता है जिसका बल नहीं किया जा सकता।

तब उस पीड़न से बचने के लिए हमें कोई राह नहीं मिलती। हमारे हृदय में प्रेम की जो बेरना छल्टी है उसका यहाँ स्वर्ग में सुलकर पोषण नहीं किया जा सकता। किन्तु इन भूसोक के निवासियों पर हमारे जैसा कोई बन्धन नहीं है और इनका प्रेम केवल गन्ध तक सूक्ष्म विचारों तक ही सीमित रह सके ऐसा भी इन पर कोई बन्धन नहीं है यद्यपि भूसोक के वासी सुलकर प्रेम कर सकते हैं और मांसवा रूप से उसका उपभोग कर सकते हैं।

घाबमी घाबमी ही रहे या देवता बन जाये, वह केवल गन्ध का ही संवन करे, घपवा घाये बढ़कर फूलों को यम लया म यह पात मनुष्य की इच्छा पर निरर है किन्तु देवताओं को यह अधिकार नहीं है कि वे मनुष्य बन जायें और न वे गन्धों की सीमा से ही घागे बढ़ सन्ते हैं।

यह सच है कि देवता धमर हाउ है किन्तु उनका यह धमरन क्या है ? केवल हवाओं की तरह सुगन्धों का पान करना और अपने मन में घुएँ को समेट कर—अपने मन को मसौस कर—बाहरी वांछि वारण करके सुन-सुगों

तब खिंच रहा। मेडिन घर मोको कि कहकर मरत्य बिनभी घटित मोका से घबराव नै गा है। बग ही उगका खीबन दा निव वा ही गई। धम्मगुण ही मी मेडिन धान खीबन वा इग धम्म धर्मपि म भी वा घबराव घबराव कर—धम्म उगका धीर धारणा को मरार—खीबन रगा है। मरुत्य के धारण के इन घबराव। हल धारणा के धारणा देवताधा के खीबन को गागी धानि मूण्ड है। उनके खीबन की धम्मगुण मरीया सहर में देवतापो के घबराव को मरीयावर बरनी हूँ।

बहन का भाव यह है कि मरुत्यघट देवता में बहन ऊंचा धीर धार है।

विचार—धम्म धीर उगका धारणा।

मरुत्यघट

गायु ! गायु गाती हो।

धम्मार्थ—धिनी वा धरणी वा निवागी। मोहन—मोहित करने वाला। धम्मार्थ—हृदय म मरीयाव धर—वृत्ती धर। धम्मार्थ—प्रमिता। मरुत्य मरुतो वा—मरुतर मरुत्य के क्षेत्रों की। धम्म प्रमिता धारणा देने वाली मूनि।

धर्म—ध धरणा ! तुम ठीक बहनी हा। लेगा मरुता है कि सुहृदाग भी धिनी में प्रक हो गया है धरणी वा निवागी तथा मरु को मोहने वाला को सुहृदाग हृदय में धा बना है। मरु धर वृत्ती धर धिनी की प्रमिता बन गई है। तुम धिनी धूमोव निवागी क मरुता वा धारणा देने वाली मूनि बन गई हो धिनी के हृदय की उगका बन बनी हो। ह मरुति ! तुम उरुत्ती के मरुता भी कठ म धम्म प्रीत हा। खीबन इग धूमोव के मरुता धारणाओं की धारणा तुम भी उमी प्रकार गा रही हो जिस प्रकार उरुत्ती मानी है।

विचार—धम्म धीर उगका धारणा।

रग्मा

धरो ठीक धायी ?

धम्मार्थ—मरुत है।

धर्म—हे सुहृदाग ! मरुत यह धरुता हो धिनी को उरुत्ती की धार



बना ही। लेकिन यह बताओ कि वह धाज नहीं हमारे साथ क्यों नहीं आई।

सहजन्म्या

बाह तुम्हें बाहों में लेकर।

शब्दार्थ—दिव्य=महान्। दैत्य=राजस। मन्त्र द्येन-जा=सोमी राजसि तरह। वास=दुःख। अपरिमित=बहुत अधिक अपार।

धर्म—बड़े धारण्य की बात है कि तुम्हें अपनी प्राणप्यारी सखी उर्वशी की कथा भी मालूम नहीं है और तुम भी उस महान् मारी के प्रेम के दुःख को नहीं जानती। क्या तुम्हें यह ज्ञात नहीं कि एक दिन जब हम कबर के घर में सौट रही थी तो इतने में ही सोमी राजस के समान एक राजस ऊपर से लगे धाया और हमको अपार दुःख देकर हमारी प्यारी सखी उर्वशी को अपनी बाहों में भर कर तुरन्त उड़ गया।

रग्मा

बाहों में कथा सुनाओ।

शब्दार्थ—सरस है।

धर्म—क्या कहा? एक राजस उर्वशी को अपनी बाहों में भरकर उड़ गया। हे सखि! मुझे यह पूरी कथा सुनाओ।

सहजन्म्या

यही कि बचाओ।

शब्दार्थ—सरस है।

धर्म—पूरी कथा यही है कि हम उस से जलते देसकर रा पड़ीं और फिर मजाले ममी कि धरे। कोई हमको बचाओ।

रग्मा

तब हुआ ?

शब्दार्थ—सरस है।

धर्म—तब फिर क्या हुआ ?

सप्तमः

पुनरुद्धारो वाच्यः ।

प्रश्नार्थ—कथं—कथं । उत्तरार्थ—कथं । वाच्यः—वाच्यः ।

उत्तरार्थ—कथं—कथं । उत्तरार्थ—कथं । वाच्यः—वाच्यः ।

सप्तमः

वेदाङ्गः ।

प्रश्नार्थ—वाच्यः ।

उत्तरार्थ—वाच्यः । उत्तरार्थ—कथं । वाच्यः—वाच्यः ।

सप्तमः

वेदाङ्गः ।

प्रश्नार्थ—वाच्यः । उत्तरार्थ—कथं । वाच्यः—वाच्यः ।

उत्तरार्थ—वाच्यः । उत्तरार्थ—कथं । वाच्यः—वाच्यः ।

दिखा दी। लेकिन यह बताओ कि वह भाव नहीं हमारे साथ क्यों नहीं  
थाई।

सहजन्म्या

बाह तुम्हें बाहों में लेकर।

शब्दार्थ—विषय=महाम्। वस्य=उपलक्ष्य। मन्त्र स्थेन-सा=सोची भाव  
की तरह। वास=दुःख। अपरिमित=बहुत अधिक धरार।

उर्ब—बड़े आश्चर्य की बात है कि तुम्हें अपनी प्राणव्यापी सभी उर्बशी  
की क्या भी मासूम नहीं है और तुम भी उस महाम् नारी के प्रेम के दुःख की  
नहीं जानती। क्या तुम्हें यह बात नहीं कि एक दिन जब हम कुंवर के घर  
से लौट रही थी तो इतने में ही सोची भाव के समान एक उपलक्ष्य ऊपर से  
कोबे धारा और हमको अपार दुःख देकर हमारी प्यारी सभी उर्बशी को अपनी  
बाहों में भर कर तुरन्त उड़ गया।

रम्मा

बाहों में क्या मुलाओ।

शब्दार्थ—उपलक्ष्य है।

उर्ब—क्या कहा? एक रात उर्बशी को अपनी बाहों में लेकर उड़  
गया। हे सवि! मुझे यह पूरी क्या सुनाओ।

सहजन्म्या

यही कि उर्बशी।

शब्दार्थ—उपलक्ष्य है।

उर्ब—पूरी क्या यही है कि हम उसे से जाठ दसकर उ पड़ी और  
पुकार मथाने लगी कि घरे। कोई हमको पचाओ।

रम्मा

तब उर्बशी ?

शब्दार्थ—उपलक्ष्य है।

उर्ब—तब फिर क्या हुआ ?

सहजन्मा

पुकार हमारी कात-कवच से ।

वर्षार्थ—सद्य=दयानु । प्रविसम्भ=धीम्र । कात-कवच=मृत्यु का मुच ।

वर्ष—हमारी पुकार एक राजा न सुनी और वे दयानु राजा धीम्र ही उवधी को उस राक्षस के पंजे से छड़ाने के लिए दीन पड़े । उन्ही तर बीर राजा के साहस से मूढाओं के वच से उस दिन हमारी सखी उवधी कात के मुच से छुटी ।

रमा

ये राजा बीर हैं ।

वर्षार्थ—धरस हैं ।

वर्ष—जिस राजा न उवधी का राक्षस के पंजे से छड़ाय, ये राजा तो वास्तव में बड़े बीर हैं ।

सहजन्मा

धीर परम जाने को ।

वर्षार्थ—मनोमुग्धकारी=मन का मोहित करने वाला । धरस=देवता । कीमूदी=बाँवणी । कसित=सुन्दर । राय=प्रम । घोणित=बून । रति=कामदेव की स्त्री जो सबसे अधिक सुन्दर मानी जाती है । रमा=सखी । प्रतिमा=मूर्ति । वृषा=प्यास सासता । विष्णु=चन्द्रमा । काम=कामदेव । मधिर=मन्दीरा ।

वर्ष—बहु राजा जिसने उवधी का राक्षस के पंजों से छड़ाय, बीर ही नहीं बल्कि परम सुन्दर भी है । देवता भी ऐसा मन को माहित करने वाला नहीं होता । इसीलिए तो सखी उवधी जो मन्दनवन की ऊषा है स्वर्गलोक की बाँवणी है इन्द्र के मन की सुन्दर इच्छा है मित्र और वैरागियों की समाधि में भी प्रम को जगाने वाली है देवताओं के बून में मधुर प्राण लपाने वाली है, जो रति की धीर सखी की सायात् मूर्ति है और विश्वमय तर की साधना है, जो चन्द्रमा की प्राणेश्वरी है, कामदेव के हाथ की धारती-धिया

बिना थी। लेकिन यह बताओ कि वह आज नहीं हमारे साथ क्यों नहीं आई।

सहजव्या

बाह तुम्हें बाहों में लेकर।

शब्दार्थ—दिग्भ्यः=सहजम्। दैत्यः=राजस। कृत्स्न द्येल-सा=सोनी बाज की तरह। वासः=बुद्धि। अपरिमितः=बहुत अधिक अपार।

अर्थ—बड़े आश्चर्य की बात है कि तुम्हें अपनी प्राणप्यारी सखी उर्बरी की कथा भी मालूम नहीं है और तुम भी उस महान् नारी के प्रेम के बुद्ध को नहीं जानती। क्या तुम्हें यह बात नहीं कि एक दिन जब हम कनेर के घर से सोट रही थी तो इतने में ही सोनी बाज के समान एक घमण्ड ऊपर से नीचे धारा और हमको अपार बुद्ध देकर हमारी प्यारी सखी उर्बरी को अपनी बाहों में भर भर सुरन्त उड़ गया।

रम्भा

बाहों में क्या सुनाओ।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—क्या कहा? एक राजस उर्बरी का अपनी बाहों में लेकर उड़ गया। है सखि! मुझे यह पूरी कथा सुनाओ।

सहजव्या

धरि कि बचाओ।

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—पूरी कथा यही है कि हम उसे से जाते बसकर रो पड़ीं और कार मथान सगी कि धरे। कोई हमको बचाओ।

रम्भा

तब हुआ ?

शब्दार्थ—सरल है।

अर्थ—तब फिर क्या हुआ ?

महर्षि-मा

पुकार हमारी' 'कास-कबल से ।

शब्दार्थ—सरयु=दयास । अक्सिन्ध्र=नीम । काम-कबल=मृत्यु

का मुक्त ।

धर्म—हमारी पुकार एक राजा न मुनी और न ब्यासु राजा धीम ही उबली को उस राक्षस क वजि स छड़ाने क लिए लौक पड़े । उन्हीं नर बीर राजा के साहम स भुजाओं के बस स उस दिन हमारी सखी उबंथी कास के मुक्त से छुटी ।

रंभा

ये राजा' 'बीर हैं ।

शब्दार्थ—सरयु है ।

धर्म—जिस राजा ने उबंथी का राक्षस क वजि स छड़या, य राजा तो वास्तव में बड़ बीर है ।

महर्षि-मा

और परम' 'बाले को ।

शब्दार्थ—मनोमुग्धकाये=मन को मोहित करने वाला । धरम=रक्षता । कौमुदी=बादली । अक्षिन्ध्र=सुन्दर । राग=प्रेम । गोसिन्ध्र=सूत । रति=कामदेव की स्त्री जो सबसे अधिक सुन्दर मानी जाती है । रमा=मङ्गी । प्रतिमा=मूर्ति । वृषा=प्यास कासमा । विष्णु=वज्रमा । काम=कामदेव । मन्दिर=मङ्गीमा ।

धर्म—बहु राजा जिन्हने उबंथी को राक्षस के वजों से छड़या, बीर ही नहीं, बल्कि परम सुन्दर भी है । बबरा भी ऐसा मन को मोहित करने वाला नहीं होता । इसीलिए ठो सखी उबंथी को मन्दिनका की ठया है स्वगसोक की बादली है, इन्द्र क मन की सुन्दर दृष्टा है जिस और बंदावियों की समाधि में भी प्रेम को जमान वाली है देवताओं के कूल में मङ्गुर प्राण लगाने वाली है जो रति की और मङ्गी की साक्षात् मूर्ति है और विष्णुमन्दि नर की आभवा है, जो वज्रमा की प्राणवहरी है कामदेव के हाथ की धारती-विष्णु

है जिसके बरतों पर बड़मे के लिए प्रत्येक व्यक्ति विरक्त और व्यथ है जिस दोमायुक्त उबरी के मधीले ध्यान में ठोनों सौक यत्न और मुक्त हैं वही उबरी उस पुरुष रत्न को देखकर अपने-आपे म म रह सकी प्रभात स्वयं पर नियंत्रण न कर सकी । बहु स्वयंभोक्त की सोमा मर्त्यभोक्त के बासी से प्रेम करके अपने स्वप्नों में लो गई । जिस उबरी को घपना सर्वस्व खोछाबर करके प्राप्त करने के लिए बेबता सर्वेक ठीमार है, बहु स्वयं-कृपुम स्वयं पुष्पी पर जाने के लिए ब्याकुल है ।

विनय—क्यक और उभेत घतकार

रंभा

तो क्या व्यथा उहेयी ?

प्रश्नार्थ—मिट्टी की = मयभोक्त की । व्यथा = दुःख ।

धर्म—तो घब क्या उबरी स्वयं से भाकर बडा के लिए पुष्पी पर बस जायेयी और निरी मानकी बनकर मर्त्यभोक्त के दुःखों को सहन करती रहेगी ?

सहजन्मा

तो बी हो बाहु-बलय में ।

प्रश्नार्थ—अस्तर = हृदय । सिरा = गत । देव-निसब = स्वयंभोक्त । बाहु-बाय = बाहु-पाप ।

धर्म—बाहे जो भी हो किन्तु यह निश्चित है कि उबरी के बरतों में जो प्रीति उगी है उसके दुःख की प्रत्येक गत में प्रीति की जो भाग मुसपी है बहु घब उके स्वयंभोक्त में नहीं रहने देगी बल्कि उके प्रीति कर उनी उत्रा के बाहु-पाप में ले जायेयी ।

कहने का भाव यह है कि उबरी घब स्वयंभोक्त में नहीं रहे सकती ।

रंभा

ऐसा कठिन होता है ?

प्रश्नार्थ—मरत है ।

धर्म—जमा प्रेम एसा कठिन—दुःखदार्द—होता है !

सहस्रम्या

इतने क्या

बनी जायगी ?

अथाच—अणुमम=मम । अणु=अणु । मूक-सरोज=मूक-कमल ।  
 धामा-विहीन=धोमा रहित । मूकन मोहिनी=तीनों नोकों को मोहित करने ;  
 बानी । धी=धोमा । अन्तानन=अन्तमूक । निरातर=नीरस । नास्य=  
 एक प्रकार का ताच ।

अथ—वास्तव में प्रेम बहुत कठिन होता है इसमें कोई धारण्य की  
 बात नहीं । कहते हैं कि मर्त्यलोक में जितने भी रोम हैं उनमें सबसे कठिन  
 रोम प्रेम का है । जिसे यह रोग मम जाता है उस रात भर नींद नहीं  
 आती । उसका दिन बिरह के कारण रोड रोड और रात प्राह भरते भरते  
 कट जाती है । अतः मम धोमा-धोमा सा रहता है धीलों में हर समय  
 धीनु अन्तरे रहते हैं और उलकी भीपी हुई पुठमियों में उसके प्रियतम  
 पपवा शिवतमा की मूर्ति सदैव बिद्यमान रहती है । इसीलिए सखी उबधी  
 की कुछ दिन से सोई-सोई ही रहती है । वह धीर से तो आसती रहती है,  
 किन्तु मन से सोई-सो रहती है और अपने स्वप्नों के निकटों में विचरण  
 करती रहती है । वह जड़ी-बूटी समाने धाम से कसुम की पंखुड़ियों को  
 तोड़ती रहती है, और कित्ती के ध्यान में (राजा पुरुरवा की स्मृति में) ही  
 वह सार समय को बिता देती है । उसे अपनी धीलों से निकलते हुए आसुधों  
 का भी पता नहीं बसता कौन धामा कौन गया इतक भी उसे कुछ ध्यान  
 नहीं होता । प्रेम रोग लगने पर व्यक्ति का मूक-कमल मुसकान के अथाच में  
 धोमा ने रहित हो जाता है और तीनों नोकों को मोहित करने वाली मूक  
 कमल की धोमा भी बनी पड़ जाती है । जिस उर्बमी के जिन पापलो की  
 अन्त का मुनकर स्वर्ग की तन्त्रा समाप्त हो जाती को अर्थात् अनुचे स्वर्ग  
 में मोहन का संचार हो जाता या योगी की साधना और सिद्ध की नींद  
 उबध जाती थी के मुरुर धाम गुप पड़े हुए हैं बिरह-दुःख के कारण उर्बमी  
 के मृग्य करना छोड़ दिया है और इसीलिए साध स्वर्गलोक नीरस बन गया  
 है । अथ वैचसमा में नास्य (एक प्रकार का मृग्य) की वह मधुर लहर नहीं



पूरी जो उर्बंसी के नाचने से दीक करती थी। हे सखि ! जब उर्बंसी ह  
छोड़कर बनी जायेगी। न जाने जब क्या होगा ?

बिलेय—बिरही के माबों और अनुमाबों का सहीब बिनास हुमा है।

रंभा

स्वयं बनेया पीड़ा ह।

शास्वार्थ—निमित्त = लिए। मन्त्र = प्रसन्न होकर। निधि = सम्पत्ति।

श्रीड़ा = बेस।

अर्थ—हे सखिजन्मा ! जब उर्बंसी स्वयं छोड़कर पूरबी पर बनी जायेगी  
व पूरबी स्वयं बम जायेगी और स्वयं पूरबी का रूप अपना लेया। लेकिन  
तुम्हे तो यह शास्वार्थ है कि हम मानबी नहीं परियाँ हैं और हम परियों को  
किसी के प्रेम में फँसकर रोने से कोई सरोकार नहीं होता अर्थात् हम किसी  
भी व्यक्ति के साथ मन्मीरता से प्रेम नहीं करतीं। इसीलिए हमें किसी एक  
माबनी के प्रेम में पड़कर अपना बँस नहीं खोना चाहिए। हम से मानबी नहीं  
है जो जहाँ भी प्रेम का संकुर उनके हृदयों में अंकुरित होता है वे वही एक  
जाती हैं। उन्हें जहाँ भी प्रेम का बान मिलता है वे वही पर प्रसन्न होकर  
भुक जाती हैं। प्रेम मानबी की सम्पत्ति है लेकिन हमारे लिए तो वह केवल  
एक बेस है। वह मानबी के लिए आकास पीड़ा है किन्तु हमारे लिए तो वह  
केवल स्वाद है।

अहने का भाव यह है कि परियाँ किसी के साथ मन्मीरतापूर्वक प्रेम नहीं  
किया करतीं।

जतमीं हम 'तम में।

शास्वार्थ—मोद = प्रसन्नता। मुख = पौबन से परिपूर्ण। मानन = मुख।

मुर्तम = मुग्ध।

अर्थ—हमारा जगम ही इसलिये हुमा है कि हम सब व्यक्तियों के मन में  
प्रसन्नता करे अर्थात् सभी को प्रसन्न करे। हमारा ध्येय किसी एक व्यक्ति  
को अपना पौबन से परिपूर्ण जीवन अर्पित कर देना नहीं है। किसी एक मुख

के लिए हमारी संकुचित सृष्टि नहीं हुई है और न हम किसी एक व्यक्ति के लिए अपने तन में सुगमि छोटी हैं।

कहने का भाव यह है कि परिवों को किसी एक व्यक्ति से प्रेम नहीं करना चाहिए।

बल-बलकर भ्रमण है *अपराध*  
*मिलना*

शब्दार्थ—कूम-हीन=किनारा रहित। गेह=घर। सुति=प्रकाश।  
परिरंमप=प्राणिगत। रदिम=किरण। निर्मुक्त=स्वच्छन्द।

धर्म—हम यह बल हैं जो किनारा-रहित है धर्मात् किनारों के बन्धनों में बंधा हुआ नहीं है। हम किसी घर का दीपक नहीं हैं बल्कि यह कोमल प्रकाश है जो सबके लिए प्रकाशित होता है। हम स्वभा की बेवता बयाकर सभार को उर्मियों से भरती है और कमी बेवता का तथा कमी मनुष्य का प्राणियन करती है किन्तु यह प्राणियन प्रकाश का होता है किरणों के समूह द्वारा मन का होता है धर्मात् यह हमारा प्राणियन बहुत सूक्ष्म होता है। हमारा प्रेम गर्भों के सभार में जो प्राणियों का स्वच्छन्द भ्रमण होता है।

कहने का भाव यह है कि हमारा प्रेम स्वूम नहीं सूक्ष्म होता है।

सब है मिलना है।

शब्दार्थ—अनुरागमयी=प्रेम से परिपूर्ण। कनक रग=स्वर्ण रग।  
धनर-मधु=होठों का अमृत। ताप-तप्त=दुष्ण से दुष्णी। सव्या=परम उद्येवित=बंभल। तरण=सहर।

धर्म—यह भी सब है कि हम प्रेम से परिपूर्ण होकर कमी-कमी तन से भी मिलती हैं धर्मात् हमारा मिलना स्वूम भी होता है और तब हम अनुत्तमयी मनुष्य की स्वर्ण रग में रग बेठी है। हम धरने होठों का अमृत प्रेमी के दुष्ण से दुष्णी होठों पर उद्येव बेठी है और कनक-कनक के समान पपीर को मनुष्य के वरम हावों में सुख से छोड़ देती है। किन्तु यह हमारे जीवन का ध्येय नहीं बल्कि धार्तद से भरत हुआ एक प्रकार का विनोवपूण मिलन है जिसमें हमारे मधुर भाव बिलते हैं। बस्तुतः यह तन की बंभल सहर पर माणों का मिलन है।

रचना की बेवना 'मरने वाली ।

शब्दार्थ—सागर-धारमजा=सागर की पुत्री । उच्छस=उच्छसन ।  
प्रमित=प्रपार ।

अर्थ—हम रचना की बेवना बबारी है किन्तु स्वयं बेवना का निर्माण नहीं करती अर्थात् स्वयं बूझी नहीं होती । हम विविध पीड़ाओं से संघर्ष भी करती नहीं पवती । हम सागर की पुत्रियां हैं धीरे सागर की आति ही असौम उच्छसन हैं अर्थात् जिस प्रकार सागर तरंगित होता है वही प्रकार हम भी अपने जीवन की तरंगों से लहराती रहती हैं । हम इच्छाओं की लहरों से फँसते हैं और बचल बनी रहती हैं । हम तो प्रपार हैं और स्वच्छन्द पवन में स्वतन्त्रापूर्वक विहार करने वाली हैं । हम नील की ध्वनियों से सदा सौरभ की सुर्यधि से सबके मन को भरने वाली हैं ।

विशेष—उपमा प्रसंकार ।

प्रवना है आवास नहीं बूझती है ।

शब्दार्थ—आवास=निवास ।

अर्थ—हमारा निवास तो न जाने कितने मनुष्यों की इच्छाओं में है अर्थात् न जाने कितने मनुष्य हमें प्यार करते हैं और प्राप्त करना चाहते हैं फिर हम किसी एक व्यक्ति को प्रेम करके उसकी बो बाहों में कसे बंधी रहें । और उबरी जिस मनुष्य में निवास करने पर तुनी हुई है उसे मनी तक यह आठ नहीं हो सदा है कि इस मनुष्य में कितने कितने दुःख हैं ।

सहजन्मा

कौन क्या कंड लपाकर ।

शब्दार्थ—उरस है ।

अर्थ—पृथ्वी पर जाकर उबरी को कोई दुःख नहीं होता बल्कि प्रियतम को अपने गले से लपाकर उसे नुद ही मिनेगा ।

विशेष—जाकर के स्थान पर जाकर का प्रयोग अधिक उपयुक्त है क्योंकि सहजन्मा और रंभा पृथ्वी पर उतर कर ही बाधा का रही है ।

रम्मा

जो सुख तो बनना होता है ।

सम्प्राप्त—मही=पृथ्वी भूलोक । कृत्सित=शृणुत । मिहित है=छिपी हुई । घलम्=बम ।

अर्थ—जबही जो प्रियतम क कठ से मगकर सुख तो अवश्य प्राप्त होगा किन्तु वह भूलोक बड़ा ही शृणुत है । यहाँ प्रेम की भावना में बातना भी छिपी हुई है । यहाँ पर कबल फूल की स्थिति ही बस नहीं है भर्मात् कवल समोरजन ही से इतिमी नहीं हो जाती बल्कि पम को भी उत्पन्न करता जाता है । इस भूलोक में जो भी प्रेम करती है उसे माता बनना होता है किन्ती न किन्ती शिशु का जन्म देना होता है और शिशु को जन्म देना हम मन्त्रियों की मन्त्रा के बिक्रम है ।

और मातृपद को भरती है ।

सम्प्राप्त—मातृपद=माता का स्थान । ममता=मोह । उन्मुक्त=स्वतन्त्र । शीरम=सुपंखि । इन्द्रबनुषो=रंग-बिरगी ।

अर्थ—इस भूलोक में यद्यपि माता का स्थान पवित्र माना गया है तथापि माता बलकर नारी को धनक प्रकार के कष्ट महन पड़ते हैं । शिशु को जन्म देने के कारण उसका शरीर पिबिल हो जाता है और प्रेम-दान करने से जीवन नष्ट हो जाता है स्वप्न-लोक में बिचरस करने के माग रक जाते हैं स्वप्न रूप स फूलों में जूमेने की तथा भूमि प्राप्त करने की भारत समाप्त हो जाती है । तब मन की इच्छा इतनी प्रबल नहीं रह जाती कि वह बाइलों के साथ स्वतन्त्र होकर जन्म कर सके और फिर मन में रंग-बिरगी जमनों का जन्म होता है ।

कहने का भाव यह है कि माता जनन से नारी की तमाम स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है और उसका स्वच्छन्द प्रवृत्तियाँ छिन जाती हैं ।

रोग शोक संताप - विपत्तियाँ सारी ?

सम्प्राप्त—संताप=दुःख । अरु=बुझापा । विपाद=दुःख । निरु=श्रेयस । मधु=घट्ट घागर ।

अर्थ—इस भूभोक में माता बनने पर रोग बोक बुख और बुझावे से नारी प्रस्त हो जाती है और इन्हीं व्याधियों से प्रभावित होकर इस सभार के प्राणी सबक बुख पाते रहते हैं। जहाँ पर नारी बूझी हो जाती है, उसके उसका शोषण छिन जाता है वह पुष्पी प्रकृति नहीं है। यहाँ पर केवल एक कृष्ण अहद के लिए, तनिक से प्रार्थना के लिए नारी इतनी सारी विपत्तियाँ भोगती है।

### सहजन्मा

उक ! देखी है बिबलायी है।

अर्थ—निबिन = प्रसिद्ध। रौरव-सी = मरक के समान।

अर्थ—उक ! हे रमा ! यदि भूभोक वास्तव में ऐसा ही प्रसिद्ध है, जैसा तुमने बतलाया है तब तो हमारी प्यारी सखी उभकी सबभुष ही नरक में जाने की ठोपारी कर रही है। हे रमा ! तुमन भूभोक के विषय में जो प्रसिद्ध बातें बतलाई हैं उन्हें सुनकर तो मुझ भूभोक नरक के समान बिपत्तियाँ देने लगा है।

कर्म नार उभकी 'प्रम के कारण ?

अर्थ—प्रकृति = काठि। अयोनिवा = अज्ञान का जन्म योनि से न हुआ हो। योनि = योनि से उत्पन्न होने वाली। प्रतिमा = मूर्ति। बिबपठा = असुन्दरता।

अर्थ—तब तो उभकी मानवी को तरह गर्भवती बनकर कर्म का भार होयगी और उसके कारण अपनी सोमा अपने पतिर का मटन और अपनी काठि को समाप्त कर देगी। यद्यपि स्वयं उभकी का योनि से जन्म नहीं हुआ है तथापि वह योनि से उत्पन्न हान वाली सन्तानों का जन्म देती और वह उभका। जो सुन्दर सुषंधि की कामस मूर्ति है वह माता बन जायगी। इस प्रकार क्रियाओं के समान शीघ्र होने वाली यह पटी असुन्दरता को धारण कर लेगी और इतना सब कुछ वह केवल एक प्रेम के कारण सहन करेगी।

रम्मा

हो, अब परिचा करेयी डीसी ।

उप्याय—विद्या=सुन्दरता । उहृक=अज्ञाने वासा । प्रमाहीन=ज्योति  
बिहीन । ताप-ठठ=मर्मां स तथा हुमा । टठठ=कंकाल । मदिर=नजोकी ।  
धीर=बुध ।

धर्म—हां अब परिचा भी प्रेम-देवता की पूजा किया करेयी अमात् मनुष्य  
स स्मृत अब करेयी । इसका धर्म यह होया कि स्वर्ग की सुन्दर अक्षरों  
पृथ्वी पर रहने वाले मनुष्यों को नमस्कार करेयी उनकी आधीनता मान लेगी ।  
इस बरती का प्रेम बड़ा ही अमानक होता है । यहां प्रेम वासना को मूक स  
अविच्छेद अ्याकृत होता रहता है और अपने प्रथम आस में भी यौवन की ज्योति  
को निपस खाता है अर्थात् यौवन नष्ट हो जाता है । यह अज्ञान वाले  
आलिंगन के द्वारा कप को भूल कर रक्त रता है, उस पुरुषिता नष्ट कर देता  
है और यमों से दम अुम्बन के द्वारा यह सुन्दरता को अीन्दर्व-बिहीन बना रता  
है । यह इठी नाटिका को पतनक क समान बना देता है और फिर यह  
सुन्दरता क कंकाल को अुमता रहता है । इसी प्रकार के प्रेम-देवता की बांहों में  
पड़कर अब परिचा भी अुलसा करेयी और यौवन को मिटाकर अक्षरों में  
पाठा बना करेयी । वे पुरुषती होकर अपने पुर्णों को गोबियों में लेकर विद्याप  
करेयी और अपनी लकीरी ठानों को छाड़कर अम्माकाल स ही अपने पुर्णों को  
सुनाने के लिए लोरियां पाया करेगी यह उस कंचुकी को पहना करेयी जो  
अप्येक अणु उनके बुध से बीसी रहेयी और मनुष्य स प्रेम करके है अपन  
गुणवृद्धि अयेर को विपिन बना लेगी ।

बहने का भाव यह है कि मनुष्य स प्रेम करके स्वर्ग की अक्षरों अपनी  
अनसु मर्मांशों स अचित हो जायेगी ।

ममका

वर रंज—अुमता रही हो ।

अप्याय—त्रिया=स्त्री । द्विमिना=बर्फ की अदृश । अतीप=तीव्र  
रहित अवार । अवास्विकी=नारी । अकमती=सुन्दर ।

धर्म—रमा की बातें सुनकर मेनका उत्तर देती है कि हे रमा! यह ठीक है कि माता बनने से नारी का सौन्दर्य मट्ट हो जाता है, किन्तु क्या कभी तुमने यह भी सोचा है कि मां बनने के बाद नारी का समाज में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान हो जाता है। यह भी सच है कि बर्ष की बढ़तान अपने वैह की मठन को मट्ट करके भी दसती है किन्तु उसने के बाद वह अपार और अनेक नदियों का रूप धारण कर लेती है। हे रवि ! किसी नवयुवती को माता के रूप में देखकर मेरे मन को बहुत अधिक आगित मिलती है और मुझे तो बड़ी स्त्री सुन्दर दिखाई देती है जो मोदी में लेकर अपने दुबमुड़े बच्चे को सुना रही है अथवा अत्यन्त प्रसन्न होकर अपने पुत्र का भूतना हिमा रही हो।

कहने का भाव यह है कि मातृत्व का समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान है। नारी के सौन्दर्य की शार्कता भी मा बनने में है।

एक अप्सरा पुनपुनाती हुई उड़ती है।

रमा

धरी देख - कहीं देखा है ?

अप्यार्थ—सरल है।

धर्म—जब मेनका रमा को मातृत्व का महत्त्व बता रही थी तभी एक अप्सरा पुनपुनाती हुई उड़ती लगी पायी है। उसे देखकर रमा सहजम्मा को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—

हे सहजम्मा! उमर देखो, वह नील-सी अप्सरा है जो पुनपुनाती हुई और बहली के समान रंग-विरगी होकर उड़ती हुई लगी पा रही है। क्या तुमको इसे देखकर यह अनुभव नहीं होता कि जैसे इसे पहले भी कहीं देखा है ?

बिरोव—उपमा अर्थकार।

सहजम्मा

दुत् पपली— -विचलेका हूँ।

अप्यार्थ—सरल है।

धर्म—दुत् पपली ! यह तो अपनी सही विचलेका है।

मद

घरों चित्रलेख अधिक गहरायो ।

ध्यातार्थ—गमन=आकाश । गहरायो=गहरी हो गई ।

अर्थ—चित्रलेखा को बहककर सारी सजियाँ एक साथ पुकार कर वह उठती है कि 'घरों चित्रलेखा ! हम सब यहाँ कुमुद के बन में तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हैं, इसलिये दम्बी से या ताकि हम सब लोग एक साथ आकाश में उड़कर चलें । यह समय बहुत ही सुहावना है क्योंकि मीमी मीमी वायु चल रही है और रात बहुत अधिक गहरी हो गई है ।

चित्रलेखा

रको रको माया में ?

ध्यातार्थ—महारियो=सलियो । मिट्टी की=मूलोक की । माया=ममता ।

अर्थ—हे सलिया ! अणु भर के लिए रको में अभी तुम्हारे पास धाती है । तुम अभी तक तारों भरे आकाश के नीचे खेल कर रही हो । ऐसा प्रतीत होता है जैसे इस मूलोक की ममता में फन कर तुम स्वर्गलोक को भी भूल गई हो ।

(चित्रलेखा या महारयो है ।)

महारयो

तेज तेज घाती है ?

ध्यातार्थ—सरल है ।

अर्थ—जब चित्रलेखा आकाश से उतर कर पृथ्वी पर खड़ी हुई अपनी सजियों के पास या जाती है तो महारयो उससे कहती है—

हे चित्रलेखा ! तुम्हारी सार्ने बहुत तेजी से चल रही हैं तुम्हारी छाती बड़क रही है । बताओ तो सही इस तरह बहककर तुम यहाँ से या रही हो ?

चित्रलेखा

आज साँझ से मिल जाऊँगी ।

ध्यातार्थ—रथ=समिक भी । कस=बैठ । काम्त=पति । संक=गोरी । मरल में मिल जाना=मर जाना ।



अर्थ—राज सारंगकान से ही सखी उर्बशी को तनिक भी बँन न था । वह राजा पुरस्का से मिलने के लिए बहुत ही अधिक व्याकुल थी । वह उसे यहाँ तक पहुँची थी कि यदि उसे पति की योग नहीं मिली तो वह निश्चित रूप से मर जायेगी ।

‘रोक चुकी बाहु-बलय में ।

अव्याप —दिन = स्वर्गलोक । अथलोक सक्रोधी = देस सक्रोधी । बसुधा = पृथ्वी, भूलोक । हित = लिए । संभित = इकट्ठा । देव-निसय = स्वर्गलोक । बाहु-बलय = बाहु-पाश ।

अर्थ—उर्बशी की कष्टय बेबला सहजान्या को सुनाती हुई बिजलेखा कहती है कि मुझसे उर्बशी ने कहा था कि तुम मुझे बहुत रोक चुकी हो, लेकिन अब अथिल नहीं रोक सकोगी । अर्थात् मैं अब अधिक आपकी बातों को नहीं मान सकूँगी । तुम मुझे स्वर्गलोक में रखकर जीवित नहीं देस सकोगी । यदि तुम मेरा भला चाहती हो तो मुझे अपन प्रेमी के पास भूलोक में जाने दो । मेरे लिए भाग्य में जो कुछ भी बदा है मुझे उसको भोग्य दो । इस स्वर्ग में मुझे कहीं भी शांति दिखाई नहीं देती । मेरा मुँह तो प्रिय के बाहु-पाश में है जो मुझे बुना रहा है ।

कहने का भाव यह है कि मुझे अब स्वर्गलोक में किसी भी प्रकार शांति नहीं मिल सकती । इसलिये मेरा भूलोक में जाना ही हितकर है ।

‘स्वर्ग स्वग भत कस्तो कर जीने से ।

अव्यारब् —मेरे हित = मेरे लिए । मीरव = मीन ।

अर्थ—उर्बशी बिजलेखा से कहने लगी कि तुम बार-बार स्वर्ग की प्रशंसा मत करो । यह सब है कि यह स्वयं सोभाम्य से भरा हुआ है किन्तु इस महास्वर्ग में मेरे लिए कुछ भी नहीं रखा है, अर्थात् इसकी महानता मेरे लिए किसी भी प्रकार उपकारी सिद्ध नहीं हो सकती । यह स्वर्ग स्वर्गों का जाम है । मैं इस जाम से चुन्कार्य पाकर सत्य का स्वर्ग जोचना चाहती हूँ । मैं कल्पना का नहीं बल्कि वास्तविक सुख प्राप्त करना चाहती हूँ । जहाँ के ज्ञान सौरभ को प्राप्त करने से अब मुझे वृत्ति नहीं होती । मैं अपनी बाली को बचाये रखने के कारण इस मीन जीवन से डर गई हूँ ।

‘ममता हूँ’ भी करता हूँ ।

साम्बार्थ—शोणित = लून । स्वर्ण-वर्ण = सोने की लीका । अरूप = निराकार, रूप-हीन । माधुरी = मधुरता । प्रमोद = आनन्द ।

अर्थ—उर्वशी ने कहा कि मुझे आनन्दन एसा अनुभव हो रहा है जैसे मेरे लून में कोई सोने की लीका जला रहा हो और मुझ बार-बार उठकर अपनी बांहों में—बाहु-पाद में—भर रहा हो । न जाने वह कौन-सा देवता है जो इस प्रकार छिप छिपकर मेरे साथ खेल रहा है और मेरे प्राणों में रस की धरोहर मधुरता को भर रहा है ? जिस देवता के स्मरण मात्र से ही मेरा मन आनन्द से भर जाता है, उसके बहुत निश्चय होकर जीवन बिताने के लिए मेरा मन बहुत कर रहा है ।

‘यही चाहती हूँ’ समीप पहुंचाओ ।

साम्बार्थ—मदेह = निराकार । बेर = बेर ।

अर्थ—उर्वशी विश्वसेवा से कहने लगी कि हे विश्वसेवा ! इसीलिए मैं यही चाहती हूँ कि मेरे शरीर की यह मन्त्र तन बन जाये अर्थात् मेरा मधु-सुक्त शरीर सुसौन्दर्य निवासियों का-सा कठोर शरीर बन जाय और फिर मैं निराकार तथा उड़ते हुए स्वप्न को अपनी बांहों में भर लूँ अर्थात् स्वल्प प्रेम का आनन्द प्राप्त करूँ । सोचती हूँ कि मैं निराकार मन की उम्र को केवल विचारों तक ही सीमित न रखकर प्रयोग में भी लाऊँ उसे रूप में हूँ । मेरे मन में जो प्रेम की धारा सगी हुई है वह पूरा पड़े और मैं उत्तम स्तर-स्तर कर स्नान कर अर्थात् मैं प्रेम की पीड़ा में भी अपार आनन्द का अनुभव करूँ । इसीलिए मैं कहती हूँ कि हे विश्वसेवा ! जब बेर मठ करो और जल्दी से जल्दी जैसे भी हो, मुझ पास ही मेरे प्रियतम पुकरवा के पास पहुंचा दो ।

सहजान्या

तो तुमने किया ?

साम्बार्थ—गरत है ।

अर्थ—उर्वशी की विरह-वेदना को विश्वसेवा ने मरने के रूप में पूछा कि फिर तुमने क्या किया ?

## विप्रसेवा

धरी क्या उपवन में ।

सम्भार्य—तु-संस्कारों से—मयाजक विचारों से । सूरपुर—स्वर्गलोक ।  
मरकतबन में—मृत्युसोक में भूसोक में ।

धर्म—सहजन्मा के यह पुष्टने पर कि तुमने उर्वशी की वैदना को दूर करने  
के लिए क्या किया ? इसका उत्तर देती हुई विप्रसेवा कहती है कि धरी !  
जना सभी उर्वशी को मत्पसोक में पहुँचाने के अतिरिक्त मैं धीरे धीरे ही क्या  
सकती थी क्योंकि मुझे सही उर्वशी के मयाजक विचारों से बहुत डर लगता  
है । भठ आज सायंकाल ही मैं उसे फूलाँ से उखाकर सबकी धाँसेँ बचाती  
हुई स्वर्गलोक से बाहर निकाल आई धीरे धीरे-धीरे तथा कुपके-से भूसोक में  
उतर आई । धर मैं उसे राधा पुकरवा के उपवन में छोड़कर आ रही हूँ ।

रमा

छोड़ दिया बिना विभागे ?

सम्भार्य—निःसंभ—एकाकी धकेली ।

धर्म—क्या तुमने उसे उसके प्रियतम से बिना विभाग ही धकेली छोड़  
दिया ?

## विप्रसेवा

बुधित ठीक है विरहिनी-विधोगी ।

सम्भार्य—मुनिग—उपाय । उपयुक्त—अनुकूल । उल्काठा—तीव्र दृष्टि ।  
उकप—उपवन । मुक्त—बिना किसी बाधा के ।

धर्म—उर्वशी को एकाकी पुकरवा के कुज में विप्रसेवा क्यों छोड़  
आई इसका कारण बताती हुई वह अपनी सभी रमा से कहती है कि  
हे रमा ! बही उपाय ठीक है जो समय के अनुकूल हो । भठ मैंने भी उसे  
इसीसिधे धकेली छोड़ना ठीक समझा था क्योंकि जब मैं उर्वशी को लेकर  
राधा पुकरवा के उपवन में आई, तभी उसकी रानी उससे मिलने के लिए वहाँ  
आ गई । यदि वह रानी इमें देख लेती तो बेकार में ही बात का बर्तव्य बन

लेकिन राजा को यह मामूम हो गया था कि जबकी उत्पन्न में घाई हुई है इसलिए उससे मिलने की राजा के मन में तीव्र इच्छा उत्पन्न हो गई है। जैसे ही राजी वहां से बायेंपी ठबड़ी कुज से बाहर निकल कर प्रकट हो जायगी और तब बिरहिणी जबकी तथा बिरहो पुकरवा दोनों बिना किसी बाधा के जब निजम स्थान में मिलन का प्रयत्न-युक्त मान्य प्राप्त करेंगे।

रम्मा  
भरी राजा की ?

प्रश्नार्थ—सरत है।

प्रश्न—रंभा धारधर्य से सरकर बिजनेसा से पूछती है कि राजा के दूसरी राजी भी है।

बिजनेसा

तो क्या भय प्रभव की होगी।

प्रश्नार्थ—पाट पर=स्नान पर। प्रणय=प्रेम। शेष=दान। धीमन्त=राजा। सुन्दरछायों पर=सुन्दर स्त्रियों पर। सहस्रमिणी=पत्नी। येह=बर। कल-नोपण=परिवार का सासन-याजन। अनिधिबिह=मीमा हुआ। दूमहोन=धंधा युक्त।

प्रश्न—रंभा के मन का उपचार करती हुई बिजनेसा कहती है कि यदि राजा पुकरवा के दुकरी राजी है तो इसमें भयभीत होने की कोई बात नहीं है क्योंकि किसी भी राजा का प्रम एक स्थाक पर—एक मारी से—बँबा हुआ नहीं रहता। राजा तो निजम नये प्रम का मान करते रहत हैं। यथात् नई-नई स्त्रियों से प्रम करते हैं और निज नई सुन्दर स्त्रियों बर मरते रहत हैं। पत्नी बर से पति को निज नई मादकता से मरने क लिए नहीं बसिक कुज का पातन-नोपण करन के लिए पाठी है। पुनः मारी का इत अर्थात् पर कभी ध्यान नहीं देता। वह तो मयु के निज नये वरुणों से भीगता जाहता है—निज नया प्रम काहता है, और निज धीम के कर्णों से भीगे हुए एक पुन को बूमना जाहता है; यथात् धीमन-मर स भरी हुई मारी को बाहु-पात में बँबना जाहता है। राजा के प्रम के देख से जाहे बिजनी मारियाँ हैं, हयें

इसकी कोई शिस्ता नहीं है क्योंकि उर्बची छन सबमें सुन्दर है, और ऐसा कौन सूबं व्यक्ति होता जो उसे छोड़कर अन्यत्र रमण करेगा। चाहे राज परिवार की महारानी कोई भी हो लेकिन हृदय की रानी तो उर्बची ही बनेगी इसमें कोई संशय नहीं है। वही एकमात्र अपने पति की प्यारी होगी।

### सहजम्पा

तब ही मर घायी है।

शब्दार्थ—मर=दूसरा। मन्दनवन=स्वयं का वन। ज्योति=प्रकाश।  
सू=पृथ्वी।

अर्थ—तब तो तू उर्बची को एक स्वयं से निकाल कर दूसरे स्वयं में पहुंचा घाई है। तू स्वयं के वन की ज्योति को सूटकर उठ ज्योति से पृथ्वी को मर घाई है।

कहने का भाव यह है कि उर्बची के धरातल में स्वयं तो प्रकल्प सूना हो जायेगा, किन्तु भूलोक में धामन्य मर जायेगा।

### मेनका

घर स्वयं तुम मर्त्यभवन में ?

शब्दार्थ—घर=मातृक। बरने को=बरण करने के लिए। प्रस्तुत=तयार। धमन्य=देवरानी उर्बची। मर्त्यभवन=भूलोक।

अर्थ—हे सहजम्पा ! तुम चाहे पृथ्वी को दूसरा स्वयं मानो किन्तु मेरे हृदय में यह संका बरी हुई है कि सम्भव है राजा का हृदय मत्स्य मातृक हो। यह सब है कि उर्बची उर्बची की पीड़ा से तुम परिचित हो चुकी हो। पर हे शिबसेता ! वह तो बताओ कि क्या तुम इसी प्रकार राजा की पीड़ा से परिचित हो चुकी हो ? यद्यपि जिस प्रकार राजा के शिवोपम में उर्बची बुझी है, क्या इसी प्रकार उर्बची के शिवोपम में राजा भी बुझी है ? क्या तुम्हीं यह बात है कि जिस राजा का बरण करने के लिए उर्बची तैयार रही है वह राजा भी उसका प्रतिफल करने के लिए—उसे धनदाने के लिए—तयार है। हे शिबसेता ! देवरानी उर्बची के मन में प्रेम की जो धाम दृष्टि है क्या उसका बोधा भूलोक के राजा पुरुखा के मन में भी है। भाव यह है कि

क्या राजा पुरुषवा भी इसी प्रकार उर्बंसी म धपार प्रम करता है जिस प्रकार उर्बंसी करती है ?

चित्रसेला

बुँघा नहीं कल है ।

अध्याय—उवासा=भाग । ताप=दुःख पीड़ा । उभयदिक्=दोनों धोर मम=बराबर । स्व=तनिक । कल=बन ।

अर्थ—येनका के मय का निवारण करती हुई चित्रसेला बहती है कि ये राजा के मन में बुँघा नहीं बल्कि एसी ही धाय बेनी है वैसे उबसी के मन में लगी हुई है । दोनों धोर की पीड़ाएँ बराबर हैं । बेवराती उर्बंसी के मन में कितनी धाय है, पुरुषवा की धाय भी उधमे कुछ कम नहीं है । वैसे उर्बंसी स्व तथा धामोच से उदासीन हाकर विक्रम रखती है उसी प्रकार राजा की भी कभी भी तनिक-ना भी बन नहीं बह राउ-दिन उबनी के लिए तड़पता रहता है ।

छिपकर मुना 'बाबा पा ।

अध्याय—नीति भीति=नीतियों का मय । दुःख=तनिक भी । अस्त=विच्छिन्न बलय किया हुआ ।

अर्थ—मैंने एक दिन छुपकर मुना कि राजा अपने मन से बह रहा था—रे मन ! तू उस दिन स्वच्छ मेरों के समान प्रकाशित बन से बेकार ही लौट आया । तुझको उस दिन नीति के बय का नकोच तथा धील का तनिक भी ध्यान नहीं करना था धपल मुझे समाज के धोर मम के मारे बगनों को छोड़कर उर्बंसी को प्राप्त कर लेना चाहिए था धीर उभ स्वज क पीछे-पीछे लौटना चाहिए था जो स्वज धम बिबर मया है ।

एक मूलि में श्वेत कुनों से ।

अध्याय—निद्रिया=निद्रिया घाट मानी जाती है—धलिमा पहिमा गरिमा लहिमा प्राप्ति प्राकाम्य निम्ब धीर बधिल । पृ कुम=केसर । बाकक=महावर । कादि=शोका । पाकक=धाय । धरुण=मास । कादशी=बहिना राउब । मुकलिन=मिमी हुई । विडम प्रबाज=कोली-भूमे । ध्योम=प्राकाश ।

धनियों को समो सेता है । इसीलिए यह निश्चय है कि एक दिन मेरी बिछू  
की पुकार से ब्याकृत होकर स्वर्ग बोन उठेगा और तब भाकास हमारे मिशन  
के लिए रास्त बोन देगा ।

मेरे प्रभु मन से ।

अर्थार्थ—कस्पद्रुम=स्वर्ग का एक बृष । पारिजात-वन=कमल-वन ।  
प्रसून=फूल ।

अर्थ—हे चर्बछी ! मेरे य भासू घोस का रूप बारछ करके कस्पबृष पर  
छा बावेये । कमल-वन के फूल मरी भाहा से कुम्हला पावेये । हे मन की  
भोहने वाली चर्बछी ! मेरी यह बृष से मरी हुई पुकार ब्यर्ब नहीं पावेयी ।  
भाव नहीं तो कम प्रबस्य ही यह पुकार तुम्हें स्वर्ग में तड़पावेयी । फिर यह  
पुकार तुम्हें स्वर्ग से उतर कर पृष्ठी पर बाने के लिए बिबल करेयी । मा मैं  
इस बृह का त्याग कर स्वर्ग ही तुमसे मिलने के लिए स्वर्गलोक भा बाउंवा ।

कहने का भाव यह है कि यदि मुझे चर्बछी नहीं मिली तो मैं उसके बिछू  
में शरीर-त्याग कर बू ना ।

सहस्रभ्या

यह कराल प्रणय-वती की ।

अर्थार्थ—कराल=भयंकर । प्रणय-वती=प्रेम का ब्रत करने वाली ।

अर्थ—भरे ! पुरुष की प्रेम का ब्रत करने वाले मानव की यह बिछू  
बेबना तो बहुत ही भयंकर है ।

चिन्तलेखा

यही समुद्रमन रत्नाकर है ।

अर्थार्थ—समुद्रमन=ब्याकृतता । रत्नाकर=पूणिमा की रात । रत्नाकर=सागर ।

अर्थ—मनुष्य की यही ब्याकृतता तो नारी की लोभा है । यदि मनुष्य  
नारी के लिए न तड़पे तो फिर उसके लोभर्ब का कोई बृस्य नहीं रह पाठा  
और यदि तड़पता है तो उसके रूप में बार बाद लग पाठे है । इसीलिए तो  
चर्बछी की सुन्दरता में—यद्यपि वह पहले भी सुन्दर थी—और प्रबिक बृडि

पई है। पुस्तिका की छत की तमो बिजय सपकती जाहिए जब उधरी  
 धाति से कापर में उफरत घा जाये।

सहजन्मा

महाराज कर 'गुड़ कहानी।

शम्भार्य—भारत है।

धर्म—जब महाराज बिट्-वेदना से इतने धपिक पीहित हैं तो उनही  
 उमो अवस्थ ही उनही गुड़ प्रम-कहानी को मन ही मन सपक पई होंगी ?

बिजनेसा

कैसे समझे नहीं 'धाराब रही है।

शम्भार्य—कून-नामा = कृतीन नापी। धाराब रही है = पूजा कर  
 रही है।

धर्म—धाराब ही सपक पई है क्योंकि प्रम छिपाये से नहीं छिपता।  
 लेकिन जब यह बिपति घा ही जाती है तो कृतीन नापी कर भी नया सक्ती  
 है। यह मुना है कि यह रानी अपने प्रियतम की प्रीति का बनाय रखने के  
 लिये किसी बत की साबना कर रही है और धाराबत अत्र देवता की पूजा  
 कर रही है।

सहजन्मा

तब तो 'होड़ पड़ी है।

शम्भार्य—अम्नातना = अत्रमुसी उबडी।

धर्म—तब तो अत्रमुसी उबडी और अत्र देवता में अम्नी-जापी होड़  
 लय गई है।

मेसक्य

यह भी है 'धड़ी है ?

शम्भार्य—भारत है।

धर्म—नया तुमको हम बात का भी ध्यात है कि यह छत केवल बार  
 नहीं धप रह गई है।



रमा

घण्ट, कोई तान स्वर में ।

सम्बार्ध—मुक्त मन्वर—स्वच्छन्द आकाश ।

घण्ट—घण्टा यदि रात केवल बार बड़ी रू पर है तो कोई तान शुरू करे और स्वच्छन्द आकाश में उड़ो । अपने गीत के मन्वर स्वर में पृथ्वी और आकाश की साय-साय निगाहें हुए बनो ।

(समयेत गान)

बरस रही मयु चाँदियों में बस रे ।

सम्बार्ध—विमा—सोना । तरंग—महर । तिमिर—धन्धकार ।

घण्ट—हे मन ! आकाश से मयु की बारा बरस रही है, घण्ट वृ इसका रस-वाग कर से । इस समय जो सोना जमक रही है उस वृ अपनी बाँहों में बस से पूर्णतया आत्मसात् कर ले । सुन्दरता का यह सागर प्रकृत रसमय, घटल और मधुमय है अतः इसमें पूरी तरह से डूब जा फेनिल लहरी को प्रकृत करके ही अन्तुष्ट मत हो जा । कहने का भाव यह है कि इस सुपमा का पूर्णतया आत्मसात् हो इसके किसी एक क्षण पर ही अन्तुष्ट न हो । दिन में बीबी सस्त रूप होती है रात को बीबा ही नयानक धन्धकार होता है इसलिए वृ इन प्रकाशयुक्त चाँदियों में बसकर नवीन तथा भिसमिमाते प्रकाश की कृष्टि कर, घण्टि धन्धकार को प्रकाश में बरस ।

(इस प्रश्नर सामूहिक रूप से गाती-पाती सभी परिधि आकाश में उड़कर छिप जाती हैं ।)

## द्वितीय अंक

(प्रतिष्ठानपुर का राजमन्तन पुकरबा की महारानी श्रीमिनी की अपनी दो सक्तियों के साथ ।)

श्रीमिनी

तो वे - वये ?

शर्याप—सरन है ।

शर्याप—प्रतिष्ठानपुर क राजमन्तन में महाराज पुकरबा की महारानी श्रीमिनी की अपनी दो सक्तियों—निपुणिनी और मदमिका—के साथ है । वह अकस्मात् अपनी सक्तियों स पुछ बठती है—

ता क्या यह सप्त है कि महाराज पुकरबा उस छोड़ कर चले गये हैं ?

निपुणिनी

वये स्वय स प्रापी ।

शर्याप—प्रमद्वन = रातियों का नाम । अनुरक्त = प्रेम में बध हुए ।

निपति = भाम्य ।

शर्याप—हाँ यह सप्त है कि महाराज जबली से मिलने के लिए चल गये हैं । उस दिन जब धान धान पति की पूजा करके प्रमद्वन से हृदय में यह सन्तोष भरकर तथा विश्वास लेकर लौटी थी कि जिस प्रकार राहिली और ब्रह्मा धारण स प्रम स बधे हुए हैं उमी प्रकार महाराज का प्रम भी धारके प्रति धरस हागा व धारण हा प्रम करेगे । अब धीवन में कोई भी ऐसा दुःखर जग नहीं धारणा जब महाराज अपनी धीर से उदासीन होकर भय शक्तियों क प्रति धारकत होंगे । हे देवि ! उमी धारके भाम्य पर दुःख मुस्कृतया धीर महाराज स मिलन के लिए उबली स्वयं से उतर कर पृथी पर धा गई ।

श्रीश्रीनरी

फिर हुआ ।

सम्बार्थ—सरल है ।

प्रश्न—श्रीश्रीनरी ने निपुणिका से पूछा कि फिर क्या हुआ ?

निपुणिका

बैठि बहू- अनुचरी कहेगी ?

सम्बार्थ—अनुचरी = बासी ।

प्रश्न—बैठि ! इसके परभाव जो कुछ हुआ उसे वह आपकी दादी कहने में सर्वथा असमर्थ है ।

श्रीश्रीनरी

अपनी कौन-माया से ?

सम्बार्थ—अपना = बुद्ध । सानुकूलता = अनुकूलता । कवि = घोभा ।

प्रश्न—तू तो पागल है । तू यह नहीं जानती कि दुनिया में ऐसा कोई भी बुद्ध नहीं जिसको नारी नहीं सहती अर्थात् नारी को सभी प्रकार के बुद्ध सहने पड़ते हैं । तूने राजा पुरुरवा और उर्वशी के मध्य जो प्रेम-व्यापार देखा उसकी सारी कहानी निस्संकोच होकर मुझ सुनाती जा, ताकि मेरे हृदय में अलती हुई माय और भी अधिक ठेव हो पाये । यदि तुम्हारी इस ब-सब कहानी से मुझ अनाथित का हृदय अलना है तो उस अलने से क्योंकि इसमें तुम्हारा कुछ भी शेष नहीं है । उस दिन तो स्वामी पुरुरवा के स्वर में मेरे प्रति नारी अनुकूलता की अर्थात् वे और किसी अर्थ से प्रेम न करने की अपेक्षा से रहे वे किन्तु मेरी समझ में यह नहीं आता कि वे एक क्षण में ही कैसे बदल गये । न जाने ऐसी कौन-सी परी है जो उन पर इस प्रकार का मोहक मन्त्र काम सकती है और पुरुषों की बीरता का एक पल में ही हरण कर सकती है । मेरी समझ में नहीं आता कि उस अंधरा ने मेरे स्वामी को अपनी घोभा से रूप-कवि से छला है अथवा अपनी माया से छला है ।

निपुणिका

प्रकटी अब उचारी माय लपाने वाली ।

अम्बार्च—द्रुम=बृहत् । स्वर्ण-प्रतिमा=सोने की मूर्ति । बिभा=शोभा ।  
 गौरी=गौरी की शोभा । कुसुम-कसेवर में=फूल के रूप में । प्रवीण=  
 अयमगाती हुई । बघनों से=बत्नों से । उत्कृस्त=खिला हुआ । साम्र=  
 सुन्दर, प्रिय । सास्य=एक प्रकार का गाव । शोणित=बून ।

अर्थ—निपुणिका महारानी धौसीनरी से उर्बची के रूप का वर्णन करती  
 हुई कहती है कि जब वेड़ की छाया से जांबनी रात में बाहर घाई तो ऐसा  
 प्रवीण हुआ मानो चाँप के मुक्त से मण्ड निकल घाई हो । या स्वयं जांबनी  
 सोने की मूर्ति में घाकर बस गई हो या भ्रमर-वन की स्वप्नों की शोभा  
 स्वयं शरीर बाखर करके धाकाय से उठर घाई हो या तीनों लोकों की  
 गौरी-शोभा एक स्थान पर इकट्ठी होकर उदित हो गई हो या वह स्वप्ना  
 से भरे हुए मन की फूल के रूप में अलती हुई शोभा थी । उसके शरीर की  
 शोभा बत्नों से छनकर पुरां रूप से चमक रही थी । उसका प्रत्येक अंग  
 हिम के कणों से चिक्त कुसुम के समान चिम्तमिला रहा था । ऐसा प्रवीण  
 होगा या मानो खिला हुआ कमल धमी-धमी बस से निकला हो । किसी  
 सुन्दर तथा प्रिय वन के समान उसका मैत्रों में हरियाली (प्रसन्नता) छाई  
 हुई थी । उसकी बड़ी-बड़ी शाखें यौवन के मरु से इस प्रकार धमसाई हुई  
 थीं मानो उनमें नींव मरी हुई हो । उसके धग-धम से राग बनाने वाली  
 सास्य की नहरें बीज रही थीं । वह, निस्संबिद्ध, मनुष्य के सोये हुए तथा  
 धान्त बून में धाग लगा देने वाली थी ।

विशेष—१ उत्पसा सबिह और अपमा धनकार ।

२ गौरी के सौन्दर्य का परम्परामुक्त वर्णन ।

मदनिका

सुप्त धास्य चिन्बु लहराया ।

अम्बार्च—पुणं चन्द्र=यहाँ उर्बची से तात्पर्य है । चिन्बु=सागर । यहाँ  
 महाराज पुकरवा से तात्पर्य है ।

अर्थ—हे निपुणिका ! तुम मनुष्य के बून को सुप्त और धान्त कहती  
 हो । तुम्हारा यह कबल ठीक नहीं है । जो धरित पर्वतों में बस की धाव

को प्रवाह बेती है, वही सन्त बुपचाप मनुष्य के प्राणों में छिपकर और बीड़-बीड़कर उसके जून के प्रवाह में सहर्ष उपजाया करती है और वे ही सहर्ष एक बिन फूटकर प्रेम की जारा बन जाती हैं। लेकिन इन बातों को छोड़ो। तुम आये की कहानी सुनाओ कि क्या जगन्मा के समान उर्वशी को देखकर सिन्धु के समान महाराज पुरुरवा अचल रहे अथवा अपनी मर्मादा को छोड़कर उबल पड़े ?

बिभ्रवे—सागर मर्मादा का प्रतीक माना जाता है क्योंकि वह अपने तटों की मर्मादा पर कभी उत्संजन नहीं करता किन्तु पूरिमा की आदनी में वह अपने तटों की मर्मादा को छोड़कर न्धार-भाटे के रूप में उफन पड़ता है। कवि का इसी तन्त्र की धोर संकेत है।

### निपुणिका

सिन्धु अचल रहता पिरि-मस्तिका-मत्ता-ती।

सम्बार्थ—शरणा = भवानक। कोपामल = श्लेष की धाम। सुख-संभार गता ही = सुख के बोझ से बनी हुई ही।

अर्थ—यदि सागर के समान महाराज पुरुरवा अचल रहते, उर्वशी के प्रेम-पाश में न फसते तो धाम रूप राजमहल में क्यों रोते और क्यों इस प्रकार धाम के श्लेष की मयामक धाम में चलते। महाराज ने उर्वशी को देखकर, अचल होकर तथा अकृमा कर, उसे दीड़कर और उठकर अपनी बांहों में धर लिया। वह अन्तर भी महाराज के हृदय के बीच में सुख के बोझ से बनी हुई-सी होकर इस प्रकार समा गई, जैसे पर्वतों के पंखों में छिपटी हुई कोई पिरिमस्तिका की लता हो।

बिभ्रवे—उपमा और उत्प्रेता अलंकार।

धोर प्र म-वीड़ित बल ह।

सम्बार्थ—उपचार = इलाज। धूरभि = सुमंभि। बेसि = मत्ता। मूर्धा = मस्तक। पाटल = कमल। दल = पल्लवियां। अमित = पानी। निस्तल = अतल।

अर्थ—धोर तब प्रेम से पीड़ित राजा कहने लगे कि मैं क्या इलाज करूँ। सुख को मादक तरंग के समान इस उर्वशी को मैं कहीं लगेट कर

रख मु ? न जाने सामर प्राण के किस प्रदृश्य किनारे की छूना चाहता है ?  
 कून की बाप हृदय को छोड़कर किसको छूना चाहती है ? न जाने मेरे  
 प्राणों में कौन सुर्मिषि की दिव्य मत्ता सहनहा उठी है ? और न जाने कौन  
 गई तारिका मेरे मस्तक पर कमक उठी है । न जाने किस कमल की पल्लवियां  
 सुर्मिषि से विकसत होकर जल की लहर में प्रानों के मासक सर में धीरे धीरे  
 तिर रही हैं । यह मुझ की गंभीर समाधि प्रथम है, इसका पार नहीं पाया  
 जा सकता । इसमें जहाँ तक प्राण दूबत हैं, वहीं तक ध्यान ही ध्यान ही और  
 जल ही जल उपमन्य होता है ।

प्रानों की मणि बिखरे हुए ।

ध्यातव्य—भक्तोक्त=कामदेव । दुरम्य=कठिन । दुस्सह=भयानक ।  
 उन्मिद=उत्तीर्ण । धातप=गर्मी । ह्रिमकाल=धरत ऋतु । सतत=सयातार ।  
 विभु=अग्रमा । इन्दु-मुक्त=अश्रुमुक्त । इगित=संकेत । स्रोतस्विनी=नदी ।  
 संकथ=बामु । प्रमिसिक्त=भियोना । जनासी=बादलों का समूह ।

धर्म—हे प्राणों की मणि ! कामदेव को भी मोहित करने वाली  
 उर्वशी ! इस कठिन विरह में पड़कर मैं क्या-क्या कठिन बेवनाए नहीं भेसता  
 रहा हूँ ? धर्मात् मैं सब प्रकार की कठिन से कठिन पीड़ाओं का सह रहा  
 हूँ । रात-दिन उत्तीर्ण धातपों में धर ही ध्यान मन्त्रोकर मने सगाठार से  
 रोकर गर्मी वर्षा और धरत ऋतु बिता दी । बिना होते समय तुमने जिन  
 मधु-मस्त धातपों से देखा या उस समय की वे धातपें वह मूछि वह वृष्टि  
 कभी भी एक क्षण के लिए नहीं मूसी जाती । तुम्हारा ध्यान धात ही मेरा  
 मन जानती जैसी उज्ज्वलता से भर जाता है, पुम्बल की कल्पना करते ही  
 समस्त धरीर में सिहरन उत्पन्न हो जाती है । तू ही मेरों में छिपकर मेरा  
 मन हूँती रहती है और अग्रमा की छोट लकर मुझे धरन पास बुसाने के  
 लिए संकेत करती रहती है । प्रत्येक फूल में तुम्हारा ही अश्रुमुक्त मेरे मन में  
 आकर्षण पैदा करके लौ बार हूँस कर तथा मुझे धरने संकेत से धरने पास  
 बुसाकर छिप जाता है । तुम्हारी स्मृति की लबी लहरकर मेरे प्राणों में  
 आनंद का संचार तो करती है किन्तु विरह से दण्ड इस बेदना कभी बामु

को भिन्नो नहीं पाती थी; अर्थात् तुम्हारी स्मृति से मेरे मन को कुछ तो मिन्नता या पर बेबता की बाह कभी नहीं होती थी। किन्तु आज मुझे तुमसे मिलकर इसी प्रकार प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है जिस प्रकार घापाइ के महीने में मेरों का मठवाला समूह घापाइ में छा जाता है। यही प्रसन्नता की तबीयत हरियाली आज चारों ओर से घेर कर खड़ी हो गई है।

हे प्राणवचरी ! हम निरत साय-साय रहकर मिलन-सुख का अनुभव करें और मधुमय हरियाली निकुञ्ज में छाजीवन बिचरण करते रहें।

विशेष—प्रकृति का वर्णन सहीपन रूप में किया गया है किन्तु इस वर्णन में परम्परा का रवाब करके तबीयत पद्धति का समावेश किया गया है।

### घोसीनरी

छाजीवन से घण्टा मरना है।

वाक्यार्थ—छाजीवन = जीवन भर।

अर्थ—यदि महाराज और उबंसी दोनों जीवन भर साय-साय रहेंगे तो मुझे घब जीवर करना भी क्या है। इस जोड़े-जी परण से तो एक बार मरना ही बहुत घण्टा है।

### निपुणिका

मरण अष्ट है बीना है।

वाक्यार्थ—गण्यमादन = एक पर्वत का नाम। प्रत्यागत हो = लौटकर। नैमिषेय = एक प्रकार का यज्ञ। प्रीता = प्रियतमा। कृष्णनिता = कृष्णनील स्त्री। परिणीता = विवाह की हुई चारी पत्नी।

अर्थ—यह सत्य है कि इस प्रकार के जीवन से मरना बहुत घण्टा है किन्तु आपकी मरना भी तो सुलभ नहीं है क्योंकि आपके समय महाराज पुरुरा ने अपने मंत्रियों से यह बात कही थी कि एक वर्ष के पश्चात् के गण्यमादन नामक पर्वत पर बिचरण करेंगे और वहाँ से लौटकर नैमिषेय नामक यज्ञ का विधान करेंगे। महाराज प्रियतमा के कधीभूत होकर पर्वत पर बिचरण तो कर सकते किन्तु उमरा यज्ञ बिना कनीय पत्नी के पूर्ण नहीं होगा; पछ है मुझेदरिदरि ! उस यज्ञ की पूर्णता में अपना कर्ब निमाने के लिए आपको

जीवित ही रहना पड़ना क्योंकि यदि प्राण मर गईं तो वह यम फिर किन्त प्रकार पुरुष होया ।

### श्रीश्रीमरी

हाम, मरथ तक भेते हैं ।

अर्थ—इमाहस=भयंकर विष । मलिका=बेव्या उबरी । अहित=बुरा । प्रमा=अप में डालकर । प्रबधिकार्ये=ठगिनी । हित=लिए । कुस-नामाओं को=कुस नारियों का । घासट=सिंकार ।

अर्थ—मह बड़े दुःख की बात है कि जब तक मुझ मरने का अवसर मिलेगा तब तक मुझ भयंकर विष को पीते रहकर जीना होगा । न जाने इस बेव्या उबरी का मैंने क्या बुरा किया या न जान कर और किस पुरुष-जगम में मैंने उसका क्या सुख छीन लिया या जिसके कारण मरे पति की बुद्धि को अप में डालकर वह अथम पापिनी मेरे पति को मुझ से छीनकर ले गई ।

न जाने ये ठगिनी अम्बरार्थ अपने मन में क्या क्यों नहीं करती और निर्दयी बनकर अपने आनन्द के लिए कुस की नारिया का तड़पाती रहती है ।

ये अपने रूप और जीवन का आनन्द फेंकती रहती है और हँसी हँसी में नरों के मन का सिंकार करती है । लेकिन इन व्याधियों के बावजूद किसकी दुःख पहुँचाते हैं ? पुरुषों को तो न आनन्द देती है, पर उनकी नारियों के आँसुओं को हर लेती है अर्थात् उनके कारण नारियों का ही दुःख होता है, पुरुषों को नहीं ।

### निपुणिक

पर कसी है बहती है ।

अर्थ—आनन्द हुई=पत्नी । अजग=पत्नी । पत्नव-वस=पुत्रों का समूह । निहित=समस्त । पय=हृष । मन्त्रित करके=महसा करके । कुसकारिरेक=हृष का आधिक्य ।

अर्थ—लेकिन इस उबरी के ऊपर आनन्द की भी तो बहुत अधिक कृपा है क्योंकि महापति का साथ प्रेम उभर कर उसके ऊपर बरस रहा है ।



ने नियम नहीं पाती थी; जबकि तुम्हारी स्मृति से मेरे मन को कुछ तो मिला था पर वेदना की वाहू कभी नहीं होती थी। किन्तु धाम तुम्हें यसे मिसकर इसी प्रकार प्रकृतता का अनुभव हो रहा है जिस प्रकार तपाङ्क के महीने में मेघों का मठबाना समूह धाकाय में छा जाता है। नही प्रकृतता की महीन हरियाली धाम चारों धोर से घेर कर सजी हा गई है।

हे प्राणस्वरी ! हम जिस साध-साध रहकर मिलन-सुख का अनुभव करें और मधुमय हरियाले निकल में आजीवन बिचरण करते रहें।

बिसेब—प्रकृति का वर्णन उद्घोषन रूप में किया गया है किन्तु इस वर्णन में परम्परा का स्वाद करके महीन प्रकृति का समावेश किया गया है।

### श्रीश्रीनरी

आजीवन के प्रकृत मरना है।

धार्थार्थ—आजीवन—जीवन भर।

धर्म—यदि महाराज धीर उर्बची शेरों जीवन भर साध-साध रहेंगे तो वे धम जीकर करमा भी क्या है। इस जीते-जी मरण से तो एक बार रमा ही बहुत प्रकृत है।

### निपुणिका

मरण प्रकृत है भीमा है।

धार्थार्थ—गण्यमादम—एक पर्वत का नाम। प्रत्यागत हो—छोटकर। विदेय—एक शहर का नाम। प्रीता—प्रियतमा। कुसवनिता—कुसीन की। परिवर्तिता—विवाह की हुई गारी पत्नी।

धर्म—यह सत्य है कि इस प्रकार के जीवन से मरना बहुत प्रकृत है किन्तु धाफको मरना भी तो सुखम नहीं है क्योंकि जाते समय महापत्र पुरुरवा करने मंत्रियों से यह बात कही थी कि एक बर्य के पत्थाय के गण्यमादम एक पर्वत पर बिचरण करते धीर नही से छोटकर नैविदेय नामक यज्ञ का त्याग करें। महाराज प्रियतमा के बचीमूत होकर पर्वत पर बिचरण और सक्रम किन्तु उनका यज्ञ बिना कुसीन पत्नी के पूर्ण नहीं होगा। धर्म है नैवर्धरि। उस यज्ञ की पूर्णता में अपना कार्य दिमाने के लिए धाफको

वीक्षित ही रहना पड़ना, क्योंकि यदि कार मर गई तो वह यत्र चिर विम  
प्रकार पूर्ण होगा ।

### श्रीगीनरी

हाय मरण तक सेने हूँ ।

व्याख—हताह्न=भयकर विष । दण्डिका=बेव्या-उबनी । दण्डि=  
बुरा । भ्रमा=भ्रम में डालकर । प्रबन्धितार्थे=ठगिनी । लि=लिण । कुत-  
वामाधो को=कम नारियों को । धात्र=विचार ।

अर्थ—यह बड़े दुःख की बात है कि जब तक मुझ मरण का धरना  
मिलना तक तक मुझ मरणकर विष का पीठ रहकर बीता हुआ । न उत  
अस वैश्या उबंठी का मने क्या बुरा किया था न उत वह हीन विम पूर्व उत  
में मने उसका क्या सुख थीन मिदा था त्रिदक काग्य मे दण की  
बुद्धि को भ्रम में डालकर वह अपम पालनी मरे दण का मुझ मे होकर  
के गई ।

न जाने ये ठगिनी धन्तरार्थे अपने मन में क्या क्लेश गृही करती हीन  
निर्दयी बनकर अपने धानन्द के लिण कुम की नारियों का नष्ट गृही है ।

ये अपने रूप और जीवन का बान धेकनी गृही है हीन हीन-हीन के  
मनों के मन का विचार कर लेती है । तबित इन धन्तरिणी के क्या विमया  
दुःख पहुंचात है ? पुरुषों को तो वे धानन्द करती है, पर उन्हीं नरिणी के  
प्राणों को हर लेती है । अर्थात् इनके काग्य नरिणी का ही दुःख हीन है,  
पुरुषों को नहीं ।

### निपुमिगुवा

पर कैसे हूँ बहरी हूँ ।

व्याख—धान्त हुई=बकी । ध्यरन=पवा । धन्तरन=करी का  
समूह । निखिल=समस्त । पय=रूप । दण्डिका काग्य=काग्य काग्य ।  
पुनकाधरेक=हृष का धाधिय ।

अर्थ—लेकिन इस उबंठी के ऊपर भाग्य की हीन काग्य दण्डिका  
है क्योंकि महाराज का धाय प्रेम उमड़ का उमड़े काग्य काग्य काग्य ।

धर्मात् महाराज पूर्णरूप से उसे प्रेम करते हैं। जिस विधा में उर्बशी बसती है, महाराज उसी घोर उसके पीछे-पीछे बसते हैं। वह यदि बाप भी बकी तो महाराज फूलों के समूह से उसकी हवा करते हैं, उसके लिए पंखा झलते हैं।

वे उसकी समस्त देह को दृष्टि के बाड़े हुए से महामा करके घोर उसके प्रत्येक धर्म को महोत्सव पत्ते पराय तथा फूलों से सजाकर फिर सुरन्त ही यह कह बैठते हैं कि ये भी ठीक नहीं मगते। इसीलिए वे तरह-तरह के प्रसाधन—सजाने के सामान—बनाते रहते हैं।

घोर उर्बशी सारे ध्यानम्ब को समेट कर चुपचाप रहती है। शोकती तक नहीं है। वह ध्यानम्ब के कारण धर्म-वेतन धनस्था में होकर हृदय क धाबिबय में बीरे बीरे बहती रहती है।

### मदनिका

इसमें क्या आश्चय बन्धन में।

शास्त्रार्थ—द्वैतरी—सिंह गन्तिघाली पुरुष। धर्मिधिय—निरन्तर। रोमाकूतित—रोमांज से भरकर। धर्मिधय—धर्मार्थनीय। उर्बशी—मदनों कीमती—बापनी। जाबक—महाभर। विष्णु—अग्रमा। पाबक—अप्योति से सारपर्य है। तपोनिष्ठा—तपस्वी। प्रमदा—धुमती। उत्रेमित—उत्तमित।

धर्म—यदि विविध भाति के प्रसाधनों से उर्बशी को सजाकर भी महाराज सन्तुष्ट नहीं हो पाते तो इसमें धारधर्म की कोई बात नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि जब मनुष्य के हृदय में प्रथम बार प्रेम जगता है तो उसे मारी किसी दुर्लभ स्वप्न के समान सुन्दर दिखाई दिमा करती है।

मारी प्रीबन की वह कितनी घोरवपूर्ण बड़ी होती है जब गन्तिघाली घोर धर्मय पुरुष अपने सन-मन की समस्त सुय-भुय भूलकर मारी के चरणों में पड़ा रहता है घोर उसके मुक्त को निरन्तर देखता रहता है तथा प्रत्येक क्षण रोमांज में भरकर गूढ़ घोर धर्मार्थनीय मन्त्र का धोत्र करता रहता है।

यही वह समय होता है जब मारी जो बाहे उसे ही प्राप्त कर सकती है। वह बाहे तो मदनों की तपड़ी घोर बापनी का दुकून मेंवबा बबती है बाहे तो ऊप्य के महाभर से अपने चरणों की उंगलियों को रंगना सकती है घोर बाहे तो पूर्णिया के अग्रमा की ग्योति से धपनी धारती सजना सकती है।

उस समय लक्ष्मी का संचित रूप शानी का मान मानसीस का मान यकीने का गव और धर्मिमानो का धर्मिमान ये सब सहज ही मुखौ के चरणों की ओर हो जाते हैं और सब उत्तेजित मनुष्य पापी स कुछ भी नहीं बचा पाता ।

किन्तु, अत्यन्त दुःख का विषय है कि मनुष्य को यह उत्तेजना भी सरल तथा स्वाभाविक नहीं है बल्कि माया से मरी हुई है । जिस सहज धातुव्या स पुंस्य का हृदय बधकता है, उस धातुरता से नारी के मन में उत्तेजना नहीं आती । वह समर जैसे मन्मीर मनुष्य को अपने बन्धन में बाँधकर रख सना चाहती है ।

### श्रीश्रीनरी

किन्तु बन्ध को पिटोनी होगा ।

धर्मार्थ—अर्थ=बन्धन । प्रामित=प्राप्त ।

अर्थ—लेकिन बन्धनों को तोड़कर जब नारी के हृदय के प्रेम का आवेष्ट पैदा होगा है तब तब नर का प्रेम धिपित होकर प्राप्त होता प्रारम्भ हो जाता है । हम नारियों को पुण्य धर्म-निष्ठा में बूमता है किन्तु जब हम निष्ठा से जगती हैं तो वह प्रेम-जपत के प्रति विमुक्तता निश्चिन्तन क्षमता है । तब रमणी धर्म-निष्ठा से जायकर और प्राणों में प्रेम की धाम लेकर अपने प्रेमी का पंम देखती रहती है तथा उसके बिरह में धामू बहाती रहती है । मुझ भी जब धामू बहाने के सिद्धांत और कोई कारण गप नहीं रह पाता है ।

### निपुणिका

इसी भाँति ... बन्धन सके हैं ।

धर्मार्थ—धर्मार्थ=सुन्दर स्त्री । स्वर्णरेखा=बलिदा ।

अर्थ—लेकिन क्या इस प्रकार महापुत्र भी आपके प्रति प्रेम से चलासी ही जायेंगे और आपका समान सुन्दर तथा गुलुबती नारी को तबकर बिन बोध-समय उस मणिवा—अवधि—को कब तक धरमाये रह सकते हैं ?

### श्रीश्रीनरी

कीम कहें ... चाहता मन है ।

धर्मार्थ—धर्मार्थ=जिसे प्राप्त न किया जा सके ।

धर्म—कौन जाने कि महापुत्र मुझे छोड़कर उर्ध्वरी के प्रति ही अपने प्रेम का प्रदर्शन करेंगे किन्तु इतना सत्य है कि प्रेम हृदय की सबसे बड़ी उत्तमन्न है और प्रेम में मन उसी वस्तु को प्राप्त करना चाहता है जो प्राप्त न की जा सके।

मदनिका

उस पर भी बस में।

सम्भार्य—प्रतिमाओं का—सुन्दर स्त्रियों का। तोप—सन्तोप। पीना—गर्दन। डूरे—छिप जाये। संक—शोक। निमग्नित—दुबोया हुआ। प्रमत्ता—मुबती।

धर्म—यद्यपि प्रेम स्वयं एक ऐसी उत्तमन्न है जो अस्वभाव्य वस्तु की प्राप्ति के लिए प्रबलधीन रहती है इस पर भी मनुष्य में प्रति अणु आकृत होने की शक्ति है। वह नित नई सुन्दरियों का प्यार प्राप्त करना चाहता है। उसके बस में जो वस्तु या जाती है उससे उसे सन्तोप मही होता और न उसके लिये उसे सन्तोप होता है जिसे उसने भीत कर अपने बस में कर लिया है।

मनुष्य नई स्त्रियों को प्राप्त करने के लिये नित नये संवत्स की इच्छा करता रहता है। वह नया स्वार नई श्व और नित नया रूप प्राप्त करना चाहता है। उसे भौतिक स्पर्श से दूर रह कर स्वप्नों की कल्पितताएँ धण्डी सगती है। वह उस जग की इच्छा करता है जिसे वह छू कर नहीं पी सका हो। जो नारी अपना सर्वस्व त्याग कर उसकी मदन में भूतती रहती है उसके प्रति उसके मन में कमी भी प्रीति नहीं जगती। जानकी के समान जो नारी उसे अपना सर्वस्व अर्पण कर देती है उसे वह पीकी सक्ते सगती है।

मनुष्य उसी नवयुवती के बस में रहता है जो बार-बार बुम्बन सेकर प्रकट होती है तथा छिप जाती है जो स्वयं को प्रियतम की गोदी में समेट लेती है जो स्वप्नों के समान बाहू-पाग में उड़ती रहती है और अन्धकार की लहर के समान बार-बार लौटकर दूब जाती है और जो सर्वत्र प्रियतम को अर्पित के रस में डुबाये रहती है।

विशय—नारी-मन का यथातथ्य मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है।

श्रीस्त्रीनरी

गृहिणी जाती हार बनकर हारी।

अर्थ—अभिनी = विजयी। गृहिणी = धर्मपत्नी।

अर्थ—धर्मपत्नी अपने सम्पूर्ण जीवन को समर्पित करके भी अपना बाँध हार जाती है और अन्धरा पुरुष में लक्षक भर कर विजयी बन जाती है। बेचारी गृहिणी नारी मनुष्य में लक्षक अपना नहीं जानती उसकी बाधनाओं को उत्तमिष्ठ करना नहीं जानती। इसीलिये हे सखि ! अन्धरा जीत गई वह मेरे पति पर अपना अधिकार करने में सफल हुई और मैं रानी बनकर भी हार गई, अपने पति के प्रेम से बंधित हो गई।

निपुणिका

इतना कुछ कर सकती है ?

अर्थ—बनर = कुबेर। व्योमजसु = पाकाश की भाँति। जलद निघ = बादलों के समान। मनोज्ञ = सुन्दर। कस्युमायुज-से = कामदेव के समान। अनुत्तमी = प्रेमी। बामा = स्त्री।

अर्थ—हे महापत्नी ! याप इतना सब कुछ जानती थीं फिर आपने अपने ऊपर इस विपत्ति को आने दिया और अपने पति को अपने हाथों से क्यों जाने दिया ? महापत्नी भी कोई साधारण पुरुष नहीं हैं। उनका मन अन्धराएं सहज ही हरण नहीं कर सकतीं। वे कात्तिकेय के समान सूरवीर देवताओं के गुरु बृहस्पति के समान ज्ञानी सूर्य के समान तेजस्वी इन्द्र के समान प्रतापी तथा स्वाधिमामी, कुबेर के समान सम्पन्न पाकाश के समान भुक्त ।... लों के समान त्यागी कसुम के समान मधुर और सुन्दर तथा काम-देव के समान प्रेमी हैं।

ऐसे असाधारण व्यक्ति के लिए स्त्री सभी कुछ कर सकती है, उसे बस में करने के लिए अपनी समस्त शक्ति का प्रयोग कर सकती है और ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जिसे वह उसके चरणों पर स्वीकार न कर सके।

विशेष—उपमा अर्थकार।

## श्रीश्रीनरी

घरी कौन है उबसी है नारी ।

शब्दार्थ—हृदय=कार्य । प्रणय-बेदी=प्रेम की बेदी । धारण्य-वरण्य पर=पति के चरणों पर । हेरती रहती=देखती रहती । भी=धीमा । अन्तर=हृदय । बस=प्राप्त । कर यथाह=स्नान करके ।

अर्थ—हे त्रिपुरिका ! कोई भी ऐसा कार्य होय नहीं है जिसे मैं इसके लिए सब तक न कर पाई हूँ अर्थात् महाराज की उबसी के प्रेम से उबासीन करने के लिये मैंने सब प्रकार क प्रयत्न कर लिए हैं । एसा कोई भी फूल नहीं बचा है जिसे मैंने प्रेम की बेदी पर न बड़ाया हो । एसा जेरे पाछ कोई बन नहीं है जिसे मैंने अपने पति को समर्पित न किया हो । हे सति ! मैं तो अपने पति के चरणों पर तन मन और जीवन सभी कछ स्वीकार कर दिया है ।

इतना सब कृष्ण समर्पण करने के परचाव भी तो मैं भिखारिणी की भाँति उनके मुँह की धोर देखा करती हूँ । और अपने प्रियतम की बाँतों में सदैव अपने सुख को देखती हूँ अर्थात् उनके मुँह को देखते रहने में ही मुझे अपना आनन्द मिलता है । मैत्रिन प्रियतम के अभाव में मूँह बहु मुँह भी तो नहीं मिलता । न जाने उनके नयनों की चमक कहाँ लो गई है ? न जाने स्वामी के मधुर प्रेम की घोसा कहाँ पर जाकर लो गई ?

मुझे अब भी सारा सुख प्राप्त है, केवल एक प्रियतम के मिलन का ही सुख नहीं है । इसी सुख से तो नारी के हृदय में माग का जमन बिना करता है । यही वह सुख है जो सब दृष्टि से बरसा करता है जिससे नर मनु-मत्त नयनों से नारी को देगा करता है ।

यही वह दृष्टि है जिसके कारण अबग्या का अन्तर मिट जाता है धार प्रीति नायिका भी जिसे प्राप्त कर दुबरी बन जाती है । यह वह धारण्य पवित्र अमबुक्त (स्नेहपूर्ण) और मुझफारी दृग भी निर्भरी है जिसमें स्नान करके नारी फिर से महीन हो जाती है अर्थात् पुनः जीवन तथा जीवन-वरण्य प्राप्त कर लेती है ।

मदनिका

जब तक यह प्रबंध होते हैं ।

घञ्जार्थ—रस-वृष्टि—धानस्य से भरी हुई वृष्टि । रसोद्भक्त—रस (धानस्य) का संचार । शास्त्रसंघर्ष—सकड़ी को छूने क समान । वरु—घरीर । काय—काया घरीर । बुष्कर—मुदिकस्य । मबुकर—मौरा । प्रणय-सुखा—प्रेम की मूख । अननि का—माता का । बल—पोष से तात्पर्य है । धमित्त-भान्त हो—भक्त कर । उद्दाम—तोष । धनस—भाग प्रमाप्ति । धप्रतिम—धपूर्व । रूपसी—रूपवती । तिमिराच्छन्न—प्रभकार स भरा हुआ । परिदम—धामियम । जमनि—सामर । विश्रान्त—धत्रय ।

अर्थ—जब तक पुरुष की नागी के प्रति यह धामन्त्र से भरी हुई प्रेम की वृष्टि बनी रहती है, तभी तक बीजन में धानस्य का संचार होता रहता है । इसी से धास्तिमन में पुनन और शुम्बन में समीकता एव सिद्धान् घाती है । जब यह वृष्टि प्रम-विहीन हो जाती है तो शुम्बन का स्वाद नष्ट हो जाता है और धास्तिमन मूखी हुई सकड़ी के छूने क समान निरर्थक बन जाता है ।

घरीर तो केवल एक द्रव्य क समान है । तन पर जो प्रेम की वधिता तिथी जाती है वह तो मन से उत्पन्न होती है अतः केवल घरीर का मिसन व्यर्थ है । अकिन्त सदा घादमी के मन की वध में रहना बहुत ही कठिन काम है, ठीक उसी प्रकार वेश फूलों से भरी हुई पुष्पी के होन पर भी बचल मौरा सदैव एक फूल स दूसरे फूल पर जाने के लिए ही विकसत रहता है ।

मनुष्य सदा प्रेम की मारक मूख स धार्तात होकर विचरतु किया करता है । मनुष्य को न तो विषय प्राप्त करके वृष्टि होती है और न यद्य की धमूत प्राप्त करके उस सन्तोष मिलता है । यदि प्रसक्तता मिलने पर नर को धरती मां की गोद याद घाती है तो मुनीवर्तों के धाने पर उसे मुबती की सत्र ना स्मरण होता है ।

जब मनुष्य सधर्षों से पुलनया भक्त जाता है तो वह विह्वल होकर केवल एक अणु सिर रखकर सोने के लिए नारी का हृदय रूढ़ा करता है । जब मनुष्य की धार्तों में धामू भर जाते हैं तो बेहे-किस्ती का शुम्बन बाहुता है और विवर्त में रमली के घरीर से गात्रा धास्तिमन बाहुता है ।



जसकी हुई जब मैं मनुष्य की या तो छाड़ की या बल की या किसी निकृज में ईश्वर प्रतीक्षा करती हुई युवती के संवस की याद आती है। और मनुष्यों में भी जो मनुष्य अितमा अधिक विक्रमी और प्रबल होना उसकी प्रेरणा भी उठनी ही अधिक तीव्र वैधर्म्यी तथा दीप्त होगी।

जो व्यक्ति प्रकृति के कोप से शिवता ही अधिक तज लेकर आता है, वह उठनी ही आसानी से फूँकी से बच जाता है। पहले का काव यह है कि जो व्यक्ति शिवता ही अधिक पालितगामी होता है वह उठना ही अधिक भावुक और धनुरामी होता है। जो व्यक्ति धर्म समाय और धनुर तेज-बल को धारण करने वाले होते हैं वे बड़ी आसानी से सुन्दर मारी के सामने घुटने टेक बैठे हैं।

जो दृष्टि अन्धकार से भरे हुए आकाश को पार करने में सक्षम होती है वही किसी युवती के सुन्दर रूपों को छुकर कृण्वित हो जाती है। जो बाहें उखाड़कर पश्य का भी अपनी मोह में ले लेती है वही हृदय की पीड़ा तथा आतिथ्य की वैदना का शान करती है।

जो बाहर शिवता ही अधिक विभ्रन्त धर्म और रत्नों से भरा हुआ होता है उसमें उठनी ही अधिक संवर्षधील और दुर्लभ बाह्यार्थि होती है। वह, नामे और बोधे ही (उठने के) बन्धनों को स्वीकार करते हैं। महाभर तो स्वभाव से ही प्रबल होने हैं।

निपुणिका

इस प्रबलता नहीं है ?

अन्वय — उपचार = इलाज।

अर्थ — तो क्या इस प्रबलता का संसार में कोई इलाज नहीं है ?

श्रीजीनरी

य त्त के सिवा रोचंगी।

अन्वय — योपिता = युवती रमणी।

अर्थ — यदि के सिवाय पत्नी (रमणी) का और कोई साधारण भी तो नहीं होता। जब तक रमणियों के लिए केवल यति ही साधारण बना रहेगा, तब

तक नारियों की धूपार्थ दूर नहीं होगी। वे धामुधों को छिटाकर हँसेगी।

(कंचली का प्रवेश)

कंचुकी

जय हो

धारावन में।

धामाय—मट्टारिक=महारानी घोड़ीनरी के लिए सम्बोधन। मट्टारिक=महारज पुररबा के लिए सम्बोधन। मक्षम=कृष्ण। उत्पल=कमल। श्रीव=गर्दन। धम्बर=धाकाग। धनिश्य=धस्यत। बंगपर=पुन। धारावन में=पूजा में।

धष—जब घोड़ीनरी और उसकी सन्धियों में बाधबीत हो रही थी तभी कंचुकी धागा है धोर बहता है—

हे महारानी धापकी जय हो। महारज को जो सनिक पम्बनादन पर्वत का माय दिखलाने के लिए तथा उन्हें कुणम-पूर्वक बहाँ पहुँचाने के लिए मये ये ब धाग नयर में लीट धाये हैं धोर धापके सिये महारज का यह सन्धेग साये हैं।

महारज ने सन्धेग में कहा है कि यहाँ की पवन स्वास्य-बदक धोर तीव्र है। यहाँ का जय मीठा है। भ्रोंमें में त्रिपर दखिए, जयर ही कमल कमल दिखलाई देने हैं। लम्ब बीड़ बीड़ के बुझ धाकाग को धोर पदन धाप हुए हैं। वे ऐसे प्रतीत होते हैं मानो एक नरण पर लड़े हुए तपस्वी ने ध्यान में लीत हों।

दूर-दूर तक महा पूजा क मुखर बन है जो दूर-दूर तक फैल हुए हैं। बखिय बहीं पर लता तथा तराशों के बने हुए कुज मवन दिखलाई देते पर्वतों को कोटिया पर लठ क डर हैं धोर मोष नरतों का पानी बह रहा ल पर्वतों क बीच में प्रवृत्ति हरिनामी का बमन धोड़कर सोई हुई है।

इस मनुष्यन म बहुत ही मन्ध धोर प्रसन्न हूँ किन्तु यहाँ भी मेरे मन धार बहो बटना (पुनानाव को) जयर धाती है। यद्यपि प्रतिष्ठातपुर धीमव है कि बह इस पृथ्वी पर मय के समान है किन्तु यह समस्त के धम ब में मूला ही लयता है।

क्या आपने घर में कभी भी पुत्र रत्न नहीं खसकेया ? यद्यत् इस बंध में कोई पुत्र उत्पन्न नहीं होगा ? है बेचि । क्या यह महान् ऐत बंध पुत्राभाव के कारण आपके नहीं बस सकेगा । पाप भगवान् न मिरल्लर पुत्र के लिये प्राचना करती रहे । आपके धर्म-साधन में किसी प्रकार की गसठी न होने पाये । मैं जहां भी रहूँगा, इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये मिरल्लर ईश्वर की पूजा में लगा रहूँगा ।

निपुणिका

सुन लिया धार्ये ।

धर्म—हे महाराजी ! क्या आपने महाराज का सन्देश सुन लिया ?

श्रीशोनरी

हां धनोयी कून हों ।

धर्म—रमसा—रमण करना । साधना—पूजा । धर्मज्ञ—  
सहारा । मस्त—बापु, यह । शून—काटे ।

धर्म—हां मैंने महाराज का सन्देश सुन लिया है । उनकी साधना बड़ी ही धनोयी है, क्योंकि वे धर्मज्ञ के साथ रमण करने की ईश्वर की पूजा बता रहे हैं । वे पुत्र प्राप्त करने के लिए कुजों में धीर बनों में आनन्द के साथ विचरण करते रहे धीर मैं इस सुने धर्म में पुत्र के लिये पूजा करती रहूँ इससे धर्मिक पैरा दुर्भाग्य धीर क्या हो सकता है ? उनका यह ग्याय भी कितना प्रतीका है ? इस ग्याय का विरोध करने के लिए भी तो कोई उपाय नहीं है । वास्तविकता तो यह है कि इत सकार में सबको मटारे मिस सकत है किन्तु नारी को नहीं मिल सकते क्योंकि वह धर्मज्ञ है । नारी के लिये तो यही उचित है कि वह अपने मन के दुःख परं को किनी में न रहे धीर मन की धर्म को मोठ का रूप न द । उनके मन में वेदना को जो हूक उठ उसे धर्मो जवान पर न साथै ।

इनका मय कुछ होने पर भी मैं धर्मज्ञ से बड़ी श्रद्धा करती हूँ कि सारे यह धर्म इतमी के अनुकूल हों । उनका धर्म मैं जो बटे हों, वे मुझे

मिम जायें और मेरे प्रियतम जहाँ भी रहें वहीं सब बयह उनके पक्ष में फूस  
 बिछे रहें। अर्थात् महाराज कृष्ण-पूवक तथा धानम्बपूर्वक अपने जीवन का  
 निर्वाह करते रहें।

बिषय—इन पंक्तियों में प्रौद्योगिकी के अरिज की महत्ता साकार हो  
 उठी है।

## तृतीय अंक

(बन्धुमादन पर्वत पर पुकरवा और उबेंडी)

पुकरवा

जब से हम-तुम करती हो ।

अर्थार्थ—अभिचारों में—मिसन-झणों में । सिताचित—स्वेत और कासा-  
अर्थात् शुक्ल-पदा और कृष्ण-पदा । अमा—अमावस्या । ज्योत्स्ना—बादली ।  
पुष्प—खिले हुए । अग्निनिप—अपसक । विरा—बाणी ।

अर्थ—मग्धमादन पर्वत पर निवास करते हुए महाराज पुकरवा अपनी  
प्रियतमा उबेंडी से कह रहे हैं कि हे उबेंडी ! जब से हम-तुम मिले हैं तब से  
इस मिसन-झणों में न जाने कितनी बार उजनी भूमर करके शुक्ल पदा और  
कृष्ण पदा को साथ लेकर आकाश में घूम चुकी है ? अर्थात् कितने ही भुग्म  
और कृष्ण पदा व्यतीत हो चुके हैं—बहुत अधिक समय बीत गया है । न  
जाने, तब से कितनी बार अमावस्या आने पर अमावस्या अग्रमा को चुरा  
कर ले गई है और न जाने कितनी बार फिर बादली उभे मकर प्रकट हुई है ।

जब से हम तुम इस रूप के अथवा और विधे हुए जानने में मिले हैं तब  
से मेरी अत्यन्त बलि कितनी बिलम्ब में उड़ी रहनी है । यह बिलम्ब इतना  
अधिक है कि मुझ स्वयं अपनी बाणी का ही अर्थ समझ में नहीं आता । मेरे  
घरों से अर्थों की जो मूर्तियाँ बनती हैं वे तुम्हारी घातों से उड़ने वाले शीर  
पत्तार में गलकर ली जाती हैं ।

अपनी इस विवशता के कारण मैं आनन्द से बिकटा होकर सिहरता हुआ  
जब तुम की भाँति राड़ा रूठा हूँ जिसकी आँखों पर बिलहरिया बड़ आनन्द  
के साथ क्लिप्त रही हों या जिसके पत्तों में छिपकर कावच बोल रही हो ।

बिज्ञान—१. समय का नाटकीय एवं संवेत्तात्मक विवरण ।

२. उपमा अर्थकार ।

उर्वशी

जब से हम-तुम मैं प्रायी ।

उपार्थ—मरुत्पति से—बहुत तेजी से । प्रतीत-पट्टर मे—मूतकाल की मुष्ठा में । कल्प—बहुत लम्बा समय (इसे ब्रह्मा का एक दिन बताया गया है किन्तु मानव-समय के अनुसार इसमें ४ परब ३२ करोड़ वर्ष होते हैं ।) काम मित्रार्थ—मृत्यु के समान भयकर रातें । कामद्रुम-तप्त—कल्पवृक्ष के नीचे । सप्तमा—राती ।

प्रथम—जब से हम और तुम मिले हैं तब से न जाने समय को क्या हो गया है क्योंकि यह बड़ी तेजी से मूतकाल की मुष्ठा में छिपता जा रहा है । प्रार्थना बड़ी जल्दी-जल्दी व्यतीत हो रहा है । लेकिन जब तुम्हें बेतकर वापिस स्वर्गलोक को गई थी तो यही प्रथमर के समान मुख्य बनकर मे पाखों पर बैठ गया था । सूर्य प्राकाश में उदय होकर छिपने का नाम भी नहीं लाता था प्रार्थना दिन काटना पहाड़ बन जाता था और रातें तो काम के समान भयकर होती थी तथा कल्प के समान भीतनी थी । उन दिनों मैं कल्पवृक्ष के नीचे गरम फूलों पर पड़ी हुई तड़पती रहती थी । लेकिन तुम कभी छिपकर भी मेरी सुप्त सेन नहीं प्राये । तुम इतने कठोर निन्दुर निन्दसे कि स्वयं तो महल में बैठे-बैठे निन्दित होकर सुख प्रताप का मद्य का बय का कसियों का और फूलों का सप्त भोग्य रहे और मैं तुम्हारे बिरह में एकाकी तड़पती रही । घन्ट में तुम मुझ तभी मिले जब मैं मारी की मर्यादा को मंग करके तथा स्वर्गलोक को छोड़कर स्वर्ग इस मूलोक पर उतर आई ।

बिधाय—? मिसम का समय बहुत तेजी से तथा बियोग का बहुत तेरी स बीतता हुआ प्रतीत हुआ करता है । इन परिस्थितियों में कवि न इसी मनोबन्ता निक सारम का निरूपण किया है ।

२ उर्वशी के द्वारा उपलक्ष्य के कारण इन दोनों प्रियों के प्रेम की गभीरता की ओर संकेत है ।

पुकरवा  
बिर-भक्त हूँ  
तमी प्राप्रोपी ।

अर्थ—इनुज = राक्षस । विमोहित करने = धुंका करके । क्षीरोदधि = दूध का सागर । साहिमा = माली । मिछाटन से = मांगने से । निमित्त = लिए । धन्त-पुर से = भीतर से । भव्यव = घण्टा । गिहुन-बीधि = कुर्बों की गली । मूपा = झूठ । पारिजात = कमल । संतप्त = बेदनापूरुष ।

अर्थ—तुम मेरे कारण स्वर्गलोक छोड़कर इस भूलोक पर उतर गई तुम्हारी इसी कृपा के लिये मैं तुम्हारा बहुत-बहुत आभार मानता हूँ लेकिन इसके प्रतिरिक्त मिलन वा तुम्हारे लिये धीर कोई मार्ग भी तो संभव नहीं था । उस दिन राक्षस के हाथों से तुम्हें धुंकाकर धीर तुम्हें तुम्हारी सक्तियों को छीपकर जब मैं अपने घर वापिस सौटा था तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मेरा शरीर तो किसी प्रकार रक्त में पड़कर घर तक आ गया है किन्तु मेरे प्राण उन्हीं उन्मत्त देवों के बग में सूट गए हैं जहाँ तुम मुझ दूध के सागर में सहर की साहिमा के समान भिभी थीं ।

कई बार मन में यह इच्छा हुई कि स्वयं इन्द्र से जाकर मैं इस बात को कहूँ कि उबंठी के बिना वह जीवन सब बोज़ा बन गया है । धीरकी बड़ी कृपा होगी यदि धीर उबंठी को भूलोक पर आने की आज्ञा दे दें ।

5) (अ) लेकिन मेरे मन में इस मार्ग को स्वीकार न किया । मेरे मन में कहा कि सभी होकर भीस मांगना उचित नहीं है । धीर प्रेम भीष मांगने से नहीं मिसती भी तो नहीं । यदि इन्द्र की कृपा से मुझे उबंठी मिल भी गई तो उसके हृदय का द्वार मेरे लिये कौन खोलेगा ? मनुष्य के हृदय में बाहर तो साकर्म नहीं हुई नहीं है कि जब चाहा उसे खोल लिया और हृदय में प्रवेश कर लिया । हृदय-मंदिर का द्वार तो सर्वत्र भीतर से ही खुला करता है अर्थात् प्रेम भावना का विषय है खोले जाने का नहीं ।

धीर कभी-कभी मैंने यह भी सोचा था कि जिस उबंठी के तन की सुगंध से तृप्त होकर तीनों कामों की तथा तीनों लोकों की वायु विकृत तथा मस्त होकर बह रही है उस उबंठीवापिनी सुगन्धि की घण्टा एवं घमर पिपा को मैं मर्त्यलोक का प्राणी प्राण की किस कुब-गली में संजोकर रख सकूँगा अर्थात् मैंने यह सोचा कि मैं उबंठी की तुलना में बहुत छोटा हूँ इनामिये मेरा उससे प्रेम-व्यापार नहीं सिध सकता ।

इसीलिए मैं धसहाय बनकर महान में बठा-बैठा तड़पता रहा। साथ ही मुझे यह विश्वास था कि यदि मेरा प्रेम झूठा नहीं है तो मेरे मन की यह बिरह-बेवला आकाश के नीचे मर्त्यलोक में नहीं रुक सकेगी। यह बादलों के समूह को भेद कर अचस्य ही कमल के बल में पहुँचेगी। तब यह अचस्य ही तुम्हारे मन को भी बेदना से भर देगी और प्रीति के बगने पर तूम स्वर्गलोक को तजकर निरक्षय ही किसी रात को स्वर्ग ही इन पृथ्वी पर जमी आओगे।

### उर्वशी

तो तो मैं धपयन था।

शब्दार्थ—धपस्कान्त=दुःखक। धपस=सोहा। उद्भ्रान्त=भटकता हुआ। महोरगि=महासागर। बाहु-बलय=बाहु-पालन। विक्रम-उरण=शक्ति की सहर।

अर्थ—सा तो मैं था नहीं, किन्तु मेरा यह धापयन ठीक इसी प्रकार का है जिस प्रकार चन्द्रक सोह को अपनी ओर लीचकर अपने-ही धिपका सता है। लेकिन इस प्रकार के धान में उस प्रकार का तनिक भी धानध नहीं है जो उन बामाभी मनस्विनियों को भिन्ना करता है जिन्हे प्रम स धावेसयुक्त होकर बलवान और विक्रमी ध्यक्ति या तो रण में धीत कर साते हैं धपबा बल-सहित उनका हरण करते हैं।

नदियाँ स्वयं धाकर सागर में मिस जाती हैं किन्तु सागर उन पर कोई ध्यान नहीं देता। बला का सीमाग्न जिस धिर-अतुष्ट और भटकत हुए महासागर को धालियन में भरने के लिए धाकत रहता है वह महासागर उसकी तनिक भी धिन्ता न करके सहरे मारता ही रहता है।

वही नाठी धम्य है तो मानवती और प्रमिका होते हुए भी धपन प्रमी क बाहु-धास में स्वयं लिचकर नहीं धाई बल्कि धपने प्रेमी की विक्रम-सहरों पर चढ़कर धाई है धपयन् जिसे उसक प्रेमी न धपनी सक्ति स प्राप्त किया है। यदि धापको द्भ्र से धापने में धपयन का धर था तो धापन मरा हरण क्यों नहीं किया ?



शायर्य—बनुज—राजस । विपश्चित करके—दुहा करके । श्रीरोचि—  
 वृष का घायर । मामिमा—बाती । मिखाटन से—मापने से । निमित्त—  
 लिए । घम्ट-पुर से—भीतर से । घम्य—घमंड । निहृ-बीपि—कुओं की  
 गमी । मूपा—मूँ । पारिजात—कमल । संतप्त—बेवनापूर्ण ।

अर्थ—तुम मेरे कारण स्वर्गभोक छोड़कर इस भसोक पर उतर गई  
 तुम्हारी इसी कृपा के लिये मैं तुम्हाए बहुत-बहुत धाम्दार मानता हूँ  
 लेकिन इसके प्रतिरिक्त मिसल का तुम्हारे लिये और कोई मार्य भी तो  
 संबन्ध नहीं था । उस दिन राजस के हाथों से तुम्हें छडाकर और तुम्हें तुम्हारी  
 सजियों को सौंकर जब मैं अपने घर वापिस सीटा था तो मुझ ऐसा प्रतीत  
 हुआ कि मेरा घरीर तो किसी प्रकार रप में पड़कर घर तक आ गया है  
 किन्तु मेरे प्राण उन्हीं उज्ज्वल मेखों के बन में छूट गए हैं जहाँ तुम मुझ वृष  
 के मापर में सहुर की सामिमा के समान मिली थीं ।

कई बार मन में यह इच्छा हुई कि स्वर्ग इन्द्र से जाकर मैं इस बात को  
 कहूँ कि उबसी के बिना यह जीवन अब बोझ बन गया है । घायकी बड़ी  
 कृपा होगी यदि घाय उबसी को मूलोक पर जाने की आज्ञा दे दें ।

लेकिन मेरे मन ने इस मार्य को स्वीकार न किया । मेरे मन ने कहा कि  
 लकी होकर भीम मांगना उचित नहीं है । और प्रेम भीख मांगने से कभी  
 मिलती भी तो नहीं । यदि इन्द्र की कृपा से मुझे उबसी मिस भी गई तो  
 उसके हृदय का द्वार मेरे लिये कौन खोलेगा ? मनुष्य के हृदय में बाहर तो  
 मांकन लगी हुई नहीं है कि जब चाहा उसे खोल दिया और हृदय में प्रवेश  
 कर लिया । हृदय-मंदिर का द्वार तो सबैब भीतर से ही खुला करता है घम्यन्  
 प्रम भावना का विषय है खोले जाने का नहीं ।

और कभी-कभी मैंने यह भी सोचा था कि जिस उबसी के तन की  
 मुयन्त्रि से तूट होकर तीनों कानों की तथा तीनों सोंकों की बानु विकल तथा  
 मस्त होकर बह रही है उस सबबभ्यामिनी सुगन्धि की घमंड एवं घमर  
 धिखा को मैं मर्त्यलोक का प्राणी प्राण को किस कु-बसी में खंडोकर रख  
 सकूँ या घम्यन् मैंने यह सोचा कि मैं उबसी की तुसना में बहुत छोट्य हूँ  
 रवितन मेघ जससे प्रेम-भ्यापार नहीं निप तदथा ।

इसीसिए मैं असह्य बनकर महस में बँठा-बँठा तबपता रहा । साथ ही मुझे यह विश्वास था कि यदि मेरा प्रेम भूख नहीं है तो मेरे मन की यह बिरह-वेदना आकाश के नीचे मरत्यलोक में नहीं रुक सकेगी । यह बादलों के समूह को भेद कर धनस्य ही कमल के बन में पहुँचेगी । तब यह धनस्य ही तुम्हारे मन को भी वेदना से भर देगी और प्रीति के बन्ने पर तुम स्वर्गलोक को तजकर निश्चय ही किसी रात को स्वयं ही इस पृथ्वी पर जमी घाघोगी ।

### उर्वशी

तो तो मैं धनस्य या ।

धनस्य—धनस्यलोक = बुन्दक । धनस = सीहा । उर्वश्यान्त = भटकता हुआ । महोश्वि = महासागर । बाहु-धनस्य = बाहु-पाश । विश्व-तरंग = शक्ति की सहर ।

धर्म—छो तो मैं धा गई, किन्तु मेरा यह धानस्य ठीक इसी प्रकार का है जिस प्रकार बुन्दक सोहे को अपनी ओर खींचकर अपने-से चिपका जाता है । लेकिन इस प्रकार के धाने में उस प्रकार का छिन्न भी धानस्य नहीं है जो उग बामासी भगवत्त्वियों को मिला करता है जिन्हें प्रेम से धानेस्युक्त होकर बलवान और विश्वी व्यक्ति या तो राग में जीव कर साते हैं धनस्य नस-सहित उगका हरण करते हैं ।

नदियाँ स्वयं धाकर सागर में मिल जाती हैं किन्तु सागर उन पर कोई ध्यान नहीं देता । बेसा का सीमार्य जिस बिर-धनस्य और भटकते हुए महासागर को धालियन में भरने के लिए धाकृत रहता है वह महासागर उसकी छिन्न भी चिन्ता न करके सहरे मारता हो रहता है ।

वही जारी बस्य है तो मानवती और प्रेमिका होते हुए भी धाने प्रमो के बाहु-पाश में स्वयं चिन्नकर नहीं धाई, बल्कि धाने प्रेमी की विश्व-सहरों पर चढ़कर धाई है धनस्य जिसे उसके प्रेमी ने धनस्य शक्ति से प्राप्त किया है । यदि धानस्य इन्द्र से मानने में धनस्य का डर था तो धाने मेरा हरण क्यों नहीं किया ?

## बिनाकार और उनकी उर्बारी

पुकरवा

प्रयथामूल' 'पबित्र करता है ।

अर्थात्—प्रयथामूल—प्रयथल के कारण । विक्रम—दुष्कर्म । पर के—दूसरे के । बनायास—सहज ही । गया—प्रत्यया पशुप की बोली । शरण—बठिन । पुण्डरीक—कमल । मूर्तिजन्म—मिट्टी और जल । समिप्य—उदासीन । समिल—गनी । कर्म—मिट्टी की बड़ । इतर—दूसरी ।

अर्थ—बाहे इरण हा या भीष दोनों ही दुष्कर्म हैं और प्रयथ के कारण हैं । और फिर इरण भी करता तो किसका ? क्या उस सौम्य-मुखा का जो देवों के लिए कान्ति भी और इंद्र के मन की वीरलता भी ?

मैंने कभी किसी धर्म राजा के मुकुट पर हाथ नहीं बढ़ाया अर्थात् किसी भी धर्म राजा की स्वतन्त्रता छीनकर मैंने कभी भी उसे परतन्त्र बनाने की कोशिश नहीं की । न किसी की पृथ्वी छीनने के लिए, राज्य छीनने के लिए मैंने कभी उद्यम किया । एक भी प्रतिष्ठानपुर की बन्दना दूसरे राजा करने ही इसकी अर्थात् स्वीकार करता है । और मरे राज्य की सीमा दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है । इसी प्रकार प्रत्येक सुवर्ण सुख विजय और जीवन की सिद्धि की प्राप्ति मुझ सहज ही अपन-आप हो जाती है । यह सब उस बनवान् की कृपा है जिसकी रचना यह पूरा सृष्टि है । हम तो केवल धनुष के समान हैं जो बोली के धारण पर झुका हुआ है और जिस पर किसी धर्म अर्थात् की इच्छा ने बाण फसा करतें हैं ।

बहने का भाव यह है कि मनुष्य कर्ता नहीं कर्ता तो धर्म अर्थात् (इश्वर) है जिसके इच्छारे पर मनुष्य की यही प्रवृत्ति निष्काम कर्मयोग कहलाती है ।

मैं मनुष्य हूँ । कामना की वायु मेरे भीतर बहती है । यह वायु कभी प्राणों में सिंहरन तथा पुनर्जगाती हुई मात्र बरि स बहती रहती है और कभी अंधकार की भयानक पथि को लेकर बालियों को मरोड़ती हुई बहती है । कहने का भाव यह है कि मनुष्य में काम-वासना कभी तो अल्प मात्रा में होती है और कभी बहुत अधिक मात्रा में होती है । काम-वासना का आधिक्य मन के

दीपक का बुझाकर हृदय का संस्कार स पूर्ण बना देना है अर्थात् इन व्यवस्था में मनुष्य में उचितानुचित का विचार नहीं रहता । तब काम-वासना मनुष्य के मन के दीपक को बुझाकर अर्थात् उसके ज्ञान को नष्ट करके उसके हृदय को अज्ञान के संस्कार में भर जाती है । मर्कित मनुष्य अज्ञान रूपी संस्कार के शासन को स्वीकार नहीं करता । वह अज्ञान रूपी तिमिर स सपर्य करता है और फिर ज्ञान के दीपक जल उठते हैं ।

जब क्यों की—विविध सौन्दर्य की—आकृष्य तरफ हमको अपने बंध में कर लेती है तो हम केवल उसमें डूबते ही नहीं, बल्कि उसका ऊपर उठने भी हैं अर्थात् मनुष्य सग सौन्दर्य में डूबा नहीं रहता, बल्कि वह कभी कभी उसका ऊपर भी उठता है । मनुष्य का जीवन उस कर्म के समान है जो मिट्टी और जल में उत्पन्न होता है किन्तु फिर भी जल में डूबता नहीं बल्कि जल तथा लीपक दोनों से ऊपर उठ रहा है । इसी प्रकार मनुष्य का जीवन प्रेम और अनुपम है फिर भी वह इनमें डूबना न सिर नहीं डूबता । वह समाममम इनसे ऊपर भी उठ जाता है ।

बुद्धि इच्छाओं तक ही अनामभिन सीमित नहीं है । अनामभिन के कारण ही प्रेम में भी थोड़ी-बहुत पवित्रता आती है ।

उर्वशी

यह मैं क्या माता ली ।

सम्बाध—बाहु-वलय—बाहु-पाग । प्रतिमा—मूर्ति । तिमिर-वस्तु—अज्ञान स पूर्ण ।

अर्थ—यहागज पुरुषवा की ज्ञान मोमाभा को मुनकर उर्वशी कहती है कि आपके मुख स मैं ज्ञान और अज्ञान का मेह सुमकर आम्बय में डूब गई हूँ । मुझे ऐसा प्रतीत होता है जैसे मैं देवताओं क जग से जल कर फिर से किसी देवता क बाहु-पाग में आकर लस गई हू ; मैं तो संस्कार की अज्ञान का मूर्ति हू । जब तक तुम्हारा हृदय अज्ञान से भर्य हुआ रह्या तभी तक तुम पर मेरा आधिपत्य रहेगा । और जिस दिन तुम ज्ञान का दीपक जला सोय उस दिन तुम मुझ इसी प्रकार त्याग दाप जिस प्रकार अज्ञान में रात की गृहणा समाप्त हो जाती है ।

कहने का भाव यह है कि नारी के प्रति मनुष्य को आकर्षित तभी तक रहती है जब तक उसके मन पर अज्ञान का आवरण पड़ा रहता है। जब यह आवरण हट जाता है तो मनुष्य नारी को त्याग देता है।

बिगाव—उपमा प्रकाशः ।

यह विद्युत् मय सुत जाती है ?

शब्दार्थ—विद्युत् मय = बिजली के समान झिलझोर देने वाला। अज्ञान = अज्ञानता। निखिल = सब।

धर्म—हे महाराज ! तुम यह समझने लो कि नारी का स्वयं बिजली के समान झिलझोर देने वाला अज्ञान है जिसे पाकर शरीर (स्वभा) की नींव टूट जाती है और रोषों में रोष जब उठते हैं अर्थात् नारी में सिद्धरम तथा पुनः पुनः पया हो जाती है। आसिगत उस अज्ञान के समान है जिसमें बंध आने पर प्रकाश के महासागर में उतरने काते हैं और तुम यह भी कहोगे कि बुझन उस विभिर घूम के समान है जिससे अज्ञानता की जन-मन की समस्त प्रभियो पुनः जाती है।

यह भी कती प्रम समता है।

शब्दार्थ—मनुष्य पूर्ण पुनः = जीवन से भरी हुई बुद्धि। बहर्षी = शरीर नारी। पुनः के = रमणियों के।

धर्म—यह भी कती उलझन है कि बेबता गर्वों के सूक्ष्म भावों के चरे से निकल कर जीवन से भरी हुई बुद्धियों का बुझन नहीं ले सकते और इसके लिए वे सदा सतर्क रहते हैं। इसके विपरीत शरीर नारी मनुष्य रमणियों के आसिगत को छोड़कर सूक्ष्म भावों के आशय में उड़ जाने के लिए सतर्क रहते हैं। कहने का भाव यह है कि बेवों का प्रेम सूक्ष्म होता है और मनुष्य का स्मृत। वे स्वयं प्रेम के लिए सतर्क रहते हैं और मनुष्य स्मृत को छोड़कर सूक्ष्म के लिए प्रयत्न करते हैं। चाहे तुम यह मान लो कि अनासिक्त के हाथ भी प्रम में पबिजता जाती है किन्तु तुम में मानव-मनु की इस डिवा की अर्थात् बेबकद मुझे न जाने क्यों प्रम समता समा है ?

तन से सुनते हो ।

सम्बन्ध—विषय—दुःखी । पीयूष—धमूठ ।

धर्म—तुम धरीर से तो मुझे अपने दुःख घालियन में कष्ट हुए हो किन्तु मम से दुःखी होकर तुम न जाने मुझसे दूर होकर कहां चले जाते हो ? तुम पाँचों से पाँचों में प्रेम का धमूठ बरसा कर मुझ देगत हुए न जाने कहां जाकर लो जाते हो । कभी-कभी मुझ ऐसा धनुमन् होता है कि मैं तुमसे जो कुछ कही हूँ उसका धाम्य तुम्हारे लिए कुछ नहीं होता तुम केवल मेरे धर्मों को सुनते रहते हो ।

धर्म में प्रेम ध्याय कोई कविता हूँ ।

सम्बन्ध—ध्याय—ध्याय । धाम्योदन में—उबार भाटे में । उत्सुकन—खिमी हुई ।

धर्म—एक क्षण में तो तुम्हारा प्रेम उबार भाटे में समुद्र की तरह ध्याय हो जाता है धीर क्षण में ही उसमें खिली धिबिल धाँधि धा जाती है, जिसमें बलों के पक्ष तक भी नहीं हिलते । सभी तक तुम्हारी बृष्टि मुझे देखकर खिली खिली हुई धीर प्रसन्नता से धरी हुई होती है कि जैसे मेरा तुम्हारा धुन-धुनों के परिचय हो धीर धमी यह भाव तुम्हारे मन में धा जाता है जैसे मैं तुम्हारी गोब न पड़ी हुई कोई पुबती नापी नहीं बल्कि कोई प्राधना की कविता हूँ ।

विशेष—उपमा धर्मकार ।

धर्मित बहि—जीने देता हूँ ।

सम्बन्ध—धर्मित बहि—धाँध धाय । उबलन्त—जलते हुए ।

धर्म—देवताधर्मों की प्रेम की धाँध धाय तो ज्ञात है ही किन्तु मनुष्य के जलते हुए प्रेम पर न जाने किमका धर्मस लटक रहा है जो निर्बल रूप से उस जीवन का रम सफरक नहीं पीने देता धीर न देवताधर्मों के समान उसे कहने का भाव यह है कि प्रेम-जपन में मनुष्य की ध्या बड़ी ही विधिन है । वह न तो देवताधर्मों की धाँध धाय पर ही निर्भर रह सकता है धीर न सुमकर स्वस प्रन ही कर सकता है ।

## पुकरवा

कीन हूँ अक्षुप्त निरन्तर मापती हूँ ।

शब्दार्थ—दुपा = व्यास ।

धर्म—मनुष्य के प्रेम पर किसका संकल्प लगा हुआ है इसे तो मैं भी नहीं पहिचानता किन्तु इसका अर्थस्य जानता हूँ कि सरोवर के किनारे कंठ में एक प्रकार की व्यास—वेदना—पगी हुई है अर्थात् यह बड़ ही दुर्भाग्य का विषय है कि साधन होने पर भी साध्य सिद्ध नहीं हो रहा है । मैं जानता हूँ कि मनुष्य के जीवन में कोई ऐसी प्रायसमी हुई है जो न तो साध्य ही होती है और न खुसकर प्रायसी को खेतने ही देती है बल्कि कुसकर खेतने से वह निरन्तर बुर भावती रहती है ।

विशेष—विद्येपोलि घलकार ।

रूप का रसमय उद्भ्रान्त हूँगी ।

शब्दार्थ—रूप का = जीवन का । रसमय = मानवपूर्ण । बन्धि = धाय । उद्भ्रान्त हूँगी = भटकूँगी ।

धर्म—मेरी समझ में नहीं आता कि यह जीवन का मानवपूर्ण निर्मलक है अथवा मेरे ही जून की प्राय है जो मुझे छाति से नहीं जीने देती । वह हर समय मुझे कहती रहती है कि उठो और इस बन्धमा को हाथ से बर कर निकोड़ लो । बन्धमा का धमूत-मान कर लो तभी मैं धान्य हूँगी और कभी भी प्राय नहीं भटकूँगी ।

किन्तु रस के पात्र धालिपन नहीं हूँ ।

शब्दार्थ—अधर = होंठ । वेव = पीने का पदार्थ । रक्त = अरीर ।

धर्म—लेकिन क्योंकि मैं रस के पात्र को अपने होंठों से भगाता हूँ और बूट या जो बूट पीता हूँ तभी न जाने हृदय के किछ कोने से मुझे यह आवाज सुनाई देती है कि हे पुकरवा ! तू अभी तक भी नहीं समझ कि जो सौन्दर्य केवल दृष्टि का देव पदार्थ है अर्थात् जो केवल मिहारे के लिए है वह अरीर का मोहन—स्पर्श का विषय—नहीं है ; धालिपन करना सौन्दर्य की पूजा करना नहीं है । भाव यह है कि सौन्दर्य का उपयोग केवल धाकों से करना चाहिए अरीर-स्पर्श से नहीं ।

विशेष—वही भाव संशयों की इस वंक्ति में मिश्रित है—

'Beauty is to see not to touch.

दृष्ट गिरती है और क्या है ?

शब्दार्थ—अप्रतिम = धारण्य-वर्धित होकर । उद्दिग्ध—आकुसुमा से भरा हुआ । वृक्षा = प्रमत्त । विरन्तन = पुराणा ।

शब्द—इस शब्द को सुनकर मेरी छाती अर्धमें लपट हो जाती है और मेरी बाहुओं का पाग ढीला हो जाता है । फिर मैं आश्चर्य वर्धित होकर 'वही कुर्मम सागर में डूब जाता हूँ । मेरे मन में फिर से वही आकुसुमा से भरा हुआ विरन्तन धारण्य हो जाता है वही पुराणा प्रमत्त सामने धा जाता है—'वदि रूप की धाराधना का मार्ग आनिमन नहीं तो और क्या है ? रस-बुम्बल यदि प्रेम का सौन्दर्य के लिए उपहार नहीं तो वह और क्या है ? कहने का भाव यह है कि वदि प्रेम की चरम-परिचयि आनिमन नहीं है, धरिण का स्पृह्य प्रीम नहीं है तो और क्या है ?

रक्त की उत्पत्त 'पहचान नू ।

शब्दार्थ—रक्त = खून । उत्पत्त = वम । परिधि = सीमा । ध्योम = आकाश । रैस = रैवा ।

शब्द—खून की धर्म सहरों की सीमा के चार-प्रबाद् उद्येनमा के धरिधिरक्त यदि वही कोई सधि है तो मैं चाहता हूँ कि उसके भेद का पता लगा नू । सौन्दर्य की पूजा का भाव यदि आकाश में भी है तो मैं नहीं से ही उसकी मूनी रैवा को पहचानना चाहता हूँ । कहने का भाव यह है कि मैं यह जानना चाहता हूँ कि प्रेम की पूजा का क्या माग है । फिर यह माग चाहे बितना कठिन हो मैं धन्यत्त उसको प्राप्त करके रहना ।

पर वही तक धन्वर नहीं हूँ ।

शब्दार्थ—मूर्ति = मिट्टी मर्त्यसौव का प्राण्यी । महाकाय = विद्यास धारण्य ।

शब्द—लेकिन चाहे वही तक में उड़ू इस प्ररु का कि सौन्दर्य की धारण्यता का माग क्या है, कोई उत्तर नहीं है । मिट्टी—संसार का प्राणी—



याबिन विद्याल भाकाय में कब तक ठहर सकता है ? उसके लिए तो सब धूम्य ही धूम्य है और इस मत्पंतोक में भी तस्तोप नहीं होता, क्योंकि सांसारिक प्राणी के मन से संयमणु भी कल्पनाएँ उड़ानें कभी दूर नहीं होती ।

इस व्याप को सोद आता ।

प्रश्नाथ—निस्सीमता में = प्रसीमता में । विप्रात = भटका हुआ । भवस्य = काम ।

अन—याकाय को इस प्रसीमता में इस पीड़ा को सहन करता हुआ मैं बिकस और भटककर बूमता हूँ लेकिन कुछ भी प्राप्त नहीं होता । मेरे मन में जो प्रयत्न उत्पन्न होता है वह सब धोर से ममन के सुनेपन में घुबकर भी वापिस मेरे कानों में मौट पाता है ।

और इतने में स्वच्छन्द मिलते हैं ।

प्रश्नाथ—हरित = हृद्य । कंठकित = रोमांचित ।

अर्थ—और इतने में पृथ्वी का यह गीत सुनाई देता है कि पृथ्वी पर भी ऐसा सघार बसा हुआ है जहाँ पर फूल खिलते हैं । हमारे देखता की सीमा हरी-हरी बूब है और यहीं पर फूलों के बने कृष्ण मंदिर हैं जहाँ प्रकृति के शीतल हरे और एकान्त मंडप में रोमांचित सुबती और सुकक निर्बन्ध होकर आपस में मिलते हैं ।

इन कपोलों की इन्सी सी ?

शब्दार्थ—समाई = तासिमा । चंपक-यटि-सी = चम्पा की लता के समान । इत्य = शिबिस । पुष्पामरण = फूलों के गहने ।

अर्थ—पृथ्वी के बीच में मझे यह भी सुनाई पड़ता है कि इन कपोलों की सामी देखते हो ? इन मधुरी की सुन्द-ती बूहो की कली के समान हँसी देखते हो ? इस गोरी चम्पा की लता के समान फूलों के गहनों के मार से शिबिस हुईं तथा कसा के स्वप्न के साने में इन्सी हुई-सी सोने की पूति के समान इस बेह को देखते हो ?

विश्व—उपमा मल्लकार ।

यह तुम्हारी कल्पना नृन्धार कर जो ।

शब्दार्थ—रूपती = रूपवती । मबुमास = बहन्त म्बतु । कर्पूर = कपूर ।

कृद्म=केसर रोमी। कृद्म=इंद्र जी।

धर्म—पृथ्वी के गीत में मुझ यह सुनाई पड़ता है कि जैसे मरे लिए सम्बोधित करके कहा जा रहा है कि यह तुम्हारी कल्पना है। अपनी कल्पना को छोड़ो नहीं बल्कि प्यार व समाप्त कर रक्तो। रूपवती नारी इस सृष्टि का सबसे मनोहर चित्र है। जो प्राकाश न बिखराने करन काम ! यहाँ पृथ्वी पर बसन्त ऋतु की छाया है। इसलिये महुराकाश की कल्पना छाड़कर मूमि पर उठते धीर कमल कपूर केसर तथा इन्द्रजी व इस ध्यार सौन्दर्य का श्रृंगार कर सो।

गीत धाता है पढ़ते लक्ष्मा में।

शब्दाव—परिह=मादक। उन्मास=हर्ष। उद्यमित=यौवन की सहर्षों व मरे हुए। स्वयंबर्गा=सोने क समान रंगनाथी। बलसरी=सदा। लक्ष्मा =काम यहाँ शरीर से तात्पर्य है।

धर्म—मुझ यह मान नहीं होता कि यह गीत पृथ्वी से फूटता है या मेरे ही मून का गीत प्राकाश में मूजने लयता है। इस गीत के मुनव ही हृदय में बुलबुलों क समान मधुर स्मृतियां फूटने लयती हैं। मादक रूप में पूना हुआ बन यात्र धा जाता है। धग के रोमांच और रूपन याद धान सगठे हैं और साने क समान रंग बानी सदा में फूस की भाति खिसने हुए मुक्त का स्मरण हो धाता है तथा रात्रि की गहनता में उन्माद का मुण यात्र धाने लयता है। तब कामनाएँ प्राणों को भिन्नभेदने सगठी हैं और शरीर में बुम्बनों के बिन्दु उमर धाते हैं।

धिर किसी का यात्र में।

शब्दार्थ—दूण=पास। पिपासित=प्यासा। अकृटित=निर्बाध।

धर्म—इस प्रकार की घटनाओं की याद यात्र ही मेरे मन की पास धिर किसी का स्पर्श पाने के लिये बीत्कार कर उठती है। लेकिन मैं कहीं भी तो नहीं रुक पाया और शून्य से साधारण धामा के भुवन में प्यासा ही लौट धाता हूँ। युद्ध से भाग्य हुए बहना से बिल्लम उस युद्ध की भाति जो कहीं भी नहीं रुकता बल्कि निर्बाध गति से बर्धन होकर सीधा शीर की भाति धरती प्रिया की मोर में जा गिरता है।

विशेष—उपमा समकार ।

धूमता हूँ दूब जाता हूँ ।

शब्दार्थ—प्रसूनो को = फूलों को । पल्लवों को = पत्तों को । बस्मरी = बस । निस्वभता = सामोसी ।

अर्थ—तब मैं भावबोध में आकर दूब को बस को फूलों को पत्तों को धूमता हूँ धीर बला को बाह में भर कर हृदय से सपाता हूँ । फिर बासकों की तरह तुम्हारे बस में उपमा मुह छिपाकर मैं नींद की सामोसी में दूब जाता हूँ ।

नींद बल का बलमा पड़ा हो ।

शब्दार्थ—स्रोत = झरना । ध्यामल = कामा । बतिका-सी = बत्ती के समान ।

अर्थ—नींद पानी का झरना पहेरी छाया काना मैब धीर सीतल बदन के समान है । लेकिन जब मैं जग जाता हूँ तो बेलता हूँ कि मेरी इच्छाएँ बत्ती के समान जल रही हैं धीर वे सभी सी प्यास से ब्याकुल होकर उची प्रकार जल रही हैं जैसे पहले भी वे प्यास से ब्याकुल थीं । ऐसा प्रतीत होता है कि मानो जम्हें रात भर बीपक के समान जलना पड़ा हो या नींद में जम्हें किसी मन्त्रबोध में जलना पड़ा हो ।

विशेष—उत्प्रेक्ष उपमा धीर उत्प्रेक्षा समकार ।

फिर कुबिल दूब जाती हूँ ।

शब्दार्थ—कुबिल = घुसा ।

अर्थ—फिर कोई भूवा प्रतिधि (मन से तात्पर्य है) भावाव देता है अर्थात् मन में उत्तेजना धा जाती है धीर फिर बुम्बल क लिए धक्कर धक्कर को खोजने लगते हैं । फिर कामना धीर को धूकर जागृत कर देती है धीर कून में छोमे के सेकड़ों साथ रंगने लगते हैं । तब जेतमा रस की महूर में दूब जाती है ।

धीर तब सधुता सवीत वृत्ता हूँ ।

शब्दार्थ—भुव = बाह । धपलक = निर्निमेप वृष्टि से । बद्बम = उत्पत्ति का स्थान । शीचियों से = लहरों से ।

बच—है उभेयी । घोर तब न जाने कि सहसा मेरा ध्यान कहीं पर पड़ जाता है । यह सत्य है कि उस समय मुझे यह ध्यान नहीं रहता कि तुम कविता हो, कामिनी हो या कुसुम हो । मैं तुम्हें धारती की स्मृति के समान अपनी भूजाओं में सपेट कर एकदम मन से तथा निनिमेष दृष्टि से देखता रहता हूँ और तुम्हारे अगम्य रूप की उत्पत्ति के स्थान के विषय में सोच विचार करता हूँ । तुम्हारे सोंसों में सुगन्धि, रूप में समीप भरा हुआ है । तुम्हारी सोंसों में निकली हुई बहुर की भीनी सुगन्धि से मैं अपने प्राणों को सींचता हूँ और प्रानों की शोभा की सहर्ष से एकदम होकर तुम्हारे रंग का समीप सुना करता हूँ ।

घोर फिर यह बहुला रही है ?

शब्दार्थ—धारती = धारण । प्रक = मोद ।

अर्थ—तुम्हारे रूप रंग में स्वर्ग को भुलाकर मैं फिर यह सोचने लगता हूँ कि न जाने इस समय मैं किस लोक में हूँ । यह सचन इरियातियों का बन कौन है जिसमें मूमल हुए फूल तथा लक्ष्मी हुई बालियाँ हैं ? यह देस कौन है जिसकी स्वामिनी मुझे निरन्तर धारण की भाँति से गहलाती है; धर्मात् मुझे सर्वत्र मन्मथता बनाये रखती है ? यह अवल कौन है जिसमें अपनी पीठ में आत्माकुम्भी को समेट कर चाँदनी चुपकार बहुला रही है ?

कौमुदी के इस क्या है ?

शब्दार्थ—कौमुदी = चाँदनी । उद्गीम = उद्गम । प्रमथन = पुण्यन । उद्गम = प्रवस । संवस = सहारा ।

अर्थ—जब मैं चाँदनी के इस सुमहले नाम का वस तोलता हूँ तो मुझे इसके प्रति ऐसा आकर्षण होता है कि मैं एक पल के लिए इसमें उद्गम भरने के लिये अपने पलों का बोल सता हूँ । लेकिन उद्गम इस प्रकार के रस धानोच में बाधक होता है इसलिए मैं उसकी बाधा के कारण उड़ नहीं पाता और नीटकर फूल की गाँव में फिर पड़ता हूँ । जिसमें का दाम लोके से नहीं टूटता और फूलों की जो सड़ी बंध जाती है वह फिर लोके से नहीं सुसा करती । कामनामो के भोके मरी यह रोके रहे हैं और प्यस (काम-प्यास)

मेरी बांह पकड़ कर मुझे पीछे की ओर खींच लेती है। छापर की तरह से प्रबल मेरा बस भी नहीं है। जिस क्षण का जय जयकार हर जगह बुलवा रहा है उस घटक क्षण का सहारा कहां है ?

यह घिसा-सा बसाता हूं।

शब्दार्थ—बध=छापी। प्रासोक=ज्योति प्रकाश। समुन्नत=उभरा हुआ। व्यास=घर्ष। मारुत=पवन। सूर्य=विजय-शक्त। पात्रक=घाग। स्यन्दन=रथ।

घर्ष—मेरी छापी घिसा के समान कठोर है, मेरी भूबाएं चट्टान के समान हैं। मेरा उभरा हुआ मांस सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होता है। मेरे प्राणों का छापर प्रबल उत्तम और निरन्तर छसकने वाला है। मेरे सामने सिंह नहीं डहकते। मेरे भय से पर्वत हिलने लगते हैं। काम रूपी घर्ष कृद्धी मारकर आपने सपना है। मेरी भूबाओं में पवन गरुड़ और पञ्चराज का बस है।

मैं मर्त्यलोक के निवासी मानव की विजय का सप्तगात्र हू। हे उर्वशी ! मैं अपने समय का सूर्य हूँ। मैं अन्धकार के मस्तक पर धमिल बसाता हूँ और बादलों के सिधों पर रथ बसाता हूँ।

कहने का भाव यह है कि मुझमें अपार शक्ति है।

पर न जाने मुस्कान से।

शब्दार्थ—मानुष=मनुष्य। फूस=मारी-सौम्य। बंकिम=तिरछे।

घर्ष—सैफिन मेरी समझ में यह नहीं आता कि यह क्या बात है कि जो पुरुष (मैं) इन्द्र के सस्य के कठिन प्रहार को भेस सकता है सिंह से बाहें घिसा कर खेल सकता है वही मारी-सौम्य के भागे असहाय हो जाता है। और अपार शक्ति के रहते हुए भी निरपाम हो जाता है। वह तिरछे नयनों के बाणों से घासामी से विजय जाता है और स्ववती मारी उसे अपनी मुस्कान से पीठ सेती है।

मैं तुम्हारे बाव बाहता हू।

शब्दार्थ—बन=पत्नी। सर=ठासाव।

धर्म—मैं तुम्हारे हाथ के हाथ बिना हुआ पत्नी हूँ इसलिए तुम्हारे ही  
 बल पर प्रपना खीस रखकर मरता चाहता हूँ। मैं तुम्हारे हाथ का नीसा  
 कमल हूँ इसलिए मेरी इच्छा है कि मैं तुम्हारे प्राणों के सामान में उतर  
 जाऊँ।

कौन कहता है 'पाते हूँ।

शब्दार्थ—बलय=पाप। पाप=घरीर। तल्प=संघा।

धर्म—यह सब मूठ है कि मैं तुम्हें छोड़कर धाकाघ में विकरल कह पा।  
 नास्तिकता तो यह है कि तुम्हारी मुनामों के इस पाप में केवल मेरी देह ही  
 नहीं छोटी बल्कि मेरे व्यय और व्याप्त प्राणों को भी यहाँ विधाम  
 विनता है।

मर्य नर को पार हूँ।

धर्मार्थ—मर्य=नस्वर। मृपा=मूठ। मृणियां=सपटें। धून=  
 धाम। धनत=धाम।

धर्म—नस्वर मनुष्य को देवता कहना मूठ है क्योंकि देवता तो पीतल  
 होते हैं, जबकि मनुष्य पहकते हुए धंगारे के समान होता है। देवताओं की  
 मही में ताप की सहरे नहीं उठा करती जबकि मनुष्य के जूम में ज्वालामुखी  
 मुतया करवा है, बिनागारियों की सपटें माफा करती हैं। हवा में पत्तों के  
 धाय के टुकड़े नाच-नाचकर उड़ा कर्ये हैं। धायमियों का मन धाय की बार  
 के समान होता है जो पतता और विनतता रहता है।

आहिए देवत्व उतर नहीं ह।

धर्मार्थ—विसजित करना=छोड़ना। ध्योम=धाकाघ।

धर्म—यह सब है कि मैं भी देवत्व चाहता हूँ किन्तु मुझमें जो मामक  
 सुप्त प्राण है उसे कहां पर रख हूँ। कामनाओं को बिच धाकाघ में त्पाय  
 कर रख हूँ। बताओ तो सही कि धाय का यह रच-कोप मुझसे कौन पहल  
 देना और कौन मेरी धाय के बबले मुझे सम्जोप देगा? मेरे इन प्रश्नों को  
 जकर दिघार्प फिर से मीन हो गई हैं और फिर उनके पास इन प्रश्नों का  
 कोई उत्तर नहीं है।

प्राण को बलते रहो ।

शब्दार्थ—बहिः=बाह्य ।

अर्थ—प्राण की इस चिर-संविनी धारा को साव नकर भूमि से बाकाय तक बलते रहो । इस मार्गलोक के प्राणी का यह कंठा दुर्भाग्य है कि जब तक इसे प्रेम की धारा नहीं मिलती तब तक वह अपनी ही धारा में जमता रहता है । कहने का ताव यह है कि मनुष्य को जब तक मनबाह्य प्रेम नहीं मिलता तब तक वह धारण्य वेदना से छटपटाता रहता है ।

एक हो जाता तुम्हारी बहिः है ।

शब्दार्थ—सखस=जब से मरी हुई । कारन्विनी=मेघमाला । शीव=श्रीवा नर्तक ।

अर्थ—श्रीवाणी से मरी हुई मेघमाला ! इस मरुस्थल की तपन में केवल एक ही धारा है और वह मेरे सिर पर तुम्हारी छाया है । भवति इस शीतल के बुझों से झूटकारा पाने के लिए तुम्हारे सहारे के अतिरिक्त मरी और कोई धारा नहीं है । केवल एक ही स्थान पर मुझे मुझ मिलता है और वह स्थान है तुम्हारे सर-स्वल्प से सपना घमका अपनी यर्जन के नीचे तुम्हारी बाह का होना ।

इस प्रकृतित गाना चाहता हूँ ।

शब्दार्थ—प्रकृतित=खिसे हुए, प्रसन्न । घासवट=प्रमर ।

अर्थ—हे उर्बाँ ! अपने पुनों के समान खिसे हुए प्राणों में तुम मुझे प्रमर धरण हो क्योंकि मैं गन्ध के लोक से बाहर जाना नहीं चाहता । मैं चाहता हूँ कि तुम्हारे रक्त के कणों में समा जाऊँ और शान्ता के शीत गाऊँ ।

उर्बाँ

स्वर्बाँ तप ही स्वयंन तेरा ।

शब्दार्थ—उर्बाँ=सहारे । सर=प्रसर प्रबल । ताप=दर्मी । परिताप=दुःख । चटल=जबल । काठर=दुःखी । वीरवानर=धमि । स्वयंन=रथ ।

धर्म—उपेक्षा महाराज पुकरवा को सम्बोधित करते हुए कहती है कि निश्चित रूप से वह स्वर्गोत्पी सत्य है जिसमें महरे नहीं होती और प्रखर नहीं होती । नहीं यथार्थ रूप में देवता है जिसके मन में कामना इन्द्र और पुत्र नहीं होते । हे परमन के बचल देव ! तू क्यों इतना दुःखी हो रहा है । तू अभी तक पुरुष है जब तक तेरे भीतर प्रेम की भाव नम रही है ।

जब तक यह भाव धैर्य है तभी तक त्रिभुवन तेरा सखा है और तभी तक तेरा रथ पृथ्वी को छोड़कर बादलों के ऊपर चलता है ।

जब तक यह 'बुभुवन पारि की ।

धर्मार्थ—समाहर = धार । अरभ्यानी = बन । प्राप्नु = अर्था ।

धर्म—हे मनुष्य ! जब तक तेरे जीवन में प्रेम की भाव धैर्य है तभी तक धार जलका सागर करता है और धरना समस्त मणि और रत्नों का पत्राणा उसे समर्पित करता है । तभी तक धर उसका मार्ग नहीं रोक्ते तथा बन अपने बीच में उसके लिए रास्ता छोड़ देते हैं । तभी तक सामने लड़े हुए धर्मिकारी तथा ऊँचे पर्वत उसे गिर झुकाते हैं । तब तक ही इन्द्र भी सावधान होकर उसे धरना के लिए तैयार रहते हैं और तभी तक उसके पक्षों का बुभुवन प्राप्त करने के लिए स्वर्ग से उसके पास अन्वयण घाती है ।

जब तक यह ' गिर जाती है ।

शब्दार्थ—इन्द्र = संघर्ष । पुस्त प्रमूर्त्तों के = सिते हुए पुरुषों के । देवालय = मंदिर धरना स्वर्गलोक ।

धर्म—हे मनुष्य ! जब तक तेरे मन में प्रेम की भाव धैर्य है तभी तक तेरे मन में संघर्ष के भाव उठते हैं । तभी तक बायी-बायी से पृथ्वी और आकाश—भुलोक तथा स्वर्गलोक—सुन्दर दिखाई देते हैं । सिते हुए पुरुषों के मन में तभी तक मरभट की भाव घाती है सुने मरभट का देखकर तभी तक मन में जमेसी और बूझी की कल्पना साकार हो उठती है । देवालय में तभी तक तुझे स्वर्ग की याद आती है और तभी तक धर्ममन्त्र में देवता की कृति मन में बसती है ।



प्राण की बसते रहो ।

अर्थ—बगिह=प्राण ।

अर्थ—प्राण की इस बिर-समिनी धाग को साथ लेकर सूमि से धाकाध तक बसते रहो । इस मर्त्यलोक के प्राणी का यह कैसा दुर्भाग्य है कि जब तक उस प्रेम की धाग नहीं मिसती तब तक वह अपनी ही धाग में जमता रहता है । कहने का भाव यह है कि मनुष्य को जब तक मनचाहा प्रेम नहीं मिसता तब तक वह अस्थान बेबता से छटपटाता रहता है ।

एक ही धागा तुम्हारी बाँह है ।

अर्थ—सबस=जल से भरी हुई । काश्मिनी=मेघमासा । धीब=पीबा गर्जन ।

अर्थ—धो पानी से भरी हुई मेघमासा । इस महस्थान की तपन में केवल एक ही धागा है और वह मेरे तिर पर तुम्हारी छाया है अर्थात् इस जीवन के दुःखों से कूटकारा पाने के लिए तुम्हारे सहारे के प्रतिरिक्त मेरी और कोई धागा नहीं है । केवल एक ही स्थान पर मुझे सुख मिसता है और वह स्थान है तुम्हारे उर-स्थान से जगना सबबा अपनी गर्जन के नीचे तुम्हारी बाँह का होता ।

इन प्रफुल्लित धागा चाहता हूँ ।

अर्थ—प्रफुल्लित=खिले हुए, प्रसन्न । धास्वठ=धमर ।

अर्थ—हे उर्बची ! अपने फूलों के समान खिले हुए प्राणों में तुम धुन्डे धमर धरण हो क्योंकि मैं गन्ध के लोक से बाहर जाना नहीं चाहता । मैं चाहता हूँ कि तुम्हारे रक्त के कणों में समा जाऊँ और प्रार्थना के बीच बाँडूँ ।

उबची

स्वर्षदी सत्य ही स्पन्दन तैरा ।

अर्थ—उमिना=सहूरें । धर=प्रसर प्रवध । ताप=यमी । परिताप=दुःख । बटुन=बचन । काठर=दुःखी । वैस्वातर=धनि । ध्यग्जन=रथ ।

धय—उर्बची महाराज पुस्करवा को सम्बोधित करते हुए कहती है कि निश्चित रूप से वह स्वर्णदी सत्य है जिसमें नहरें नहीं होतीं और प्रकर यमी नहीं होती। नही यथाथ नय में देवता है जिसके मन में कामना इन्द्र और बुद्ध नहीं हाथ। हे जीवन के बचस बैम ! तू क्यों इतना दुःखी हो रहा है। तू अभी तक पुत्र है जब तक तेरे भीतर प्रेम की भाग जस रही है।

जब तक यह धाय घोष है तभी तक त्रिभुवन तेरा सना है और तभी तक तेरा गब पुष्पी को छाड़कर बादलों के ऊपर बसता है।

जब तक यह बुद्धन जाने को।

शब्दार्थ—समाहर=घाहर। अरण्याती=वन। प्रांगु=ऊँचा।

धय—हे मनुष्य ! जब तक तेरे जीवन में प्रेम की धाय धाय है तभी तक सागर उठना घाहर करता है और अपना समस्त मणि और रत्नों का खजाना उसे समर्पित करता है। तभी तक घर उमका मार्ग नहीं गोकुल तथा वन धवन बीच में उसके लिए रास्ता छोड़ देता है। तभी तक सामने लड़े हुए अधिकारी तथा ऊँचे पर्वत उठे मित्र मूढात है। जब तक ही इन्द्र भी सावधान होकर उसे धयनाने के लिए तैयार रहते हैं और तभी तक उसके धरों का बुद्धन प्राप्त करने के लिए स्वयं से उमक पाव धयराए धायी है।

जब तक यह धिर जाती है।

शब्दार्थ—इन्द्र=संपर्ष। पुष्प प्रपूर्वों के=विष्व हृष्ट पूर्णों के। देवा मय=मंदिर धयबा स्वर्गभोक्त।

धय—हे मनुष्य ! जब तक तेरे मन में प्रेम की धाय घोष है तभी तक तेरे मन में संपर्ष के माव उठते हैं। तभी तक बारी-बारी से पुष्पी और धाकास—धूलोक तथा स्वर्गभोक्त—गुम्हर दिनाई बत है। जिनके हृष्ट पूर्णों के वन में तभी तक मरबट की दाव धायी है मून मग्धन का देवकर गुनो तक मन में जयमी और जूही की कल्पना साकार हो उठती है। देवामय में तभी तक तुझे सेवा की माव जाती है और तभी तक धयनकल में दवता की मूर्ति मन में बसती है।

किन्विय के मत 'बीने प्रायी ।

अर्थ—किन्विय=पाप । मस=कसक । सुभ्र=पवित्र । प्रमम=  
भाग का प्रवाह । शोणित=पूत । प्रगुर=हस्ता ।

अर्थ—यह प्रेम की धिक्का केवल पवित्र प्राय है इसमें ठिक भी का कसक नहीं । यही प्राय मुझे प्रति दाख जसाकर धीर प्रथिक उज्ज्वल प्रा रही है । इस प्राय का प्रकर प्रवाह जितना अधिक मेरे कृत में उर है, उतना ही अधिक मेरा हस्ता योवन दीप्त होकर असता है । मैं इसी वेदना की सिहरन को प्राप्त करने के लिए तथा मनुमयी गम्भीर पीने के निर्जीव स्वर्गलोक को छोड़कर इस भूमि पर इसी प्राय को लिए बीने के प्राई हूँ ।

इस प्राय' कहाँ पाये ?

अर्थ—भूति का प्रमम=मर्त्यलोक की प्रेम की प्राय । दीप्ति=ग्या

अर्थ—उभरी महाराज पुरुरवा को समझती हुई कहती है कि महाराज ! तुम यह चाहते हो कि मर्त्यलोक की प्रेम की प्राय मुझ प्राये प्रात का तथा स्वर्गलोक का तुमको ध्यान नहीं करना चाहिए । यही तो तुम्हें प्रकाश से भरती है, इसलिये तुम्हें इस प्राय का प्रपमान नहीं करना चाहिए । तुम इस प्राय के स्वरूप को नहीं समझ सक हो । इस प्रेम प्राय में जिस वस्तु का प्रमम होता है वह देवता तो क्या इन्द्र के प्राय में भी कभी प्राप्त नहीं होती । इस प्रेम के कारण मेरे मन में जो विमल स्वप्रता विह्वलता तथा हर्ष के विविध प्राय प्रा रहे हैं वे देवताओं मनुमरियों का कभी नहीं मिल सकते । स्वर्गलोक में रहने वाली प्रप्राय प्रा हुए कृत का मपुर स्पर्श प्रा भी कहाँ सकते हैं ?

वे रक्तधौन' करने प्राता ।

अर्थ—रक्त-हीन=पूत से रहित । अर्वात् निर्जीव से । भुक्ति=पवि । प्रममपुर=स्वर्गलोक । मोहित=मात कृत से मरे । कर्षण=कामके समित=सुन्दर ।

अर्थ—देवताओं धीर मनुमर्यों की पारस्परिक तुलना करती हुई महाराज पुरुरवा से कहती है कि हे महाराज ! देवता निर्जीव-से पवि

नम्य स्वर्ग के लून सीतल तथा सुन्दर धरत्य होते हैं किन्तु उनके स्वल्प मोहित सतप्य और प्रसर होते हैं यत उन्हें इस किस प्रकार काम का दास दें। इसके विपरीत, मनुष्यों में एक ही साथ सीतलता और धाम होती है। वे मन्दिर में सामक प्रती होते हैं तो पुष्पवन में सुन्दर कामदेव के समान होते हैं। वे योगी हैं जो धरत्य विगम्य तथा धरूप ब्रह्म की साधारणता से बाने होते हैं। वे स्वसम्पत् योगी तमकर रमणी के मुख पर धपोरता से चूमन प्रकृत करने बाने भी होते हैं।

कहने का भाव यह है कि मनुष्य देवताओं से प्रेम-अगाध में प्रत्यधिक पेटे होते हैं। देवता केवल सीतलता के प्रतीक हैं जबकि मनुष्यों में धम तथा विषम सभी प्रकार के मुख उपसम्पत् होते हैं।

धम की प्रसीमता सर-प्रसर भी है।

अव्याप—निबद्ध—बंधे हुए। रसस्विनी—प्रेम नारी। धमूतर्नदन—धमूत के समान धानद देने बाना। अल धनक—पानी और धाम। मृति महबम्बर—मिट्टी और विद्याल प्राकाश। सर-धसर—नरवर तथा धमर।

धर्म—मनुष्य के मन की प्रसीमता में नमन पिड मुह और विद्या तथा प्राकाश र्वक हुए हैं। तन में प्रेम की नारी की धारा बहती है जिसमें मिट्टी की सुन्दर और खोबी सुगंधि बसी हुई है। मानव मानव ही नहीं बल्कि धानद देने बाना यह एक धमर सेव भी है। यह एक ही साथ धानी धाम, मिट्टी और विद्याल प्राकाश तथा नरवर और धमर भी है।

तु मनुज नहीं जो जाई।

अव्याप—कति—सीमा। बिटपों के—बूटों के। महीम—पर्वत।

धर्म—तु मनुष्य नहीं देवता है इसलिये धरती सीमा से मुझे बंध मोहित कर न (क्योंकि देवता मनुष्यों से ही मोहित करते हैं) फिर मनुष्य क्व धारण करके और मुझे उठाकर धरती जाड़े धालिषम में धर से। तुम्हारी मूजा रूपी दो बूटों के बीच डूबकर मैं छोटी-सी बेस के समान सो जाऊँ और छोटी सहर के समान टूटकर तुम्हारी हृदय के पर्वत में जो जाऊँ।

कहने का भाव यह है कि मैं तुम्हारे बाहु-पाश में बँधकर अपने को भूल जाऊँ।

बिघोष—अपवृत्ति और उतना समझार।

आ मेरे प्यारे सुधा पिनाऊँबी।

अर्थार्थ—सुपित=प्यासा। आन्त=बका हुआ। अन्त-हर=मन रूपी ताजाब। मयिअत करके=स्नान करके।

अर्थ—उर्बरी उतना पुकरवा को सम्बोधित करते हुए कहती है कि हे मेरे प्रेम-प्यास से प्यासे शिथिल। तुम बके हुए हो इसलिए मैं तुम्हें अपने मन रूपी ताजाब में स्नान करके और चांदनी तथा फूलों से सजा करके तुम्हारे मन की परी (बुल) को दूर कर दूँगी। मैं पानी से भरी हुई बहली बनकर तुम्हें चारों ओर से बर कर तुम पर छा जाऊँगी और फूलों की छाया के नीचे अपने होठों का समूह तुम्हें पिनाऊँगी।

कहने का भाव यह है कि मैं तुम्हारे सभी दुःखों का निवारण कर दूँगी।

पुकरवा

तुम मेरे बहुरंसे उक्तिमें से भी।

अर्थार्थ—मणि-कृष्टि=मणि से काटी गबवा पीसी गई। सुति=छोमा। मयिमा-सहर=हाथ भागों की सहर। किमकिचित=संयोग शृंगार का एक भाव जिसमें नायिका एक बार में कई भाव प्रकट करती है।

अर्थ—उतना पुकरवा उर्बरी को संबोधित करते हुए कहते हैं कि हे उर्बरी। तुम मेरे बहुरंसे स्वप्नों की मणि से पीसी गई मूर्ति हो। तुम केवल अपने तन की अत्यधिक सीमा से ही मेरे मन को नहीं हारती हो बल्कि पति (वास) में हाथ भागों की सहर से, अपने मधुर स्वर से, अनेक प्रकार के भागों से गूढ़ बर्धन-चित्तन से भरी हुई उक्तिमें से भी मुझे अपनी ओर खींचती हो।

कहने का भाव यह है कि तुम केवल शरीर से ही सुन्दर नहीं हो, बल्कि कामशास्त्र और दर्शनशास्त्र में भी पारंगत हो।

किन्तु धनस की छा जाती ह ।

व्याख्यान—प्रवास=नव पत्नव । पानस=कमस । आसुयी शक्ति= काम-वासना ।

धर्म—किन्तु धरे मन में प्रेम की जो भाग दहक रही है उसकी बचक को तुम्हारे धरीर का धौम्बस धाल नहीं कर सकता । उस लो केवल तुम्हारे से होना मेव ही धाल कर सकते हैं जिनके सुइ धसीम तीस धाकाध में प्रवेम करते ही—धर्मन् जिनमें आकते ही—मन के सार विषा इइ विन्ता धीर धय धादि बुन्द माध मिट जाते हैं । या नव पत्नव क समान धनकत हुए तुम्हारे से धपर दूर कर सकत हैं जिनका बुम्बल मन ही जारी धकान मिट जाती है धीर प्राग के कमस विस उठत हैं तथा उन में फिर से धपर काम-वासना उमड़ पड़ती है ।



किन्तु हाप री से जाती ह ।

व्याख्यान—बहि=भाग । धविषिधन्=धट्ट । कपूरित=कपूर ध मरा हुआ । निमूत=धकेसा । निषय=स्याम ।

धव—किन्तु मनुष्य के धरीर में बीड़ती हुई धाप की लहर जिते लून बहते हैं धीर मनुष्य के मन की धट्ट बेरना इन दोनों को ही विषकार है क्योंकि इनके कनूर स भरे हुए पामल बना देने वाले सुम्बर धीर रंपीन हुए में न जाने मनुष्य को कितनी पुष्यशुबी रमणियों की याव होती है । इस स्मृति के कारण भावकता को ध्याकृत बना देने वाली अंम्य के कारण मनुष्य विकर्तव्य-विभुइ हो जाता है । वह चाह जितना धाव, उस कोई रास्ता नहीं सुझता है । यदि कभी मनुष्य कुछ बेर के लिए किसी एकल स्याम में आकर छिप भी जाता है तो धरीर की धही भाग उसे फिर से लीच कर मनुष्य में—धम के लोक में—न जाती है ।

धप्रतिहत यह धनस मरा करता है ।

व्याख्यान—धप्रतिहत=निर्धाम लगाठार । बाहवता=उप्यता । बुणि-धक=बवडर । अंम्य=दुम्बल । बीर्य-विबीर्य=बीर्ये रहने हैं । ठिमिर=मन्त्रकणर । सुम्ब=ध्याकृत । स्याकन-धय=शक्ति का धकना विनाध का

यह (तकमयी बुद्धि) अपने मध्य पर घबसकर होने वाले पथिकों को प्रवर्धना द्वारा ऐसे स्थान पर बाकर छोड़ देती है जिसका कोई प्रतिस्तर ही नहीं होता है।

धर्म—भाव यह है कि बुद्धि तर्क का विषय है। कल्पना इसका सूत्र है। ठोस परातत को छोड़कर बुद्धि कभी प्रत्यक्ष अपने कल्पना के लोक में बिचरसु करने के लिए निकल जाती है। कल्पना की रंगीनियों में वह अपनी बेसुम हं जाती है कि मनुष्य को दिग्भ्रमित करके उसे उसके मध्य कभी मन्धिर मटका देती है।

प्रसकार—रूपक।



पर शोणित रहा है।

शाब्दार्थ—समिप्रेत = सचित इमित। प्रसून = फूल। योजनात्सुख = योजन से महमस्त। विकारा-व्यग्र = व्याकुल और उत्सुक। मधुकर = (प्रेमी) श्रेय। रस-धामंभलु = प्रेम कपी रस के भोग का निमगण।

धर्म—तन्मि यह रक्त (हृदय का भाव) जिस क्षेत्र म भी अपने तरण रकता है उस क्षेत्र (विद्या) में वह निरचय ही (ऐसा लगता है जैसे) कोई और म स युक्त वासन्ती योजन म विमो पुण्य व्याकुल मन्धरे को रस-याग करने का धामंभलु दे रहा हो।

शाब्दार्थ—भाव यह है कि मनुष्य भावना का धारण लेकर जिस किसी भी कलाकृति (वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, समीत-कला तथा काव्य कला) की रचना करता है उसमें अपने धारणको जोल देता है। परिणाम स्वरूप उस समीत कृति पर ममकर कपी प्रमी मंडगने लगते हैं क्योंकि उनकी कृति में एक संजीवनी होती है। एक समीत धात्वा प्रतिबिम्बित होती है। उससे भावपित होकर माधुक सतमं डूब जाता है।

प्रसकार—शम्भोभित उदाहरण।

या वातकसज्जा रही है।

शाब्दार्थ—वासकसज्जा = बरनों (धामुपलु) स सज्जित रमली। बाह्यी = देवती। संकेत-रचन = प्रेमी-पुपल के मिलने का स्थान धर्मात् भावना का

प्रतिप्रेत स्वयम् । पद्यरामयण्य मूपुर = एक विषय प्रकार की मण्डि से निर्मित  
पामयेव । समुत्सुक = उत्सुक होकर ।

धर्म—यमवा सोलह शृंगार किए हुए कोई नायिका (भावना) पुष्पों से  
निर्मित बाटिका में (हृदय के सहज भाव) किसी की (मन) राह बाह रही  
है । (उसका प्रियतम कहीं प्रतिप्रेत समय न भूल जाय) इसलिये संकेत-स्वयम्  
(सवय) को सूचित करने के लिए पद्यरामयण्य की पायजेव (प्रेम का संवेद्य)  
बना रही है (जिससे प्रेमी कहीं बुद्धि के तर्कनाश न न कस जाय) ।

भाषार्थ—नायक यह है कि कवि की भावना कला का आचरण पहन कर  
प्रेम रूपी पद्यरामयण्य की पायज बजाकर भावुक प्रेमी को अपनी घोर  
मार्कावत करती रहती है जिससे यह बुद्धि के तर्कनाश में फँसकर कहीं  
भावना की स्वयम्भवी बस्ती को छोड़ न बैठ ।

अलंकार—सन्देह ।

या कोई सजाकर ।

शब्दार्थ—उपमा = उपाय से मरी हुई । मितिव = मितन-स्वयम् ।  
विभुम् = मूढा । अरणाई = लाली । निद्राकलप = उरोज ।

धर्म—यमवा कोई रूपसी (जो प्रेम घोर प्रिय के मितन से उत्पन्न सजा  
के कारण) मूढि के समय सातिमामय हुई अपने चन्द्र के समय मुखमण्डल  
तथा नेत्र कराने वाले अपने उरोजों को उजियत करके मितन-स्वयम् पर  
प्रणय-सेव सजाकर, उपमन-सी होकर निजियेव बुद्धि से अपने प्रियतम की  
प्रतीक्षा कर रही है ।

अलंकार—उपमा तथा प्रणोक्ति एक सन्देह ।

धृति-पुट लकती है ।

शब्दार्थ—धृतेपुट = काम के परदे । उत्पन्न = वन । रचना = जिह्वा ।  
परीक्षित निद्रा = अधिपारी रात अभावम् । निद्रुक = बहरे ।

प्रसंग—कवि बिनकर तर्कमयी बुद्धि तथा भावमय हृदय में स्पष्ट अन्तर  
रचोता हुआ कहता है—

धर्म—(प्रेमी यमवा प्रेयसी के) कानों के पदों पर (भाषासक्त)



नर्म-नर्म श्वासों का स्पर्श (स्वमयी) होठों का चिह्न द्वारा बुदबुदाता रात्रि के एकाग्र एवं बहुत समस्त में युवस-व्यपति का परस्पर प्रेम में बिभोर होकर एक-दूसरे की कोमल रचना पर उपलियों का सभरण करना प्राप्ति जो ये निगूढ़तम प्रेममयी भीड़ार्ण हैं वे बुद्धि की सीमा से परे हैं। अर्थात् इस भाव जनित ध्यानत्व का क्या स्वरूप है बुद्धि इसे समझने में असमर्थ है।

साधार्थ—साध यह है कि बुद्धि का उत्पन्न है विचार करना घोर तर्क। घरीर को एक बुद्धिवादी मूर्ति की रचना के घातिरिक्त कुछ नहीं मानता है। वह एक नीरस वैज्ञानिक की भांति उसके स्पूस-सामुग्र्यों का अध्ययन करता है घोर इसी तर्कज्ञान में अपने मनमोह जीवन को समाप्त कर देता है। मगर दूसरी दिशा में भावप्रवाह एवं रात्रि से युक्त हृदय प्रभाव जीव प्रकृति के प्रत्येक घण में उसकी धारणा को डूबता है। फूल का मुरझाना उसके वासन्ती जीवन का पतझड़ एवं शायली का बरसना उसके बिरह का प्रारम्भ है। सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में वह अपने हृदय के सुख-दुःख का विस्तार कर देता है घोर उनके बुल से वृत्ती तमा सुख से रोमांचित होता है। रात्रि-वर्तन में इसे समरसता की पारल भूमिका कहा गया है।

विशय—रस के साधारणीकरण में साध्य घोर ध्यानत्व का संयोग ही साध्यक नहीं है बल्कि 'उद्गीर्ण' का भी तदनुकूल होना परमावश्यक है। प्रेमी-युवक जब परस्पर मिमें तो वातावरण निस्तम्ब होना चाहिए एकाग्र होना चाहिए। यहाँ तर्क कि रात्रि का ऐसा घोर अभ्यकार होना चाहिए कि परस्पर प्रेमी भी एक दूसरे को नर्म वसुधों से न हैलकर प्राभ्यन्तर नेत्रों द्वारा उस प्रमित ध्यानत्व का अनुमान एवं भाग कर सक। इस बुद्धि से 'घटीवित्त निरा के अधिपाने में' उद्गीर्ण-विभाव रस-वर्षण में काही सहायता देता है।


उसे समझता पर भी।

शब्दार्थ—बुद=हरी भाव। पुनयी=ऊपर की गोक। प्रीचक=पञ्चमक।

अर्थ—पञ्चमक ही हरी-हरी रूब के अद्ययाम (पुनयी) के ए पाते

स हृदय में जो एक प्रकार का कणन पैदा होता है वह ता केवल रक्त ही समझ सकता है (बुद्धि बना हमसे उत्तम ध्यान की महारत तक करने पहुंच सकती है) ।

साधार्थ—साध यह है कि संवेदनशील जीव जब हृदय की कुलबी का स्पर्श पाता है तो उस भी अपनी प्रियतमा का स्पर्श मानकर रोमांचित हो उठता है इसी को बिज का बिछदीकरण कहते हैं । वृद्धि इसके ध्यान से परे है ।

 बुद्धि बहुत बरखों की ।

साधार्थ—सिद्धता = सूखी रेत । सिद्धरित = रोमांचित ।

सर्व—(बुद्धि एक हृदय की परस्पर तुलना करते हुए कवि कहता है कि) कागज के टुक पर खींची हुई सूखी रेत का भी बुद्धि काफी बलम करती है धर्मान् उसकी उत्पत्ति एवं उद्भव पर काफी विचार करती है मगर हमसे परे जब समुद्र की लहरें उस उत्पत्त सफल का प्रतिफल कर उसे पीतल बनाकर वापिस सीट जाती है तब इसका क्या महार भाव हो सकता है इसे तो केवल कहीं लम्बा जान सकती है जो संवेदनशील एवं रोमांचित होने वाली हो धर्मान् भाष्यप्रकार व्यक्त संकट को बिच्छु से उठाठ प्रतीत या तथा जो प्रेमिका सम्मता है । दोनों के परस्पर मिलन से संकट का पीतल हा जाना उसकी सुधा का प्राप्त हो जाता है । सिद्धरित करने बाद ऐसे भाव बुद्धिकापी के धारण बना कर प्रकटित हो सकते हैं ।

सुम निरूपते कौट है ।

साधार्थ—निरूपते = देखते ही बठाते हो । विगण = बराबर जोन । नीपिका = डर । पुन्य-बम = पुन्य का एकत्रीकरण । कृत्तिय = बस्य ।

प्रसंग—इन पदियों में उबकी भावतत्त्व को प्रथम महारा का निर्णय एक उद्घोष करती है । उबकी का कथन है कि सभी माय बाह्य के किसी एक धर्म का विगण के बाह्य सत्य का गोप करण है । मोद की धर्मता बराबर की बरकर विनीपिकार्थ ही या प्रेम की पीसुप बाह्य दोनों का सत्य सत्य का पनुसंधान है । प्रत्य धरी कवि तो तब घोषित में ही है ।

अर्थ—उर्बन्गी पुकरवा से कहती है कि तुम मुझे बेराम्य (योग) का उन्मेष कर रहे हो और (उसकी साधना की कठोरता दिखाकर) उसकी विभीषिका मुनागा चाहते हो मगर मेरे लिए तब्त शोणित (प्रमत्तक भावना) हो खेच है (क्योंकि इसका मार्ग सरस है और सद्य उसी सत्य का अनुसंधान करता है जो याग का कठिन पथ करता है।) घटा रक्त की भाषा को पढ़ो घर्बाई प्र ममय हृदय का धर्मयन करो और इसके अन्तर से निश्चयी हुई ध्वनि का विश्वास करो। हृदय से निकली हुई भाषा का उन्मेष मानव को कभी भी अमित नहीं कर सकता। (यह सब) छलना-मयी बुद्धि की भांति नहीं है जो मुक्त-बुद्धि से परित इस अयत में अहां सर्वत्र सीगर्व्य स्फुरित होता है पाप के ही वर्धन करती है और बहा कंकाम कृतिघ्न और कटे है बहा उसे पुण्य संभयन का उद्भास होता है।

विशेष—इन पंक्तियों में एक प्रकार से प्रेम की चाञ्चलता और योग प्रपवा बराम्य की अनुपयुक्तता का भाव है। योग के अनुसार यह विचित्र सीमर्य से मुक्त मुक्त-बुद्धि समयी अगत निष्पत्ता तथा पापमय है। और योग साधना के द्वारा अपने धरीर को कंकाम 'कृतिघ्न' अथवा 'कटा' बना लेना पुण्यों का अयन है। उर्बन्गी इन्द्र की गोपियों की तरह इस भाव की निन्दा करती है और इसी भाव को लक्ष्य करती है कि— हमारे सुन्दर श्याम प्रम को मारप लीयो।" (जैबरीगत नन्ददास)

पुकरवा  
इन्द्र अन्ते उदगम की।

शब्दार्थ—इन्द्र=मुक्त-बुद्धि का संघर्ष। अन्ते=दक्षित करते हैं। मटयेसी=नबसी (गुण-शेष से मुक्त)। सर=तेज। अटुस=अवस।

प्रसंग—देवता और मनुष्य की परिभाषा बताकर पुकरवा मानव को जो संघर्ष के अपेक्षा से दबकर लेना अधिक धयस्कर समझता है महान दक्षित करता है। पुकरवा की बुद्धि में देवता मानवत्व तक पहुँचने की पहली साधना है।

अर्थ—वास्तव में मनुष्य वह है जो (अहर्निश) संघर्ष द्वारा दक्षित हाता रहता है और देवता वह है जो संघर्ष से शून्य है। फिर भी मानव जब इस

बरा पर जन्म लेता है तब गरिठा के उद्गम-स्रोत की तरह पवित्र निर्मल प्रशान्त गुन्हारी तरह दिव्य तथा सोकोत्तर होता है मगर घासे कड़मे पर उसमें घोर भी बिद्यपताएं जन्म ले लेती हैं जैसे मटमला (मुक्त-बुध प्राणा नियशा बिद्ध-मिलन मोय-वियोग तथा प्रासक्ति घोर विरक्ति से मिथित मटमेला बीजन) तीक्ष्णता ज्वलता प्रादि स्रोतों का समावेश। घट बेबों की बिद्योपताओं के प्रतिरिक्त मनुष्य में अग्य वेनात्तर बिद्योपताएं होती हैं जिनके कारण वह बेबों से महान है।

बिद्यव—मेरी नजर में इस पर की दूसरी पंक्ति बोधपूर्ण है। पंक्ति इस प्रकार है—

‘बेबी वह जिसके मन में  
कोई संघर्ष नहीं है।’

अर्थात् होना यह चाहिए था—

बेब वही जिसके मन में,  
कोई संघर्ष नहीं है।’

—कारण मनुष्य की बेब से तुलना की जा रही है। अतः वही राज्य के प्रयोग से एक ता कविता में सिग-नोप धा जाता है घोर बुधरे ‘बेबी’ शब्द की मनुष्य की तुलना में कोई सपत्ति नहीं बैठती।

रक्त बुद्धि कलरक में।

शब्दार्थ—अभय्य=प्रकार शास्त्रतः। सविता=पुत्र (पुरुष गुणों से युक्त दिव्य ईश्वर)। गात्रधी-किरणें=वासन्ती किरणें काम अन्य प्रेम की उत्पत्ति बना प्रथवा प्राणैः।

अप—प्रेम मूलक भावना बुद्धि से प्रथि ज्वलतासी तथा अधिक सफ़र है। परिणामस्वरूप हमारा अर्थने उद्गम-स्मान (पवित्र निर्मल तथा शान्त) पर सहक रूप से पुनः शीत प्राणा सम्भव नहीं है (ज्यादि पवित्रता निर्मलता एवं तीक्ष्णता ही मात्र मूलक प्रेम तक पहुँचने की प्रथम सोपान है। ये तत्त्व प्रेम के लिये ठोस धरती का काम करते हैं। दूसरी सोपान है अर्थ तथा अर्थिम सोपान है—अर्थ-रूप प्रेम की प्रायःतरिक चरम परिणति)।

(कामजय प्रेम की उत्तमता प्रथमा प्रायेण की) वास्तव्यो किरणें एवं उसके कतरब में हूठने प्रवेष्ट और लो जाते हैं कि उस सापेक्ष सर्वबुद्ध-सम्पन्न पूर्ण-पूर्व (ब्रह्म) तक नहीं पहुँच पाते हैं।

किरणें जयेंगा।

शब्दार्थ—सौभाग्य=सीढ़ी। स्वात्=सायत। उर्ध्व=ऊपर। मूर्ति का विहार=सांसारिक ब्रह्म।

प्रसंग—पार्थिव शरीर एवं मृण्मय जपत धातु का चरम सद्य नहीं है। मनुष्य को इनके बहुत ऊपर उठना पड़ता है। बिजकर भी ने अपनी मूर्ति में इस बात को स्पष्ट भी किया है— प्रेम की पृष्ठ उदासीकत स्थिति बह भी है जो समाधि से विमती-जुमती है। जिसके ध्वनिता का देवीपम विहास हुआ है जिसके स्नायविक तार चेतन और ज्ञानी हैं तथा जिसका मन स्वभाव से ही उर्ध्वपामी और उद्भवतशील है उसे काम के स्पर्श मात्र से इस समाधि का बोध होता है।

तन्वाचित्प्रसंगीक्यं परमनुभवति सच्चिदानन्दरूपम्

तन्वाचीत् वाचभिन्ना रमन्वतिपते- योगिनिर्गता गतेषु।

मनुष्य के इस दुन्द का साकार से ऊपर उठकर निराकार तक जाने की इस धातुता प्रथमा ऐकियता से निकलकर अतीन्द्रिय जपत में प्रांच कोलने की इस प्रसंग का प्रतीक पुररबा है।

धर्म—प्रेम के क्षेत्र में मनुष्य के लिए वे किरणें (सांसारिक ज्ञान का प्रकाश) तथा पून (सांसारिक पापिक गुण) ही अन्तिम सीढ़ी नहीं है। प्रमी को इस सीमा से बहुत ऊपर उठकर तारों के देश (धूम) में जाना होगा। कवि का अनुमान है कि प्राकाश के इस उर्ध्वमोक पर पहुँच कर मनुष्य को दिव्य किरणों वासा सांसारिक ब्रह्म हीम सगेगा।

विशेष—उपरिक्त पंक्तियों में 'उर्ध्व' तथा 'धम्बर' इष्टय है। कवि ने प्रतीक योजना का आश्रय लेकर 'उर्ध्व' को हृदय के उदासीकरण तथा अतीन्द्रियता का प्रतीक माना है एवं 'धम्बर' इष्टय का प्रतीक है। साहित्य में प्रतीकवाद का बड़ा महत्त्व है। सफल कवि प्रतीक योजना द्वारा ही अपने

भाषों का सूत्र बर्तन करता है। हिन्दी साहित्य कोष' में प्रतीकवाद की व्याख्या इस प्रकार है।

“ किसी वाक्य स्तर की सामान्य वस्तु द्वारा किसी वाक्य स्तर के विषय का प्रतिनिधित्व करने वाली वस्तु प्रतीक है। अमूर्त वाक्य अथवा अपस्तुत विषय का प्रतीक प्रतिविधान भूत वृत्त वाक्य प्रस्तुत विषय द्वारा करता है। (जैसे कर्णवृत्त पर ये वृत्त के उदात्तीकरण के लिए 'रम्भ' तथा 'अम्भर' का प्रतीक लिया गया है।) 'साहित्य और कला के क्षेत्र में प्रतीकवाद एक विशिष्ट भाषणारा का आन्दोलन और प्रतिपक्षित है। प्रतीकवाद अमूर्त का सहज स्वभाव होता है। 'प्रतीकों की दो विशेषताएँ होती हैं—(i) प्रतीक तब किसी न किसी साम्यत्व प्रकार के व्यापार का प्रतिनिधि होता है। (ii) प्रतीक ध्वनि की अनीभूत कर देता है। 'अमूर्तों का समस्त जीवन प्रतीकों से पूर्व है। 'हास्यवादियों ने प्रतीकों का विपुल प्रयोग किया है। 'प्रतीक कई कार्य कर सकते हैं—१. किसी विषय की व्याख्या करना २. अर्थको स्वीकृत करना ३. पतापन का पत्र प्रस्तुत करना ४. मुक्त या बधित अनुभूति को जागृत करना और २. अर्थकरण या प्रदान का साधन होना।’

‘**बाहुमान**’ करती है।

सम्भाव—उद्देशित—उपलाना उल्लाना। अन्त रश्मि में—भाषों में उपलुता।

प्रथम—वैद्ये तो कवि पंचमिक प्रतिभासम्पन्न होता ही है मगर उच्च भावभाव को 'काव्य' एवं दिव्युचित करने के लिए किसी महत्त्वपूर्ण साधन को अपना पाठ्य भवा करना पड़ता है। यहाँ पर कवि क्लिष्ट नारी के उदात्त प्रेम से कवि का अन्त भावता है। बाह्य ठीक भी है। नारी भावकता है और कविता की नैया पर भी भाषों का प्रयत्न विरासत है। अतः मानव की सूत्र बुद्धि और नारी की भावना से कवि का काव्य कमनीय हो उठता है।

अर्थ—अपने अन्त अन्त भाव नहीं है। यह (जीवन्त) अनुभूति-विषय भी है।

में उष्णता धीरे-धीरे ही नहीं आता अपितु वह उसके हृदय में किसी काल कवि को भी जगमग दे देती है।

विशेष—केशवदास ने अपनी कविप्रिया (८:२) में कवियों के तीन भेद किए हैं—१ उत्तम मध्यम और ३ अधम। यथा—

उत्तम मध्यम अधम कवि उत्तम हरि रस सोन ।

मध्यम मानत मानुषनि होयनि अधम प्रथम ॥

हमारी दृष्टि में उपरोक्त भूमिका में जिस काल कवि का जन्म होता है वह मध्यम कोटि का यथा 'मानुषनि' कोटि का कवि कहलाता है जो धीरे-धीरे अन्तर्मुखी होकर उत्तम कवि की कोटि तक पहुँचने का प्रयास करता है।

मठ समेट 'ककारों' में।

अर्थ—स्पृह = पारिषद। आना-तरंग = प्रेम की ज्योति। कवि कीड़ा = प्रेम के भावों का सूक्ष्म धाक्यान।

अर्थ—इन पंक्तियों में कवि दिनकर साधारण मनुष्य के पारिषद प्रेम तथा कवि के भाव-निर्मित प्रेम का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहता है—

अर्थ—जहाँ मनुष्य नारी की स्पर्श देह को ही अपनी भुजाओं में समेट कर आनन्द का अनुभव करता है। वहाँ कवि नारी के धार्मिक मीठवर्ष को अपनी भाव-भूमिका से रंगकर आनन्द की कीड़ा करता है। और जिस समय मनुष्य किसी नारी के कोकिल-कंठ का स्वर सुनकर बसुब हो जाता है उस समय कवि उसके स्वर में निहित मीठरी रूप की उज्ज्वल मङ्गल में अपने भावको लीन कर लेता है।

विशेष—बड़े तो कवि भी मनुष्य ही होता है। उसे कोई गुरुदास के पर नहीं मने होते हैं। मगर बानों में एक ठाण्डिक भेद है जिसको दिनकर ने ऊपर की पंक्तियों में स्पष्ट किया है। साधारण मनुष्य शौचिकवादी होता है। वह अपने एक विशिष्ट कृष्टिकोण से वस्तु तत्व की व्याख्या करता है। इसी लिए 'आचार्य सम्मट' ने कवि को कविता को 'नियति के नियमों से रहित, बुरे की बन्धता से रहित तथा नख रत्नों से सुशोभित माना है। कवि के सम्बन्ध में 'अग्नि पुराण' का यह श्लोक दर्शनीय है—

## ध्यास्या-भाग

घपारे काव्यससारे कबिरेव प्रजापति ।  
यथात्म रोचते बिबं तजेवं परिवर्तते ॥

तर बाहता करता है ।

शब्दाय—सवेह=वेह-सहित । प्रतिश्रमण=सांप जाना ।  
अर्थ—मनुष्य नारी को पारिब घरीर-सहित घपन हृष्य में बिठाना

बाहता है जबकि कबि नारी के उस सवेह रूप का प्रतिश्रमण करके (प्रदृश्य  
प्रेम पर पहुचने की याचना करता है) ।  
बिषय—इय सम्बन्ध में 'उर्बसी की भूमिका का एक स्पस द्रष्टव्य है—

"कला, साहित्य और बिगयत काव्य में भौतिक सौन्दर्य की महिमा प्रकट  
है । फिर भी अथ कबिता बराबर भौतिक से परे भौतिकोत्तर सौन्दर्य का  
संकेत देती है । फिजिकस को सांप कर 'मेडन-फिजिकस हो जाती है ।  
'कबि प्रेमी सला से ।

अर्थ—कबि तथा प्रेमी की समानता का वर्णन करते हुए बिनकर की  
बहुत है कि कबि तथा प्रेमी एक ही तत्व है अर्थात् दोनों में समान बिधेपताएँ  
हैं । प्रपनी प्रेयसी के धार्मिक सौन्दर्य पर तो दोनों ही मुग्ध रहते हैं मगर  
देहबारी प्रेम से वे कोसों दूर हैं । (पारिब प्रेम की सीमा को छोड़कर दोनों)  
घपने प्रेम को भावना के मूढम तन्तुओं से जोड़ लेते हैं । प्रमिका की सभी  
गुणगार्णों एवं बृम्णों का सम्बन्ध अविगत एवं प्रदृश्य सला से स्थापित कर  
लेते हैं ।

बिषय—प्रेमी तथा कबि का अन्वयान्वयित सम्बन्ध है । बिज्ञानों का  
बहुता है कि प्रेमी की यणना कबि की कोटि में की जानी चाहिये । कारण  
सम्बन्ध प्रेमी प्रमिका के पारिब घरीर एवं स्पूस इन्द्रियजन्य प्रेम से परे हटकर  
उस धार्मिक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है । उदाहरण के लिये सैला-मजनु  
का क्रिस्ता लीबिन । सैला भेस की तरह कामी की मगर फिर भी मजनु उसे  
अनिच्छ पुण्डरी समझकर अन्तरात्मा को भी उसके सामने तुच्छ समझता था ।  
सैला का सात्त्विक धारणा का सौन्दर्य ही उसके लिये सर्वस्व था । और यही  
मूल तत्व कबि में बिद्यमान है । अथ कबि और प्रेमी में सात्त्विक  
समानता है ।



वेह प्रेम करता है ।

प्रथम—विनकर-रचना—मांस-पेशियां । प्रसरित—फैली हुई । पुष्ट लोको—छिपे हुए सोच में अनुभूति । विमासित—बमकने वाले । प्रव्यक्त कमल—प्रात्मव्यक्तिक कमल जो सादरत रूप में बाधती रहता है ।

प्रसंग—विन प्रकार एक भक्त ममकात की एक प्रतिमा की ध्यान की भूमिका बनाकर प्रत्योग्मुख होता है उसी प्रकार कवि प्रथम प्रेमी को भी सूक्ष्म प्रेम को पाने के लिए एक ठोस जरूरी बननी पड़ती है । वह ठोस धरती है—नारी की वेह । इसी से कवि प्रथम प्रेमी प्रेम की प्रथम सोपान पर कदम रखता है और धीरे धीरे बड़ी पार्थिव धौन्यता उनकी दृष्टि में ध्यापक रूप धारण कर लेता है । सभी वास्तविक प्रानन्द की सृष्टि होती है ।

अर्थ—कवि तथा प्रेमी के लिए धरती प्रेम की जन्म भूमि है । अर्थात् उनके हृदय में प्रेम क्षिप्त का जन्म नारी की वेह ही होता है । मगर उनके विचरण के लिए सीमा-भूमि का क्षेत्र मांस-पेशियों तक ही सीमित नहीं है । इसकी सीमा भूमि काफी विस्तृत है जो मन के पहलू एवं रहस्यमयी लोको तक फैली हुई है । (इस मुख्य लोको में पहुँच कर) कवि प्रथम प्रेमी जर्म रूप से परे हटकर धरणी धौन्यता का मनन करता है । ऐसी अवस्था में जब पुरुष नारी के प्रत्यक्ष आन्वयमान मुखमण्डल को देखता है तथा उस मुखमण्डल में वह किसी दिव्य तथा अद्वय कमल के दर्शन करता है और उस सादरत कमल के सौन्दर्य के समक्ष नतमस्तक हो जाता है ।

विशेष—प्रेम के अध्याय में उपरोक्त पंक्तियां बड़ी महत्वपूर्ण हैं । इस पद्योक्त में मन के पहलू गूढ़ लोको में तथा 'दिव्य, अद्वय कमल' शब्द दर्शनीय हैं । प्रथम पद्य का धारिण्य सखी अनुभूति एवं दूसरे का 'हठवोच' की साधना से है । मन का पहलू एवं गूढ़ लोको केवल हृदय की अनुभूति है । "मनोविज्ञान में यह एक आन्तरिक क्रिया है जो बाह्य परिजान उत्पन्न नहीं करती । अनुभूति सुखारमक भी हो सकती है और दुःख-रमक भी । साहित्य के क्षेत्र में कई प्रकार की अनुभूतियों का बचन होता है । यथा—१ काव्यानुभूति २ रसानुभूति, ३ भाषानुभूति ४ प्रातिम अनुभूति, ५ विलक्षण अनुभूति ६ रहस्यानुभूति, ७ समानानुभूति, ८ सौन्दर्यानुभूति

एवं ६ सहानुभूति । उपरोक्त पंक्तियों की अनुभूति 'काव्यानुभूति' के अन्त में आती है जिसमें लौकिक सुख-दुःखात्मक प्रेम सूक्ष्म एवं गुह्य रूप धारण कर लेता है ।

'दिव्य धम्मगत कथन हठयोग की शिखावली है । मेरुवृक्ष में छ' अक्ष माने मये है जिन्हें आकार की समता के कारण 'कमल' कहा जाता है । जैसे मूलाधार अक्ष, स्वाधिष्ठान अक्ष आदि । इन छ' अक्षों को वेदकर कृष्णसिमी अन्तिम अक्ष में पहुँचती है जिसमें सङ्गमन है । इसलिये इसे सहस्रार अक्ष या कमल कहते हैं । इसी को सूर्यअक्ष गयलमण्डल आदि भी कहते हैं । इसमें दिव्य का बास होता है । इस अवस्था में चित्त निरिच्छ है जाता है । अस्त प्रेमी तथा योगी के इस सोपान पर पहुँचने के मार्ग धम्म-धम्म हैं । प्रेमी इसे प्रेममूलक भावना तथा योगी कठोर साधना से प्राप्त करता है ।

अमलता प्रम' मगल सी ।

अर्थार्थ—मोक्षम=मेख । तरंग-विम=प्रकार सम्यक । एकदेही=एक शरीर वाली । बाधभ्य=बाध-सम्बन्धी स्वाधि-जलम ।

अर्थ—सबसे पूर्व प्रम भावों में पदा होता है । उसके पदवात् मन में प्रवर-तरंग पैदा होती है । सर्वप्रथम प्रेमी को प्रेमिका एक शरीर वाली दिखाई देती है (मगर धीरे धीरे उसके चित्त का विकसित होता है और प्रेमिका का स्वरूप) सम्पूर्ण संसार में व्याप्त हो जाता है अर्थात् प्रेमी जगत् के स्वार-अंगम पदाओं में केवल उसी का रूप-रक्षण करता है । पहले प्रम में शरीर के स्पर्श से आनन्द का भोग किया जाता है मगर तदुपरान्त उससे उद्भूत रोमांच से चिन्तन का जन्म होता है । इस प्रकार पूर्वावस्था में प्रम कठोर पड़ती है (जिसमें प्रेम का बीज जन्म लेता है और पल्लवित होता है) और उसके वरणात् हृदयकाया में बाहु के समान प्रसरित होकर व्यापक रूप धारण कर लेता है । (इस प्रकार समष्टियत् प्रेम के लिए पहले व्यक्तिगत प्रेम की परमावस्था है । ये परस्पर धर्मोन्मादित हैं) ।

अलंकार—रूपक धर्मोन्मादित, स्वमाधोन्मादित ।



मुझमें बिल तुम्हारी ।

प्रथमार्थ—निरभ्र=बादलों से रहित । धामा-उर्मिया=प्रम रूपी ज्योति की सहर्षे ।

धर्म—गुकरबा उर्बशी से कहता है कि पार्थिव देह से परे तुमने मेरे अन्दर एक 'रहस्य-बिन्दु' को भी जन्म दे दिया है । मेरा यह 'मायुक रहस्य-बिन्दु' निरभ्र (अन्ध रहित) आकाश में उड़ना चाहता है । यह (रहस्य-बिन्दु) अपनी स्निग्ध बिम्बा से तुम्हें आर्षे तरफ खींच रहा है धर्मात् अपने पार्थिव पाप में बद्ध कर रहा है और मेरे इस 'रहस्य-बिन्दु' हृदय में तुम्हारी प्रसन्न उज्ज्वल सहर्षे समा रही हैं ।

बिन्दु—इस पद्यांश में 'रहस्य-बिन्दु' शब्द इच्छम् है । यदि केवल यही शब्द होता तो सम्भवत इसका सम्बन्ध निगुण जगत् से हो जाता । मगर इसी पंक्ति में एक 'मायुक' शब्द भी है । अतः इसका तात्पर्य हुआ प्रेम परक 'रहस्य-बिन्दु' । 'रहस्य-बिन्दु' अपरोक्ष अनुभूति द्वारा सत्य परमत्त्व प्रपञ्च ईश्वर के सामान्य अपने प्रेमी का साक्षात्कार करता है । रहस्यानुभूति सम्भवतः मनुष्य की श्रेष्ठतम एवं उदात्ततम अनुभूति है । 'रहस्य-बिन्दु' किसी जाति धर्म या देश विशेष में सीमित नहीं रहता । उसकी मर्मानुभूति की प्रसीमता और विरलता देश-काल के परे है । मनुष्य की यह प्रकृति अद्वितीय है । यह उसको सामान्य जीवन के विषयों से विमुक्त एवं विरक्त कर देती है । इस प्रवृत्ति में रहस्य-बिन्दु एक नूतन और असीम ध्यान से आकाश और अस्मिन् एक अन्तःसुन्दर चित्र और सुन्दर तत्व में निमग्नित मुक्त और पवित्रीकृत आत्म का अनुभव करता है । ऐसी मर्मानुभूति में एक असीम क्रिष्ण ज्योति प्रपञ्च के दर्शन होते हैं । 'रहस्य-बिन्दु' के इसी स्वरूप का हृदयसाही चित्रण उपरोक्त पंक्तियों में हुआ है ।



बहु संबर 'अपने में' ।

द्वितीयार्थ—अन्धर=आकाश यहाँ पर इसका अर्थ होगा 'हृदयरूपी आकाश' । पावस=वर्षा का जब धर्मात् प्रेम का संप्रपञ्चनीय समय । भीमिमा शरद की=मूढ एवं सात्विक हृदय । निरभ्र=बादलों से रहित । समाहित=अन्तर्निहित ।

प्रसंग—प्रेम की प्रथम भूमिका में अत्युच्छता एक संपर्क पाठा है। प्रेमी साधक जब इस अवस्था को साँप जाता है और उसके हृदयागार में प्रेम की विन्मय ज्योति समा जाती है तब वह नून-दुःख से वरे हटकर धारवत धान्य की घोषाम पर अविच्छिन्न हो जाता है। ऐम समय में साधक को उसकी प्रिय समा ईश्वररूपा एक प्रेम की ज्योतिषु अ समती है। एक मुस्लिम धायर के पदों में—

मेरे महबूब की धरम  
सुना बेसी है।

मुहब्बत की मुहब्बत है  
इबाबत की इबाबत (पूजा) है ॥

अर्थ—(मेरे हृदय रूपा) धाकाय से (मून-दुःख रूपा) पावस अद्दु उतर चुका है। अब तो इस धाकाय में गहार्द-योई धरम् अद्दु की नीमिमा (प्रेम की उज्ज्वलता) प्रतिभासित हो रही है। मर इस निराल धाकाय में तुम अद्दुमा के समान जीवम बनकर प्रकाश-आबत में तैर रही हो और मैं किरण के रूप में तुम्हारे अमित ज्योति-दुःख में समाहित हूँ।

बिज्ञेय—'किरण रूप अपने में'—इस पवित्र से प्रमी (पुकरवा) तथा प्रेमिका (अवशी) का परस्पर अंत-अंती भाव स्पष्ट होता है। धाकार्य बस्नाभाचार्य के विधिष्ठाईतबाद सिद्धान्त के पुष्टिमाग के अनुसार हम सब अंती (बहु) के अंत हैं। यहाँ पर अंती अन्तमा है तो पुकरवा उसकी एक किरण है बिनाका अन्त-अन्तान्तर तक अन्तोभ्यामित सम्बन्ध है। धाभा परवारका के अंत अंती भाव की निगुण कविओं ने तो विस्तार से बखित किया ही है मगर संसृज में तथा धामुनिक कविओं के काव्य में भी इसकी कमी नहीं है। बवा—

आपुमर्षकी सुअर्न प्रतिष्ठी  
अर्प अर्प प्रतिष्ठी अमूब ।  
एकस्तवा सर्वभूतान्तरारम,  
अर्प अर्प प्रतिष्ठी बहिरब ॥”

× × ×

“हरियाव की सहर हरियाव है जी,  
हरियाव की सहर भिन्न कीयम ।  
उहे तो नीर बँडता नीर है  
कहो किस तरह बूतरो तोयम ।

—कबीर

× × ×

‘तुम तुझ हिमाजय भूंग  
में बँबल गति सुरसरिता ।  
तुम बिमल हृदय जच्छ्वात  
मे काग्त कामिनी कबिता ।

—निराला : तुम और म

‘सम्बर तथा पाकस’ चादि शब्दों में ‘श्लेष’ तथा ‘सम्बन्धित’ एक  
रमा-सी’ में उपमा प्रसंगकार है ।

इह नम सुभा को ।

सम्बर—नम=भाकास (हृदय) । सम्बर=बस्व (रक्षोगुण) एवं  
गुणों काकरण) । लषा=प्यास ।

शर्ष—पुकरवा कहता है कि मेरे हृदय की भाकास से जो रक्षस्यमनी  
उ से परिपुण है, रजस एवं तमस के कारण विनीत हो गये हैं और  
उ की प्यास ज्वालत भावना से शान्त हो गई है तथा रक्तानुभूति को  
सिक्त तीव्रता भी शान्ति के पन पर धाक हो गई है ।

विशेष—उक्त पद्यांश में भायक के अपने मन में हुई भावनाओं का स्फूर्ति  
उ बंघित होता है । पुकरवा लौकिक भावनाओं के प्रति वैराग्य तथा  
किंक प्रेम की स्थापना को महत्त्व देता हुआ बोल पड़ता है ।

‘नम’ और ‘सम्बर’ शब्दों में ‘पुनस्ततश्चाभास’ प्रसंगकार है । सम्बन्ध  
पने काव्य-प्रकाश में इसकी परिभाषा इस प्रकार की है—

‘पुनस्ततश्चाभासो विभिन्नाकाररस्यवगा प्कार्थैव ।’

—सम्बर काव्यप्रकाश उन्मास १ पृ०

ग्रह निरञ्ज नारी है ।

अर्थार्थ — निरञ्ज = वादनों से रहित स्वच्छ । निद्रिद्रस्य = विकल्प रहित निद्रित । सुपना = सोनदय । प्रतिभाग = प्रतिका ।

प्रसंग — नायक पुरुरवा भावनाओं के उदात्त रूप को व्यक्त करते हुए स्त्री और पुरुष के सौन्दर्य रूप की धारणा सौन्दर्य रूप को महत्व देते हुए सौन्दर्य शरीर और सौन्दर्य बुद्धि से ऊपर उठकर 'आत्मतत्त्व' की ओर प्रसरण हो रहे हैं ।

अर्थ — पुरुरवा कहते हैं कि सब स्वच्छ आकाश (हृदय) में जहाँ कल्पित कल्पनाओं का सञ्चालन होता है और विद्युत् सौन्दर्य झूट-झूट कर भरा हुआ है जहाँ न तो वह शासना प्रदान पुरुष, पुरुष है और न नारी नारी । अपितु ये दोनों इस पुरुरवा पुरुष परमेश्वर के प्रतिमिति के रूप हैं 'जिस प्राप्त करने के लिये वैश्वामित्र और बुद्धिबाह के बन्धनों को तोड़कर मानव 'अन्तर्मत्तना' के चौराहे पर पहुँच जाता है । अर्थात् जिस आत्मचरिता से आत्मज्ञान की पृष्ठभूमि पर आत्मज्ञान में आत्मज्ञान का निष्पादितान्त्व अस्त हो जाता है और उस सही रास्ते का पूर्ण ज्ञान ही जाता है जिससे मानव को मानव होने का सत्त्व प्राप्त हो जाता है । निदान यह 'अन्तर्मत्त' व 'प्राणमय' कोष से निष्पन्न कर 'मनोमय कोष' में बना जाता है ।

अन्तर को प्रतिफल है ।

अर्थार्थ — प्रतिमान = भाषीकान्त, प्रकाशान्त । मनोमय = अन्तर्मत्तना से घीत घीत, पंचकोषों में एक भेद । अन्तर्मत्त = सोमा का उत्सर्जन ।

प्रसंग — पुरुरवा पुरुष के प्रसंग में ही पुरुरवा कह रहे हैं कि हृदय शरीर तथा के मोह-बन्धन को तोड़कर जिस प्रकार आत्मतत्ता से सम्बन्ध बाँड़ सकते हैं । इसी मात्र को यहाँ दार्शनिक दृष्ट्यावली द्वारा व्यक्त किया गया है ।

अर्थ — अन्तर्मत्त पुरुष पर प्रसरण होने वाले मानव के लिए जो अन्तर्मत्त, प्रमत्त मनोमय जीवन अन्तर्क रहा है उसे यदि हम उपलब्ध करना चाहते हैं तो विषय-शासना से बचे हुए अन्तर्मत्त और 'प्राणमय' कोषों में विषय रूप के संनिमित्त इस पाँच भौतिक स्मृत शरीर के मोह परिपासन और संशोषण

की सौह प्राचीर को संय करला पड़ेया तब कहीं हमें प्रकाशपूर्ण मनोमय जगत की मूलक मिसेयी ।

बिअय—छरीर-विज्ञान के आधार पर पांच कोश माने गये हैं जो मोक्ष प्राप्ति की छोपाण हैं । शारीरिक सम्भावनी में उनके नाम इस प्रकार हैं—  
१ अन्नमय २ प्राणमय ३ मनोमय ४ विज्ञानमय तथा ५ आनन्दमय कोश ।

'मनामय कोश' का निर्माण १० इन्द्रिय + मन + पञ्च-सम्भावनाओं सहित १६ तत्त्वों के संयोजन से होता है । यह विशेष रूप से 'श्रिया प्रधान कोश है ।

यद्यपि यह मानव-देह सब कोशों का आधार तथा चारक है किन्तु अन्नमय तथा प्राणमय कोशों के विज्ञान मात्र से ही मोक्ष नहीं भिंस जाता । मोक्ष प्राप्ति में साक्षात्-हेतु तो विवेक ज्ञान है । यह निबिचार उर्वरतम विज्ञान है ।

—स्वामी व्यासदेव Science of Soul पृष्ठ १८७

'तन का बिता रही है ।

अर्थार्थ—सुरम=सृवर । आतापन=गवाश मरौला । अदुस्य=पक्षि प्रत्यक्ष से परे, परेश । मृति=पाषाण । बिमा=बिज्ञान अणुभूत ।

अर्थ—जब हम शारीरिक मोह को प्रतिनमित कर जाते हैं तो इन दोनों तंत्रों के दूरबीक्षण-अणु से उस अप्रत्यक्ष ज्ञानमय मूस छत्ता-का परब्रह्म को भाप सेते हैं जहाँ इस पारिवि अयत की अकार्षीय अथवा मोहक गति-बिधि शान्तिपूर्ण आवावरण से मोठ प्रोठ परब्रह्म में बिनीत होती हुई बिसाई बेठी है । अर्थात् मानव लौकिक मोह-आम स अर उठकर अलौकिक ब्रह्म की प्रेम मयी गमियों में अमण करन अमठा है ।

तन का इगित करते हैं ।

अर्थार्थ—मासप=मास प्रधान । आवरण=परी । गोपन=छिपाता । इभित=संकेत ।

अर्थ—पुकरव छरीर के मोह-स्वाय की बुद्धि का बखेंत करते हुए सत्य करते हैं कि हमें अथवा आंशों के सामन स बहु परदा ह्म देना चाहिये जिससे हमारी दर्शन-शक्ति वास्तविक पवार्थ के बखेंत में अयमथ हो जाती है और जहाँ हृदय की अयेला अर्मबलु ही अथिक श्रियाधीन रहते हैं और अस्थि

वर्षभय दह में अधिक प्रेम मानते हैं। यही नहीं वे सौकिक प्रम-प्रधान कम कम निरुत्कार उग्र ब्रह्म को मुनेने काम कर्णु-कहूँ को भी अपना सम्बन्धित दास बना मते हैं जिनसे उन प्रम-कथाओं के बखल करने में और सौकिक प्रमपूरण भावों को मरने में उनका वे महयोग दते हैं तथा इनके प्रमाथित हो जाते हैं कि स्पष्ट रूप से अपने भावों का व्यक्त नहीं कर सकत और नवों के इशारे पर ही ताकते हैं।

अब—सन्ध्य का इन्द्रिय जनिठ ध्यात्वानों से इतरकर तथा अपने सम्पूर्ण मांसम भावण हटाकर अपने प्रमाथितधुओं से अपने धाम्तिभिक हृदय को जिनमें प्रम की पवित्र निरुत्कार एवं सास्वत पोषुप बाग बहती है दक्षता चाहिये। कानों से बाहरी धोर का हटाकर उन जावों का बखल करना चाहिये जो प्रमयत जगत में प्रकथित नहीं हान ध्यातिनु जिनका ध्यान म बखम ध्यात्मन्तरिक बखलु पक्षों से ही सम्भव है तथा उनका संकेत भी इतना उल्लस्ययी जाता है कि पारिष्य धोर इस बोध करन में प्रसमय है।

✓ का कुछ बघती है।

उपार्थ—अटकल-अनुमान-सदृश = धान नीचकर धम्दाया लगाना।  
 लभित = धतिभ्रमित। धन्तरम्प = भीतर म बढा हुआ।

अर्थ—पुनरुत्तरा उन धोर मन के जाने-जाने से बन हुए जगत का ध्यात्वानों मिथ्या सिद्ध करत हुए ध्यान् बाह्य जगत का लुपन करते हुए ध्यात्मन्तर जगत की मायता का विरमण कर रहे हैं।

अब—जायक बहता है कि हमने उन धोर मन को सौकिक गति विधियों से जो कुछ भी सम्मम है निमित्त दिया है और धांसारिक भावनाएँ बनाई हैं वे सब तिकाऊ शरीर नहीं हारी। वह हमारा ज्ञान ता 'प्रमों' के इति-ज्ञान के मह्य अटकल-पक्षु एवं अनुमान का लगता है। इस बुलुलित न्याय में हमारी गवका सास्वा नहीं है। इनमिसे तम-मन के बन हुए जाने-जान के बटिसे ज्ञान को ताड़कर हम इधो भी उपाय से उस अतर्धोक म विचारण करना होगा का उन धोर मन के इस सौक से बहुत दूर है तथा जिस ध्यात्मनाक में बखननाभी का धमाथ है धोर बुद्धि-जनिठ ध्यात्वानों का इतिथी है। ध्यान् को ध्यावा मन एवं विन्धामुस्य धाउका उचित निर्देक सौक है।



विशेष—इसी लोक की बपरेला उपनिषदों में निम्न प्रकार से की है—

न तत्र सुषो भाति न चन्द्रतारको,

मेमा विद्युतो भाति कुतीऽप्यभिमि ।

‘कामायनी’ में भी इस ब्रह्म-लोक का अन्वयत हृदयवादी विवरण किया गया है—

घातित न बहो हं कोरं,

तापित व्यक्ति न बहो है ।

ओषध बभूवा समस्तस ह

सुख प्रसंगे सौम्य तुम्हारा ।

घातार्थ—घातप सुन्दर = सब सुन्दर । कोर-भाज = मंच रूप । विद्युत् छवि = परब्रह्म की मूर्तक । कुतर्को = येषो । पटस = परदा । ययुकाभिव्ययान = सुरम्ब घोषावाली ।

प्रसंग—घातप्य मौकिक-सौम्य की अपूर्णता से विरक्त पुष्करवा मलीकिक और पूरु सौम्य के अन्त की कल्पना करते हुए उर्ध्वी को सम्भावित करके कहते हैं कि यदि मैं तुम्हारे इस अपूर्ण सौम्य को जो कि उस पूर्ण सुन्दर ब्रह्म का कणु भाग है ब्रह्म रूप में देख सकूँ तो अपने पापको मैं परम सौभाग्यवाली समझूँ ।

अर्थ—पुष्करवा कहते हैं कि हे उर्ध्वी ! तुम्हारे सौम्य पर मुझे पूर्ण धात्वा है परन्तु अस्तुत यदि पारमार्थिक दृष्टि से देखा जाय तो यह तुम्हारा सौम्य उस विद्युत् सत्ता न पूर्ण सौम्य की अल्प ही भूतक है जो अज्ञान से भिटी हुई होने के कारण मुझे अत्यन्त कृष्णित नहीं हो रही है । अर्थ मैं उस सौम्य को पूरु रूप से देखने के लिये इन मौकिक भ्यामोह के बाधकों को हटाना चाहता हूँ जिससे उस प्रम रूप ब्रह्म-लोक न तुम्हारे मधुर एवं उज्ज्वल सौम्य को अधिकतर रूप में देख सकूँ ।

विशेष—‘विधिप्राप्त विद्वान्त के अनुसार अज्ञान ने उर्ध्वी तथा ब्रह्म में अंध प्रती भाव विद्यान का प्रवास किया है ।

\*ब्रह्मिण्यर्हति विद्वान्त क अनुसार तीन तत्त्व तथा स्वतन्त्र पदार्थ हैं— परमात्मा (ईश्वर) चिन् (जीव) और अचिन् (प्रकृति)। परमात्मा अस्त मीमी रूप से बीजक और प्रकृति में विद्यमान है। वह अभी (अती) ह और जीव तथा प्रकृति उसके अंग (अंश) हैं। ईश्वर अर्थात् जीव अविनाशी (तुलसी) चित और अचित से ब्रह्मिण्य परमात्मा ही एकमात्र सत्त ह। चिन् और अचिन् इन्ध तथा मूल दोनों हैं। परमात्मा तत्त्व इन्ध है। उसमें सजातीय और अजातीय अंश नहीं ह क्योंकि वह एक और अद्वितीय ह। पर चित और अचिन् के गुण भी होने के कारण स्वगत अंश ह। ईश्वर का चिन्-अचित के साथ जो सम्बन्ध ह वह विग्रहण सम्बन्ध ह। इसकी पारिभाषिक संज्ञा अणुबन्ध निश्चि है।

—द्वितीय साहित्यकोष ब्रह्मिण्यर्हतिवाक्य ७२२

मध्यान्तर धामा से।

अर्थ—मध्यान्तर—बीज में। अनुबन्ध—अनतिक्रमणाय न कश्चिने याप्य। अर्थात्—प्रकाश। अनुबन्ध-अनुबन्ध—अनुबन्ध पुन। अनुबन्धित—अति विनिमित्त अतिक्रमण। अनुबन्धित—अनुबन्धित स ऊपर।

अर्थ—अतीर और आत्मा क बीज में जो कार्य है वह एसी नहीं है जिसे पार न किया जा सकता हो। (अतीर और आत्मा क इस स्थिति स्थान की) मान क प्रकाश से अतिविकृत किया जाता है। अर्थात् मान के इस पुन का माध्यम इन दोनों की दूरी को जोड़ने वाला एकमात्र साधन है। पारोक्षिक माह का त्याग इतिहासे पारम्पर्य है कि हम अज्ञान के स्वर्णिम लेकिन मूढ़ स्वप्नों न निरुक्त कर उत्तरोत्तर जग में अपनी आत्मा का विकास करके उज्ज्वल जीवन क अधिकारी बन सकें।

विशय—अनुबन्ध-संज्ञक में उपर (मिथ्य) धर्मकार है। अर्थात् 'अनुबन्ध-अनुबन्ध' मात्र दर्शनीय है। इस अर्थ के अन्तर्गत की उप मोहक अणु को अतिविकृत किया है जिसके अन्तर्गत में एक कर मानव की बुद्धि अह-महापों पर अपने अज्ञान की आस्था कर बैठी है। यहाँ सम्भवतः अज्ञान का अतिविकृत अन्तर्गत के स्वर्णिम अन्तर्गत न है जो उसके अतिविकृत का एकमात्र कारण है और जीवन की उदात्त आदर्शों को अतिविकृत करने वाला है।

कुने भरते हैं।

शब्दार्थ—असंश्लित = अश्लित । गोपन = प्रच्छन्न अप्रकट । समाधि कानन = ध्यानावस्था । कासद्रुम = समय रूपी वृक्ष । गौरव = शान्ति ।

प्रार्थन—काल-वक्र क भारीं में पिठे हुए सांसारिक प्राणियों की अनुभव धीलता के इतिहास को वृष्टि में रख कर पृथ्वी मन्दिप्य के जीवन को उज्ज्वल बनाने की उद्भावना व्यक्त करते हैं—

अप—अब हमें स्वाम श्री अस्थि के स्वाद-सम संसार के मिष्यास्वाह को छोड़कर सब सन्ने भ्रान्त्य का भास्वाहन करना चाहिए जिसका आभास हमें अभी तक नहीं है। हम उन अश्लित विचारों को सुनें जिनमें आम का घरोवर महसूस रहा है और उन मुष्ट रहस्यों को पहचानें जिन्हें समाधिस्थ होकर काल-कल्पद्रुम से फूलों की तरह अपनी सुगन्ध बिकीर्ण करते हुए रस से परिपूर्ण ग्रहण कर सकते हैं। अर्थात् समय की गति ने हमें यह अनुभव प्रदान किया है कि मन्दिप्य में अपने जीवन को उत्तम बनाएँ सांसारिक निम्नताओं से ऊँचे उठें और उन अपठित पाठों को पढ़ें जो शोकोत्तर, कल्याणकारी पुण्य-सम सुगन्धित एवं शान्त घरस हैं।

बिरोध—'समाधि-कानन' तथा 'काल-द्रुम' में 'कल्प' तथा 'कृत्तुम-सपुत्र' में 'सुप्तोपमा' अलंकार है।

एह प्रतिशान्ति 'बाना है।

शब्दार्थ—प्रतिशान्ति = अश्लितान । आदिपित = अश्लित । अन्तःपत्मा = आध्यात्मिक तत्त्व ।

अर्थ—नामक कहता है—बहु सांसारिक सुख मोर्षों से उपराम स्त्री-पुरुष के लिए बियोग की अवस्था नहीं है किन्तु वेदम वैह-मात्र के मोह से ऊपर उठकर अध्यात्म तत्त्व की ओर अग्रसर होना है। अर्थात् सांसारिक कृप मञ्जूकटा से मुक्त होकर आध्यात्मिक अथवा क मुक्त वायुमन्त्रम में विश्ररण करना है श्री गुरु और गारी—बोनों के लिए ही अग्रस्त-कल्याण-वप है। जीवन का अन्त प्राप्त अभीष्ट भी है।

यह प्रदान रहे हैं।

शब्दार्थ—विमुख = मोहित करने वाले। प्रसपित = फेंकता है। बिन्बों = ध्वज, प्रतिच्छाया।

धम—शरीर-सोमा स परे हुत्तर पुक्करवा को जो भाग्य-रूप की प्रवृत्ति हातो है उसका मनाबक्रान्तिक बर्तन करते हुए कबि कहता है—पुरुष धम अपनी प्रियमी को विमुख नहीं से देखता है तो उसके हृदय म नहीं क रास्ते अपने भात्म-तत्त्व का प्रवेश कर देता है इसी प्रकार मारी को मौन घोभा पायी धपार प्रतिच्छाया भी मारी के हृदय से निकल कर पुरुष के हृदय में बर कर ली है।

(भाव यह है कि जर्म-सौन्दर्य स परे भी एक सौम्य है जो मारी और पुरुष को भात्मा का सौंभय कहा जाता है। प्रमी प्रमिका धारीरक-दाम्पत्य मोग स उठे म पाकर भात्म-तत्त्वज्ञता से ही पा सजत हैं। इससे ऊपर वाले नर को पंक्ति—बिह-धम से परे धगतरात्मा तक उठ जाना है। इस भाव को अधिक समस्त रूप म स्पष्ट करन में समथ है।)

यह प्रतिबन्धि प्रपयिनी मारी।

शब्दार्थ—धतिनागि = प्रतिबन्धण धम्मुत्थान। प्रमस्ति = स्तुति-पाठ। धमना = प्रबन्धना। उपत्यकाधो = पर्वत की ऊपरी भूमियों। नगपति = हिमानय। तु म = उच्च। शिवा = पावती। प्रमयिनी प्रमिका।

धम—यह धतिक्रमण धर्यान् मनुबत्त से ऊंभ उठकर देवत्व की धोर बड़ना—दो प्रमियों की बियोगाबत्ता नहीं कहना सकते धपितु मानव के सांसारिक उत्तापों स तप हुए रजत का स्नेहमिक्त गान्त परिवर्तन है। या म कहिए कि धनन्त प्रकाश प्रदान करने वाले धीपक की सो में स्थिर परिणति है। यह (धतिक्रमण) मानव प्रम की कोई निम्बा नहीं है धपितु देवत्व की धार बड़ने क कारण उसकी स्तुति है। इस क्रिया से मानव को ट्या नहीं जा रहा है धपितु ऊँच सक्य को समपित क्रिया जा रहा है। प्रस्तत परिस्थिति के त्याम में किसी प्रकार की प्रेम-हानि की गन्ध नहीं है परन्तु धनन्त में धपना मानवीय प्रम संजाने क कारण धतुम प्रम का संभव

है। यह अतिक्रमण (प्रेमोत्कर्ष) हिमालय की छाई में घनृष्टि हुए फूलदार पेड़ों को पड़ से फूनी तक उन्नत करके हिमालय के उच्च शिखर पर पहुँचाने का उद्-प्रयत्न है। अर्थात् महामहिम हिमालय (मानव के लिए ईश्वर) अपने अजस्र जल-स्रोत से समुत्पारित पाषप-समूह को (मानव समाज को) निम्न-स्तर से उठाकर उन्नत पथ पर स्थित करने की भावना का प्रतिपादन किया गया है। इसीलिए प्रत्येक प्रेमी तथा प्रेमिका स्वार्थ प्रेम का अतिक्रमण करके जब कैलाश प्राप्त (मानव्य का स्रोत) में पहुँच जाता है तो धिब और (प्रेमी) कस्बाण करने वाली एवं अक्षि प्रयाग करने वाली परम प्रेम का पार्वती (प्रेमिका) के समरूप हो जाती है।

बिद्योप—शास्त्रों में ऐसा सिद्ध है कि समुप्य जब तक स्वयं अपने को ब्रह्म न समझने मय जाय तब तक ब्रह्म-संज्ञ की संवृत्तिता से तेजस्वी नहीं बन सकता। कहा भी है—'ब्रह्म भूत्वा ब्रह्मार्थं यत्' और 'सिब-केवलोद्भू' अथवा 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि भूति-महावाक्य कवि के इसी भाव की शास्त्रीय पुष्टि करते हैं।

पर मधुवन का।

शब्दार्थ—'बु-साध्य' = कठिन। उद्भवत = उद्गत। मधुसिक्त = मधुरता से छिने हुए, अर्थात् मानव-सुमन वासनाओं की विषकन से विषके हुए।

अर्थ—उन्नति-मय की ओर बढ़ना कितना बु-साध्य है इसका अनुमान लगाते हुए कवि कहता है कि मानव की अपनी भौतिक आकांक्षाओं को त्याग कर भुक्ति नगर की यात्रा करने में कितना असमर्थ है। वह भाग उसके लिए कितना कठिन है। यह मानव इसलिए उस प्रघट्ट पथ पर घापे नहीं बढ़ सकता क्योंकि उससे उदात्त भावना कभी पंच पुण्यों के भीने भीने मकरंघ से भीने हुए प्रंबरों के पक्ष की तरह विषके हुए होने से उद्गत करने में असमर्थ होते हैं। यदि साहस बटोर कर मानव उन्नत-पथ पर बढ़ने का प्रयास भी करता है तो भौतिक आकर्षण उसे अक्ष-बीज में ही रोकने का प्रयत्न करते हैं। अथवा वे सांसारिक सुख आयातक रमणीय हैं तथापि इनका आकर्षण उन्नति-मय का अक्षरोप करने में पर्याप्त उदात्त है। यह इस प्रकार से मानव

दो घ्राह्य कालों की कल्पना करता है जैसे अमर की पुष्प की भीनी भीनी  
पत्र घीर मधुर मकरन्द का घाम्बार ।

इह प्रम की प्रगति का ।

साम्य—सदावस्थानी—वचन की मूर्ति अपरिपक्व ज्ञान की अवस्था ।

हृद देव—उपलोक । प्रेम—सांसारिक प्रेम ।

अर्थ—प्रम की अग्रमूर्ति यह शरीर ही है । अतः ज्ञान की अपरिपक्वता  
के कारण हम ध्यान-साध में जाने में असमर्थ रहते हैं । यह सांसारिक मोह  
हमें जीव में ही जकड़ लेता है । इस प्रकार यह सौन्दर्य प्रेम उर्ध्व प्रगति में  
बाधक है ।

उर्वशी

प्रतिक्रमण प्राप्ति हूँ ।

अर्थात्—उत्पत्ति—सांसारिक । मधु—धान्य-रस (इन्द्रिय-जनित) ।

पीठ-महिमा—वचनार्थों का पीठ मुण । पारिजात-द्रुम—वस्त्वृत्त । देवलोक  
का एक वृक्ष जो समुद्र-मंथन में प्राप्त हुए शीतल स्पर्शों में धाना जाता है ।  
यह इन्द्र को दिशा था । पुराणों के आधार पर लोगों का कहना है कि यह  
मनोवाञ्छित वस्तु को देने वाला है । एक क्षण तक इसकी प्राप्ति मानी गई  
है ।” (हिन्दी कथाकोष पृष्ठ ३१) । अर्कप—स्विर । अन्नोप्यु—वचन  
तथा उप्यु ।

अर्थ—देवताओं का मुख्य मुण पीठसत्ता होता है । इन्द्रिय-जनित भोग की  
याचना उनमें नहीं होती । शरीर के जीव इसके विनयीत वचन तथा उप्यु  
होते हैं । जहाँ यह वैराग्य की बात करता है वहाँ उसमें देवत्व तथा जहाँ  
यह वचन एव अन्न में अभिवृत्ति रखता है वहाँ मनुज तब के वर्तन होते हैं ।  
उर्वशी देवलोक की पीठसत्ता से अन्न कर इस उर्वरा शरीर पर उत्पत्ती थी ।  
मगर जिस पुराण पुरुरवा के शीतल में उर्वशी ने अपने घापको समर्पित किया  
था अब वह भी वैराग्य इन्द्रिय शमन तथा उर्ध्वलोक की बातें करने लगा  
है । अतः प्रत्युत्तर में उर्वशी कहती है कि—

अर्थ—हे पुरुरवा ! क्या इन्द्रिय जनित प्रमित धान्य का प्रतिक्रमण  
तुम की उर्वरा है ? (यह तुम क्या कह रहे हो ?) भूमि में तुम जिस पीठ

महिमा को जगा रहे हो उसे तो मैं देवभोक में कल्पवृक्ष की अर्कप छात्रा पर टांग धाई हूँ। अर्थात् विनाजनि से भावी हूँ और अपन तथा उच्छ मानवी के समान बनकर ही इस धरती पर जीने धाई हूँ। (यत् प्राप मेरे सम्मुख इत् देवभोक या उर्बभोक की महिमा का पान मत् करो। अपन मानवी रूप में ही मुझसे प्रेम करो)।

पर म बुम्बन से।

सम्बार्थ—उर-पीड़क=हृदय को पीड़ा देने नाम। अन्ध-भुट=दोनों धोष्ठों को।

प्रसव—मनुष्य का यह जन्मजात स्वभाव है कि वह किसी के रोکنे से नहीं रकता। इससे तो इसकी गति विकृष्ट हो जाती है। मगर नियत तथा याचना के सम्मुख वह अपना समर्पण अवश्य कर देता है। इस मानव-तत्त्व को मनोवैज्ञानिक रूप से समझ कर उर्बसी कहती है—

अर्थ—हे प्रियतम ! प्राप भूतक पर रहिए या प्राकाश पर (अपने बिल को खूम एवं भौतिक आनन्द में लगाइए या अन्धधुँसी होकर देवत्व को प्राप्त कीजिए) कही भी रहिए मैं आपके सवय से बाधक नहीं बनना चाहती। लेकिन मेरी एक बाचना अवश्य है कि प्राते बसस्वभ पर मेरा कपोल इसी भांति रहने दो और इसी प्रकार मेरे हृदय को कसमसाने नामे बुझ भासिगन में कसे रहो तथा अपने कठोर बुम्बन से मेरे धोष्ठ-त्रय को जलाते रहो।

बिन्तु माह् बाक्य है।

सम्बार्थ—निप्येपित=बिचला रबड़ना। निप्येपण=रगड़।

अर्थ—(उर्बसी की ऐसी प्रेमसिक्त बाणी सुनकर पुकरबा में पाश्चिक रूप उतर कर सामने आ गया। वह उर्बसी को अपने भासिमन पाश में बुरी तरह जकड़ कर उस कमी को बुरी तरह मसलने तथा। बाबिर बुरी तरह कसमसा कर उर्बसी को कहना ही पड़ा—) माह् ! ऐसा मत करो ! अपनी मुजाओं को बोझा सा धिभिल करो। यद्यपि बाबोरक में किया हुआ यह निप्येपण हृदय में एक मर्मन्तिक घाति तथा अमित आनन्द का उदय करता है मगर फिर भी तुम इतनी जोर से मुझ निप्येपित (रबड़ो) मत करो।

तुम पर्वत—'जाऊंगी' ।

अर्थ—बसबत्तर=बसबास । काम=कृप ।

अर्थ—हे प्रियतम ! यदि तुम पर्वत हो तो मैं उसके चारों तरफ़ त्रिपटी रहने वाली लता हूँ । यदि तुम अपनी बसबत्तर बजाओं से मेरा इतनी जोर से निष्पण्ड करोगे तो मैं तुम्हारी बड़ भुजाओं में ही विह्वल, प्रम-रस से व्याकृत एवं हृष्ट होकर मूर्च्छित हो जाऊँगी ।

विशेष—कवि ने प्रेमी तथा प्रभिका की पर्वत तथा लता से संयति बिटाई है । वह न तो तर्कसंगत है न स्वाभाविक है और न ही यथापुण । पर्वत के सामने लता का उपमान तो ऊँट के मुँह में खीरे वाली बात हो गई । यदि पर्वत के स्वाग पर लता का उपमान दिया जाता तो प्रभिक स्वावनीय होता क्योंकि लता कुछ स ही त्रिपटी है पर्वत से नहीं । इस प्रसंग में 'प्रसाद जी तथा श्री धोत्रप्रकाश शर्मा' के निम्न उद्धरण प्रभिक प्रसंगनीय हैं—

मैं अभी सोलने का करती

उपहार, स्वयं तुम जाती हूँ ।

भुजलता फँसा कर गर-सब में,

भूने सी भोंके जाती हूँ ।'

—प्रसाद कामायनी

×

×

×

'बर्षों से बिछुड़े घमरों का निरबल बुम्बल  
रखती लता का तामबुस से धालिबल ।

—धोत्रप्रकाश शर्मा

ना, यों नहीं पर ।

अर्थ—हीनूक=नबाप । मगपति=हिमालय । चतु ग=ऊँची ।  
गुँनों=चोटियों । मोसि=बाल मस्तक । मुर्गाक=बग्गमा । उप्पीय=  
पपड़ी । जामाठाप-कूटिम=छाया एवं जादनी का (रंगबिरना) कस ।

अर्थ—(पुकरवा के धारीरिक प्रेम का उद्यम बेग बेख कर उर्बसी कुछ  
बदल सी गई है । वह अपने प्रियतम का ध्यान अपने स हटाकर प्रकृति की



महिमा को जपा रहे हो उसे तो मैं देवलोफ में कल्पवृक्ष की धरूप छाया पर टांग धाई हू। अर्थात् तिसांजनि से धायी हू और जपस तथा उष्ण मानवी के समान बनकर ही इस धरती पर जीने धाई हू। (यह धाय मेरे सम्मुख इस देवलोफ या उर्बंलोफ की महिमा का गान मत करो। अपने मानवी-रूप में ही मुझसे प्रेम करो)।

पर, मैं बुम्बन से।

शब्दार्थ—उर-नीड़क=हृदय को पीड़ा देने वाला। अक्षर-गुट=दोनों घोड़ों का।

प्रसंग—मनुष्य का यह जन्मजात स्वभाव है कि वह किसी के रोکنे से नहीं रुकता। इससे ता इसकी प्रति त्रिगुणित हो जाती है। मगर जितन तथा याचना के सम्मुख वह धपना समर्पण प्रकल्प कर बैठा है। इस मानव-तरु को मनोवैज्ञानिक रूप से समझ कर उर्बंशी कहती है—

अर्थ—हे प्रियतम। धाय भूतल पर रहिए या आकाश पर (अपने जित को खून एवं भौतिक धान्य में लगाइए या अस्तमूर्त्ती होकर देवत्व को प्राप्त कीजिए) कहीं भी रहिए मैं धायके लवय में बाधक नहीं बनना चाहती। जिकिन मैरी एक याचना प्रकल्प है कि धरते बलस्थल पर मेरा कपोल इसी भाति रहने की और इसी प्रकार मेरे हृदय को कसमसाने वाले बुद्ध धानिजन में कसे रहो तथा अपने कठोर बुम्बन से मेरे घोष्ठ-इव को बलाते रहो।

किन्तु, धाह बाधक है।

शब्दार्थ—निष्पेपित=विषना रगड़ना। निष्पेपण=रबड़।

अर्थ—(उर्बंशी की ऐसी प्रेमसिक्त बाणी सुनकर पुकरवा में पाषणिक रूप उमर कर सामने आ गया। वह उर्बंशी को अपने धानिजन पाश में बुरी तरह बकड़ कर उस कमी को बुरी तरह मसलने लगा। धानिज बुरी तरह कसमसा कर उर्बंशी को कहना ही पड़ा—) धाह! ऐसा मत करो! अपनी भुवाओं को बोड़ा सा दिखिस करो। यद्यपि आशोशक में किया हुआ यह निष्पेपण हृदय में एक मर्यादिक धानि तथा धमित धान्य का उपय करवा है मगर फिर भी तुम इतनी ओर से मुझे निष्पेपित (रबड़ों) मत करो।

तुम पर्वत आऊंगी ।

अर्थात्—बसवतर—बलवान । धाम—कुम ।

अर्थ—हे प्रियतम ! यदि तुम पर्वत हो तो मैं उसके चारों तरफ निपटी खड़े बाकी सदा हूँ । यदि तुम अपनी बलवतर मुजाओं से मेरा इतनी ओर से मिलेपस करोगे तो मैं तुम्हारी बड़ मुजाओं में ही बिह्वल, प्रमत्त से व्याकुल एवं हस होकर मुछित हो आऊंगी ।

विशेष—कवि ने प्रेमी तथा प्रेमिका की पर्वत तथा सदा से गति बिटाई है । वह न तो ठरकमत है न स्थायी है और न ही यवानुग । पर्वत के गामने मत्ता का उपमान तो छंट के मुँह में पीरे बाकी बात हा गई । यदि पर्वत के स्थान पर तब का उपमान दिया जाता तो अधिक स्थायी होगा क्योंकि मत्ता बल से ही निपटती है पर्वत से नहीं । इस प्रमत्त में 'प्रभाव की गया' भी प्रोत्साहक अर्थों के निम्न उद्देश्य अधिक प्रागन्गीय है—

मे आभी तोसने का करती,

उपचार, स्वयं तुल जाती हूँ ।

मुकलता कंता कर नर-तब में,

कूमे लो भोके जाती हूँ ।'

—प्रभाव कामावनी

×

∕

∕

'अपों के बिछुड़े अपरों का निरखल बुझल,  
रखती मत्ता का तालबल मे प्रसिधल ।'

—प्रोत्साहक नामों

वा लो मती 'पर ।

अर्थात्—कीनुक—महाग । गगति—दिशापथ । उगुल—ऊँची ।  
गुली—बोटियों । मौलि—मात, बलक । बुगाड—बगमा । उगुली—  
पपड़ी । आमागप—कृष्टिय—छाना एवं बाँदनी का (गुगिगिता) अर्थ ।

अर्थ—(पुष्पा के शर्करित प्रेम का उद्यम सेग इत का उईरी बक  
बगल लो रई है । वह धरने प्रियम का ध्यान करने के इच्छा प्रहृति की

सुपमा की धार भीचना चाहती है। यह बिभरु भी शृंगार रस के 'उर्ध्वपन' में अधिक वृद्धि करता है। ना। ऐसा मत करो। अर्थात् इतने कठोर धार्मिक-वास में मुझे मत धकड़ो अपनी तरफ से प्रमी का ध्यान हटाकर उर्ध्वशी कहती है कि देखो उभर कितना सुन्दर रूप है। हिमालय की ऊँची ऊँची समुद्रतल तथा हिम-भूयित चोटियों पर यह कौन है जो नई समुद्रतल की कूची सी फेर रहा है? (यहाँ चन्द्रमा बिभकार है तथा उसकी धीतल एवं समुद्रतल किरणें तूषिका के समान हैं)। (देखो) कुछ बूझों क हरित भास तथा पत्तों से छनती हुई अग्रमा की किरणें भीजे छाया देकर उन पर सेट सी गई हैं। (यहाँ उर्ध्वपन का चर्मरूप प्रतिपादित हो रहा है)। यह रूप-साहू की बानी बंश-बाँवली से स्वयं ही निर्मित की है। ऐसा जनता है मानो कैसे धीर सफ़द संमरमर के फल पर बन के सारे बूझ पीताम्बर पपड़ी बाँध कर गिर्णप एवं भीम बड़े हैं।

बिभेब—उपरोक्त पंक्तियों में उचित भाव का उर्ध्वपन करने के लिए 'उर्ध्वपन विभाव' का हृदयघाही बिभरु है। प्रमुख संस्कृत एवं हिन्दी के आचार्यों के आधार पर 'उर्ध्वपन विभाव' की शास्त्रीय परिभाषा इस प्रकार है—

उर्ध्वपन विभावास्ते रसमूर्ध्वपयन्ति ये  
 भात्मन्वनस्म चेष्टाया देवकीनाभयस्तया ।

—बिभरुनाथ साहित्यदर्पण ३ १३१।

अर्थात् रस को उर्ध्वपन करने वाली भात्मन्वन की चेष्टादि तथा देवकीनाभ का स्थितिमा उर्ध्वपन विभाव है।

'भाचार्य देव के अनुसार—

रसहि अगार्थ शीप नवीं  
 उर्ध्वपन कहि सोइ ।

—देव भावविज्ञान विभाव ।

नाम यह है कि भायय के हृदय में उत्पन्न उचित भावि स्थायी भावों को अधिकधिक उर्ध्वपन तथा तीव्र करने वाला कारण उर्ध्वपन विभाव कहा जाता है।

“प्रातस्त्रय की ज्येष्ठा तथा सोम, काम प्राणि को उद्दीपन विभाव माता जाता है। —हिन्दी साहित्य कोश उद्दीपन विभाव : १३७।

प्रतकार—उत्प्रेषा।

बमक रही लपटा है।

प्रथम—रूप-भूमि—(बादली रूपी) रूप को भूमि। दिग्बुधों—दिग्बुधों की बुधों। धानन—भूमि। रजनी—राज (नायिका)। प्रविष्टता—पक्ष की शीतो उष्ण प्रवेग। नौमूषा—बादली। महो—बरती। ध्योम—ध्यान।

धर्म—(रति प्राण की परिपुष्टि के लिए उपरोक्त ‘उद्दीपन-विभाव’ का ही चित्रण दिया जा रहा है। जबकी यह रही है कि) निम्न रूपी बुधों के मुखों पर मानो रूप की भूमि जिसका बण्ड बनेत होता है बमक रही है। (यह एक नायिका के समान है जो प्रेम की गम्य से सुभावित है यह रुचि कहता है कि)—रजनी इतनी हृदय को पीतल एवं मादक बनाने वाली हो गई है जैसे उसके संपर्क पर किसी ने बरत का सेप कर दिया हो। (संसे की कामी रजनी पर श्वेत जगन्मा की बादली बदन के समान सगठी है)। ये कामने बिसाई हैने वाली पक्ष-उत्प्रेषा (उष्ण प्रवेग) दिन में तो इतनी बड़ी बिसाई नहीं दे रही थी जबकि धर्म न जाने क्या हुआ कि धर्म में धन्यता सागर के समान लहलहाती हुई नजर आती है। (मच्छा के घाघार पर प्रविष्टता सर्वमी के प्रेम की महत्कारणा है जो दिन की तपन में इतनी बड़ी हुई नजर नहीं आती थी मगर रति के इस निस्तब्ध बातावरण में वे महत्कारणा सागर के लहरों की तरह मूक रही हैं, जिन्हें वह प्रवित्यका के उद्दीपन-विभाव से नायक पुष्करवा को बसाना चाहती है)। मिथीव की मनोरम बादली ने पृथ्वी (स्थिति) तथा धाकाण (पुस्तिका) के बीच डूपी को भी कप कर बिना है। (मू और धाकाण यहाँ पर प्रमी तथा प्रेमिका पुष्करवा तथा सर्वमी के प्रतीक हैं। दिन में धनेक सांसारिक बधनों के कारण दोनों को एक-दूसरे से बहुत दूर रहना पड़ता है—मगर रात की दोनों परस्पर निकट या जाते हैं)। जबकी का पृथ्वी (प्रमिका) कुछ ऊपर की

घोर उदरी हुई जपती है और आकाश ऐसा समता है जैसे झुक कर उस पर छा जाता चाहता हो ।

बिद्योप— उठी हुई-धी मही शोम कुछ झुका हुआ लगता है । इस भाव के अनुबन्ध ही दिगंबर जी ने प्रथम पृष्ठ पर भी गटी के मुस से दो पंक्तियाँ कहलाई हैं ।

‘सारी बेह समेट निबिड  
 भासियन में भरने को  
 पगल खोल कर बाहू बिनुब  
 बसुपा पर झुका हुआ है ।’

ऐसी पुनरुत्थिति होने पर भी भाव के सींगदम में किसी प्रकार की गीरसता नहीं आ पाई । कारण व्यक्ति की कल्पना सभित बड़ी प्रखर है जो जसी भाव को कल्पना की इन्द्रजमुषी दूतिका द्वारा नागा रंग मयी बना देता है ।

इसी भाव को भाव और भाषा के धनी, तबोदित कसाकार श्री शोम प्रकाश शर्मा ने भी व्यक्त किया है । यथा—

‘बहु दूर निबिड के बरदे के पीछ जो हलचल होती है  
 बसुपा नय की बुड़ बाहों में धमिलार सैब पर सोती हैं ।’

—शोमप्रकाश शर्मा सु पता अन्तर

रस प्रसन्न विदे हों ।

अन्वय—बहुदिक = चारों दिशाओं में । निबिड = सम्पूर्ण । मनसिब = कामदेव ।

अर्थ—बिड में रस का उद्रेक करने वाली चन्द्रमा की मधुसिक्त किरणों चारों दिशाओं में ऐसे उमड़ रही हैं मानो कामदेव ने सम्पूर्ण सृष्टि के प्राणों में कंपन करने के लिए अपने बाण छोड़ दिए हों ।

बिद्योप—‘उद्रेका सर्लकार ।

पुकरवा

हां समस्त घूम रही है ।

सध्याब—विस्मृतियाँ=पुरानी स्मृतियाँ। निस्तन समाधि=मस्तगुं ह  
 कबेदन मग। अत्रिका=अत्रमा की चित्रणें। सलगा में इसका अर्थ  
 गा—प्रेमसी का स्मरण।

अर्थ—(ठाटोकर पंक्तियों में उभरी द्वारा उद्घोषन-विभाब का बर्णन  
 क्या क्या है। धब प्रयुत्तर में पुकरवा कहते हैं कि) हां, सम्पूर्ण नममभ्रम  
 गिरवता के धान्य सौन्दर्य से प्राप्तावित है। अत्रमा मुद सीतल एवं  
 निष्पार हृदय के समान भमक रहा है। (इस नीरव एवं मधुमिक्त बातावरण  
 में) पुरानी स्मृतियाँ, (जो कि कास की गहराई में मुक्त हा गई थीं), पुन  
 निस्तन समाधि से बाहर निकल कर (पुरानी यादों को ताजा कर रही हैं)।  
 ऐसा प्रतीत होता है जैसे अत्रिका कपी मेरी नायिका मरे उमद चित्त कपी  
 स्वप्नलोक में विचरण कर रही हैं।

विशेष—उपमा उत्प्रेषा।

और पदम अर्थ हैं ?

सध्याब—धान्य जीव=तारे। धरष्य=अदम। कूपों=कूप।  
 अत्रमृतिनिमित्त हिमकण्य=अत्रमा की चित्रणों को पीम कर बनाए गए बर्ण  
 के छोटे-छोटे मंग। धात्रम=बाप। रंघों=छिन्न। पित्त=कबेठ। पापवत  
 =हाथी।

अर्थ—नीचे धाकाध नर धाभ्रमरित तारों की विभिन्न कल्पनाएँ करता  
 हुआ पुकरवा उभरी से कहता है—

और धाभ्रम पर जो धसंभ्र धान्य-जीव (तारे) बैठे हैं वे ऐसे प्रतीत  
 होने हैं मानो किसी कुपसे अंजल में छोटे धाधि के कूपें हों (जिनमें से उनकी  
 यह धाना प्रतिपादित हो रही है)। धयबा अत्रमृति-निमित्त-हिमकण्य (धोच  
 किनु) किसी बाग में भमक रहे हैं। धयबा धाकाध के छिन्नों में कबेठ-बर्णों  
 पापवत (हाथी) बैठ गया है, या ये कल्पवृक्ष के पुष्प हैं (जो सम्पूर्ण नम  
 मगद में विलर मदे हैं)। धयबा कवि कल्पना करता है कि ये धिष्यलोक की  
 अम्तराधों के देवीपमान नेत्र हैं।

विशेष—उत्प्रेषा तथा उन्नेह धसंकार।

पुसुरवा तथा उर्बंशी का विभक्त किया है। अतः यहाँ अग्रस्तुत प्रघंसा' अर्थात्कार हुआ। अग्रस्तुत प्रघंसा की परिभाषा इस प्रकार है—

अग्रस्तुतप्रघंसा या सा सब प्रस्तुताभय ॥६८॥

अप्राकरणिकस्वामिबानेन प्राकरणिकस्वाम्येपोऽग्रस्तुतप्रघंसा ।

—मम्मट काव्यप्रकाश उन्मास १० २००

पुसुरवा

असकम्भ सेती है ।

अर्थार्थ—असकम्भ=अह-मण्डल । अग्रमित्त=अग्रमा का कलक भूमित अग्रमा । बिबस शत्रु=अग्रमा । धात्री=उपमाता या माता । धर्बरी =धारद-प्राणिमा को रात । उपन-विभु=स्वेदकण पसोना । अमहारी=पकान को दूर करने वाली । तिमिरांशु=अंधकार हरी पर्व। निशाय=घाबाब ।

अर्थ—अग्रमा तथा रात्रि की महिमा का मुण्णान करते हुए पुसुरवा कहता है—

अग्रमा अतिमिस करते हुए भावों के मिय अहमण्डल तथा स्वर्गों के मिये अपने भूमित स्वल्प के समान है। (और) स्तम्भ रात्रि इमारी संरक्षिता एवं माता क्या है। जब धारदी निशा प्राठी है तो वह बिबस के प्राणियों के पसीने तथा सफ़र किरणों के सने हुए सांछन को ही नहीं पौँछती अपितु अपने तिमिरांशु में जो अम का हरण करने वाला है, अशुक है तथा शान्ति प्रदान करने वाला है सम्पूर्ण निखिल के कोसाहल अर्थकर घाबाबों को भी समेट कर रत सेती है ।

विशय—इस पद्यांश की प्रथम दो पंक्तियों का अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है—

‘यह दिन हृदय में अतिमिस करत बाल भावों एवं अग्रमा के समान मधुर स्वर्गों का शत्रु है।’

उपरोक्त पद का भाव यह है कि दिन की कक्राता में हृदय के कोपस तन्तु पस्नचित नहीं हो पाते। अतः निरस्तम्भ रात्रि ही एक ऐसा माध्यम है जो अपने गौरव बाठावरण में मानव-हृत्तन्त्री को निराहित कर देती है और





‘कामायनी’ के माध्यम से प्रसाद ने मानववाद का धारण सक्षम बर्णन किया है।

—हिन्दी साहित्य कोष मानववाद १२

उपरोक्त विद्वानों के आधार पर ‘कामायनी’ से ‘मूमा’ के कुछ महत्वपूर्ण उद्धरण प्रस्तुत हैं—

“घपने में भर सब कुछ कसे,  
व्यक्ति विकास करेया।

यह एकान्त स्वार्थ है उसका  
धनना नाश करेया ॥

घोरी को हसते बेको मनु  
हूँतो घोर तुल पावो।

घपने मुझ को विस्मृत करके,  
सबको सुधी बनाओ ॥’

× × ×  
‘सतरस घे बड़ या बेतन

मुन्दर साकर बना था।

बेतना एक विकसती

मानव संकण्ड घना था।

—प्रसाद : कामायनी

समता मयी महाकरण में।

शब्दार्थ—प्रसरण=मीन। महाकरण=गहन परवा।

धर्म—जब राजा नेव भाव को भूलकर एवं उदारमता बनकर अपना हीतव्य धर्म फेंकती है तो राजा घपने मुकूट तथा बन्धी घपनी काज-कोठी की कड़ियों को भूल जाते हैं। नाब यह है कि निष्ठा-भा को घोर में धारण राजा घपने घापको राजा नहीं समझता और बन्धी घपने घापको बन्धी नहीं मानता। उसके हीतव्य धर्म में मुह छिपाने पर वे घपनी सभी दुष्कर्म भावनाओं को भूल जाते हैं। उस समय सम्पूर्ण जनता की चेतना किसी अनिर्बचनीय, मुकूट माया के गहन महाकरण में गीन होकर बहती है।

विशेष—इस पर में 'निधा' का मूलिकरण 'उदारमता मपठामयी मारी' के रूप में किया गया है। संस्कृत के एक कवि ने 'उदारता' की परिभाषा निम्न प्रकार से की है—

अथ निध. परो वेति  
 यत्ना लघुभेतसाम् ।  
 उदारचरितानां तु,  
 वसुधैव कुटुम्बकम् ॥”

निधा का यही उदार रूप उपरोक्त पद्यांश में निधा के लिए बयित किया गया है।

साम्राज्ञी विभाट पूर्णों के।

अन्वय—साम्राज्ञी=महाराज्ञी । विभाट=शानमण्डल से प्रकाशित 'बहुत हिन्दी कोष में इसका अर्थ बड़े-बड़े मद्रकड़ी तथा बाण्ड के रखा है। मगर यह शब्द साम्राज्ञी के लिए विद्यपण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। अतः यहाँ पर इसका अर्थ होगा—'अर्थकार से दीप्त'। ब्रह्म=कनक रुपट्टा। कृत-कीर्ति=किनारों पर लड़ी हुई। विदूर=बाण । दाम=माता या लकी।

प्रसंग—कविदर बिनकर ने इस पर में राशि का अर्थकारों से दीप्त मनोरम मारी के रूप में मालकीकरण किया है।

अर्थ—पुरुषवा उर्ध्वी से कहता है कि क्या कभी तुमने अर्थकारों (साधुपणों) से दीप्त (ऐसी) साम्राज्ञी को समारोह-प्राण में बाँटे हुए देखा है जो ऐसे स्वाम अर्थों से प्रायुषिण है जिस पर तारे (सिस्मे-सितारे) गोमित हैं। दाम की मन्तर विभा से सुमिष्ठ है और जिसकी धनकावली में दीप्त एवं सुदमिण पुण्यों की सकिर्मा गोमाममाम हो रही है।

विशेष—'संग्रहण' द्वारा यहाँ विभाट साम्राज्ञी राशि है। इसकी कल्पना साम्राज्ञी के अर्थ है। सिस्मे-सितारे प्राकाश में अमकते हुए तारे हैं। दामन की मन्तर अग्रमा की आम्बन्धमान किण्वें हैं। इसी प्रकार कायिका के शान विभा का समस तथा स्वैत पुण्यों की लड़ी अग्रम-मण्डल है। पूर्णों

यहाँ रात्रि का घमस्तुत रूप में बर्णन किया गया है। यत यहाँ घमस्तुत 'घमंसा' घमंकार भी है।

इन पंक्तियों में एक और बड़ी बिचपटा है। 'काव्य का उदात्त तरह' हममें बड़े स्वामाधिक रूप से बिचित्र हुआ है। नदान-रहित इतनी बिचारा निरा की कल्पना की सुसिद्धा से एक रमणीय मारी का रूप दे देना वास्तव में समर्थ कवि की ही बिचपटा है। इतनी बिचारा रात्रि को रमणीय नायिका के बीछटे में सहज रूप में बीच देना कम बसाप्पीय नहीं है। वास्तव में जिस कवि के काव्य में 'उदात्त तरह' की जितनी अधिक प्रचुरता होगी वह उतना ही घासवत काव्य प्रयुक्ता होगा और उसका प्रभाव उतना ही अधिक स्थायी होगा। प्रसाद और 'निरासा' के काव्य में इस तरह की प्रचुरता है। यहाँ 'विमलकर' ने रात्रि का नायिका के रूप में उदात्त बिच बीचा है वहाँ प्रसाद के काव्य का वह धंध देखिये जिसमें उपा को मारी का उदात्त रूप दिया है—

बीती बिनाबरी जागरी

घम्वर पनघट में बुका रही

ताराबट ज्या मायरी ।

—'प्रसाद'

निरासा की 'रात्रि की शक्ति बुका' की प्रथम तीन पंक्तियाँ भी दर्शनीय हैं—

'रात्रि हुआ घम्वर'

ज्योति के बज पर लिखा घम्वर

रह मया रात्रि-रात्रि का घम्वराज्य समर प्राण का —

—स्व० 'निरासा'

घौर सुना है करती है ?

घम्वर—घम्वर—घम्वर । बीचों बसुन—रेचमी बसुन । घम्वर—  
महम का घम्वर । प्राचीरों—दीवारों । सम्बित—घटके हुए ।

घम्वर—जब (निद्रा रूपी) रात्रि मरित गति से उज्ज्वल चाँदनी में बिहार करने के लिए निकलती है तब क्या कभी तुम्हें मटकते हुए रेचमी घुपट्टे के मरु-मरु घम्वर से उदरम घम्वर से दिन संकीतमय ध्वनि सुनी है। यह

घोषन ऐसा है कि कभी मणिमय छत्रों पर से तथा कभी मोतियों (तारों) से ढाँधित आकाश-रूपी दीवार पर से उठता हुआ बुष्टिकण होता है।

विशेष—इस पद की अन्तिम पंक्ति से यह स्पष्ट होता है कि कवि ने निदा रूपी मासी को 'रूप-निदा' नायिका के रूप में दर्शित किया है। 'रूप-निदा-नायिका नायिकाओं के अन्वयानुसार स्वतन्त्र विभाजन का एक भेद है।

हिन्दी साहित्य कोष पृष्ठ २५६ पर 'रूप-निदा' की व्याख्या इस प्रकार की गई है— 'अपने सौन्दर्य पर गर्व करने वाली नायिका—'आँसूँ अपने रूप को प्रति हो होय सुमान। (मतिराम रसराज १०४) कभी यह पद नायिका की स्वतः प्रकृति में भासित होता है और कभी अन्वय की उक्ति द्वारा प्रकट किया जाता है। मतिराम की यह नायिका स्वयं प्रबोद्ध करती है— 'बिन तू नें मुखजन्म को लखि ललचात बकोर' अतः उसका माना नहीं हो पाता (बही १०६) पदभाकर ने अन्वय की उक्ति में नायिका के पद की व्यञ्जना की है—'अन्वयमुझी कहूँ होती बुझी सी म कोऊ कहियो सुझी रहियो करो। (भा० वि० १ १३६)। इस रूप सम्बन्धी पद्य के माध्यम से कवियों ने नायिका के रूप-सौन्दर्य का अत्यन्त और उद्दामक बर्णन किया है।

निदा-सावित्री कास-गह्वर से ?

शब्दाव—श्रेष्ठ=बोँसमा। स्फुटिक मदन=(स्वेत)संगमरमर रूपी महस। व्योमि=बन्धुमा की फिरछें। कौमुबी=बाँदनी। दृश्य-अर्थ—ये काम्यशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं। जिसे नेत्रेन्द्रिय द्वारा देख कर ध्यान का उपयोग किया जाय उसे दृश्य तथा श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ध्यानव ग्रहण करने को अन्वय में अर्थ होता है। भुवियों=कामों। सुन्दर्या=सुन्दर नायि। यहाँ कवि ने सुन्दरता के अमूर्त रूप को रूप प्रदान करने का सफल प्रयास किया है। 'प्रसाद बी' में भी कामायनी में स्वात-स्वान पर अमूर्त नायि का मूर्तीकरण किया है। जैसे 'लम्बा'— मैं बह हल्की सी मसस्त हूँ। जो बगती कामों की मासी। —बिर विस्मृत=अन्त काल से मुझसे हुए। पुपतन=प्राचीन। काल-गह्वर=(मूठ) काल रूपी गुफा से।

धर्म—मिठा धामि का मोड़ है, (इसकी मोड़ में धामय सेने पर किसी प्रकार की धामि हृदय के धामि न घोर नहीं करती।) भक्ति फिर भी इस सुधमि संयमरर रपी धमन (प्रकृति जिधका धरु-धरु धामि से धामि है) से कोई पीठ धमि की धिरणों के धाम-धाम धामे धतठा धमा धीठ धकठा है। यह धीठ धमा से धामा ? इसे धीम धाठा है ? इन धमकी एक धिधाम धमि धरते धुए धुकरधा धकठा है कि धा तो स्वय धामि ही धीठ धाते धुए धिधरुण धर रही है धमधा धारों धार धाए धाए धधुर धान धो धामि धमि धिरणों क धूने पर धेर धरु रही है, धमधा यह धिधी धोई धुई धुधर धमणी धो धुधरता का धी धिधरुण है धो धिधधामों से धमिठ धोने धामि धधुर धामि है धो धुधय धमधा धम्य धमकर धानों में धमा रही है। (धम्य में धमि एक धधुत ही धधुधु धमि धरता है। धमका धकठा है कि) धमिधय धधु धम्यी धमधि से धुधा धिए धामे धाम धिधी धामि धमि धी धमि धी धो (धुध) धाम धुध धधु धुध ध धिधम धर धध धिधधय धमि में धु धरु धी धी है।

धिधेध—धीधुधी धधा 'धुधरता' धधि धधुधं धामों का धुधधिरुण धिधध धधा है। 'धधिध-धधन' धधा धध-धधुर' की धरिधध धध धध धधर है—

धध धधधेध धो यह धिधधय न धी कि धधधधिध धधु धे है धधध धे है। धीसे एक धीठ धधधरुण धी धधधध है—

“धारी है धि धारी है धारी है धि धारी है  
धारी ही धी धारी है धि धारी धी धी धारी है।”

‘धिधध’ के धी धी धध धो ‘धधधधनी के धधधध’ धधे में धी धधधधर धधधध’ ने धध धधर धधध धिधध है—

“धध के धुधधधध धधध धे  
धधिधधध धधध धधध धधध धधध ।  
धधधध धिधध के धधधधध धीधध  
धिधु धधे धध धध धधध ।

आतप तापित जोवन-सुख की  
 क्षातिमयी छाया के देश !

हे अमृत की यचना ! देते  
 तुम कितना मधुमय स्रवित !

—प्रसार : कामामयी प्राणा ४७ ४८

यह अभाव 'जाते हैं।

शब्दार्थ—निरचेत = अचेतन ।

अर्थ—पुकरवा उर्वशी से कहता है—इस समय प्रकृति की यह सुपमा अभाव और अनन्त है जिसकी प्रशस्त बात में हम अपनी बेतना को भूल कर (अभाव दिया की ओर) बहे बने जा रहे हैं ।

उर्वशी

अतम, अनादि 'अपेक्षा है ।

शब्दार्थ—बुद्धि = परिबद्धित । निमित्त = कारण । संवत्सर = साध वर्ष । पत्रक = पत्र । सफटक = सत्ता विपद् । सनाशन = वास्तव । निरवत = अचतना = रीति । अकूल = कूल अभाव तट से रीति । विधिस = बाण ।

प्रसंग—पूर्व पर की अन्तिम पंक्ति में पुकरवा ने उर्वशी से प्रश्न किया था कि हम दोनों अपनी बेतना को भूल कर कहाँ बहे जा रहे हैं । ये पंक्तियाँ इसी प्रश्न का ठोस उत्तर हैं । उर्वशी का कथन है कि प्रेम की ऐसी सम्पुक्त अवस्था में प्रती तथा प्रमिता देश-काल की सीमा से परे हृदयाकाश के ऐसे लोक में पहुँच जाते हैं जहाँ भावना स्थिर हो जाती है । यह अवस्था 'सहज समाधि' की है जिसमें सावक अपने सत्य को पाकर उसी को अपना आत्मसमर्पण करके निर्द्वन्द्व हो जाता है ।

अर्थ—यह (हृदय कपी) आकाश अतम अनादि अनन्त पूर्ण एवं परिबद्धित है । इसमें किसी प्रकार की सीमा रेखा नहीं खींची जा सकती । इस महाअवस्था में साण पक्ष दिन वात तथा अथ ऐसे सबसे हैं जैसे काल क विपद् से भटक रहे हों । हे प्रिय ! तुम अपने हृदय कपी पत्रक को समेट लो जिसमें तुमने अत्यन्त उच्च को पत्र अङ्गी, अथ उच्च अजायित की अङ्गी में अङ्गीकृत उच्च है । वात यह है कि यदि देश-काल के बीतते में ही हम बने रहे तो क्या हम प्रेम

की सहाज पृष्ठ-भूमि पर खड़े पहुँच सकते हैं। यद्यपि वेद्य-काल से परे हट कर चेतना-रहित होकर धाम्नि के इस अकूत प्रवाह को बहने दो। इस धाम्नि की पीयूषपात्र को (काल रूपी) अपने हाथों में बाँध कर मत रखो। (पुकरवा के प्रकृत का उत्तर देते-देते उर्बची प्रेम के ऐसे अन्तःस्थित चिह्न पर पहुँच जाती है जहाँ पर क्षीर-वत् सभी निम्नार्थ सूम्न हो जाती है। यद्यपि उर्बची कहती है—) यह कौनसी समाधि की उत्प्रेक्ष्य है जिस पर अस्तित्व होकर चेतना ने अपनी संज्ञा सुप्त कर दी थी प्रेम का जो बाण हृदय के इस अन्तर में उर्बन्धित गति से उड़ता चला जा रहा था वह ऐसा सम रहा है जैसे स्थिर सा हो गया है।

विशेष—जाय यह है कि प्रेम में एक अवस्था ऐसी भी होती है जब चेतना निस्पन्द एवं संज्ञाहीन हो जाती है। इस अवस्था में चाँहि समाज या देशगत रुझिया अवस्था परम्पराएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं और बीच 'बावण' बनकर उसी महासूम्न में अपने अंत को मिला देता है।

अर्थकार—'सकलक से' में अपना अर्थकार है।

पुकरवा

सको समय-सरिते 'सूर्य-देवी पर।

सम्बन्ध—समय-सरिते = समय रूपी नदी। कास-सकल = कास रूपी बँड टुकड़ा। चटिकाघों = स्वयं-बहु संन प्राचीन कास में एक छोटा सा पड़ा होता था जिसमें दिन की चटिका माकूम की जाती थी। सातुर = अक्षय। समापन = समाप्ति। नसक-निलक = नसक रूपी घर या मोर में।

अर्थ—पुकरवा के लिए साध की रात कलस की रात है। यह चाहता है कि यह रात कभी न बीते तथा विकास (वर्तमान भूत तथा अविद्य) किसी नसक लोक में जाकर छिप जाए क्योंकि प्रातःकाल घाटे ही संसार का कोसाहत प्रारम्भ हो जाएगा और अमेधी का पुष्प-रस मेरे हाथ से जाता रहेगा।

अर्थ—हे समय-सरिते ! हे काल-बँड ! हे चटिकाघों ! ! ! कम से कम पक्ष अथवा अनुपक्ष के लिए तो रुक जाओ। इस प्रकार अक्षय होकर

तुम (समय, काल) किस लक्ष्य की ओर उड़े जा रहे हो। (किस प्रकार) उर्ध्वगामी जीवन की गति की कोई सीमा नहीं है (उसी प्रकार हे समय ! तुम जाहे कहीं तक जसस जसो मगर तुम्हारी कहीं मंजिल नहीं है जहां उतर कर तुम जगु घर के लिए चैन की दशास भी ले सको)। यही दशा इस प्रेमोन्मुक्त हृदय की है। जाहे वह कितना भी उर्ध्वगामी क्यों न हो जाय मगर ऊपर की रिक्तता उसे सताती ही रहती है)। यह कास-मयोमिधि घनन्त है। त्रिकाल (वर्तमान भूत और भविष्य) में भी इसकी सीमा का प्रवचानन नहीं हो सकता। (घट पुकरवा त्रिकाल से कर-बड बाधना करता है) — हे त्रिकाल ! धाज तुम कुहेली मार कर किसी तसत्र-लोक में जाकर छिप रहो और इस मजुर रात्रि को मूर्म-बेदी पर लीज कर मत से बाधो।

विशय—इस पद्यांस की दूसरी पंक्ति (इस प्रकार धातुर उदात्त भर कहीं तुम्हें जाना है।) की तुलना में कामायनी की ये पंक्तियां दघनीय हैं—

‘किस विपंत रेखा में इतनी  
संभित कर सितकौ-सो सांस  
घों समीर मिस हांक रही-सो  
बानी जा रही किसके पास।

— प्रसाद : कामायनी धारा : ४९

दोनों में कौन सुन्दर स्वामाधिक तथा हृदय को स्पन्दित करने वाला है, वह तो वाक्य ही बताएगा। टीकाकार का काम तो यो समान पुण बानी भाव-वर्तिकाओं को सहृदय के सामने रख देना है। निर्णय तो उही के हाथ में है।

प्रथम दो पंक्तियां काव्य की दृष्टि से प्रत्यन्त सत्कृष्ट हैं। प्रेमी प्रमिका का निष्ठा के प्रति इतना मोह ‘धादि काल’ के ‘कसंहर कवि’ की नायिका में भी मिलता है—

“सबन सधारे जाएँवे  
नन धरये रोय।



विद्यना ऐसी रंग कर

भोर कबो ना होय ॥'

—'कलंकर'

विशय—समय-सरिते' 'काम-मनोनिधि तथा 'महाभ-निधय' में 'क्यक' अर्थकार हैं ।

कबो पल्ल सु म लेने हो ।

शब्दार्थ—विक्रम=मूढ वर्तमान मविष्य । सुपि=सुख ।

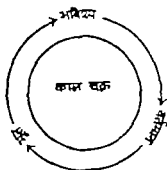
अर्थ—है समय-सरिते । पल भर के लिए रुक जाओ ॥ मुझे इसी गत-पक्ष-कर्म (उर्बची) की पीतलता (उत्पन्न हृदय को धार्मिक-भाव में बंध जाने क उपरांत प्राप्त हुई पीतलता अर्थात् धार्मिक) का पालन करने दे । (उर्बची को कर्म का उपमा कवि न बड़ी धार्मिक की है । एक तो कर्म स्वच्छ तथा निर्मल है दूसरे पक्ष के समय वह बन्ध होता है । इसी प्रकार उर्बची का प्रेम भी स्वच्छ तथा निर्मल है एवं इस समय प्रेमी के सामने वह भी बाज क मारे कर्म की भाँति संकुचित हो रही होनी विद्यते रहता हीन्ये विपुलिता हो बटा है) । है विक्रम ! इस कबन कृष्ण में मुझे समय का विस्तार समेट लेने दो (अर्थात् मैं चाहता हूँ कि इस बोझ से अमुक समय में मैं प्रेमिका से इतना प्रेम रख ले लूँ कि यामे जाने वाले विस्तृत समय-पटल पर मैं उसी कबन रख में दूँगा वह और मुझे वह इस कबन-कण के धार्मिक पक्ष किसी सीमा देखा कर ध्यान न हो) । (श्रीर है काम-कर्म) । मुझ एक पुरय (हृदय) में विक्रम की सुपि भर कर सु म लेने दो । (भाव यही है कि मैं उर्बची के पावन प्रेम को अपने हृदय में अस्थिर कर लूँ और विक्रम तक इसी सुपि से सुवासित होता रहूँ) ।

विशय—अप्रस्तुत प्रसंगा अर्थकार ।

मिटा कौन? रहा है ।

शब्दार्थ—उत्पन्न=सुपा हुआ ।

प्रसंग—इन पंक्तियों में कवि ने एक बहुत बड़ सत्य का दार्शनिक चर्चाटन किया है । कवि ने समय को एक ब्रह्म के समान बताया है । इस ब्रह्म को इस प्रकार बताया जा सकता है—



वर्तमान, मृत और अभिव्य काम-चक्र के अंग हैं। इनके बीच में किसी प्रकार की मेढ़क सीमा रेखा नहीं खींची जा सकती। तीनों का अयोग्याधित सम्बन्ध है।

वर्तमान में हम जो कुछ करते हैं वह समाप्त नहीं हो जाता है अपितु समाप्त हुआ सा बीजता है। जब हम सूक्ष्म दृष्टि से उस पर विचार करते हैं तो वह 'अभिव्य' का रूप धारण कर जाता है और अभिव्य का वही कर्म 'मृत' बनकर फिर 'वर्तमान' में फल देता है। अतः काम कम मिटता नहीं बल्कि अपने रूप का परिवर्तन करके हमारे सामने आता रहता है। यह रूप परिवर्तन संसर्ग के उच्च पात्र के समान है जो एक होते हुए भी परिस्थिति के समान अपने अक्षय-अक्षय तागे-बाने में द्रष्टा के सामने आता है और अपनी अक्षय-अक्षय छाप उसके हृदय-मस्तिष्क पर डालता रहता है।

अर्थ—यहाँ पर कौन मिट गया? क्या वह (वर्तमान काम) जो घटित हो चुका है? (नहीं वह समाप्त नहीं हुआ है) अपितु मनुष्य के जीवन की संसर्ग पर अपना अभिन्न ब्रह्मण्डल फिर परों के पीछे (अभिव्य और मृत) आकर लड़ा हो गया है। उसने धमी तक अग्र नहीं लिया है अपितु वह (परिस्थिति) की तमस-बाधों की धोत में छिपकर बैठा हुआ (मृत और अभिव्य के सम्पूर्ण अक्षय को) देख रहा है (और उचित समय पाकर पुनः प्रकट हो जाएगा)।

विधना ऐसी रत्न कर

धीर कभी ना होय ॥

—'कलंबर'

विशेष—'समय-सरिते' 'काल-यमोनिनि' तथा 'नक्षत्र-निसर्ग' में 'रत्न' अर्थकार है ।

कभी पाल सुख लिये बो ।

सम्बन्ध—निकास=भूत वर्तमान भविष्य । सुरभि=सुख ।

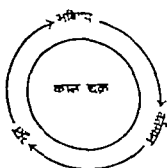
अर्थ—हे समय-सरिते ! पल भर के लिए रुक जाओ ! ! मुझे इसी अत-पन्न-कमल (उर्वशी) की पीतलता (उत्पन्न हृदय को आभिगन-पाश में बंध जाने के उपरान्त प्राप्त हुई पीतलता अर्थात् धाम्नि) का पाल करने दो । (उर्वशी को कमल की उपमा कवि ने बड़ी शार्कक की है । एक तो कमल स्वच्छ तथा निर्मल है दूसरे पत्र के समय वह बन्द होता है । इसी प्रकार उर्वशी का प्रेम भी स्वच्छ तथा निर्मल है एवं इस समय प्रेमी के धामने वह भी साज के मारे कमल की भाँति संकुचित ही हो रही होती जिससे इसका चीन्चर्य द्विबुद्धित हो उठा है) । हे विकास ! इस अवन बुद्ध में मुझे समय का विस्तार समेट सेने दो (अर्थात् मैं चाहता हूँ कि इस छोड़े से अमृत्यु समय में मैं प्रेयिका से इतना प्रेम-रस भूँ कि भाये जाने वाले विस्तृत समय-वटक पर मैं उसी अवन रस में डूबा रहूँ और मुझे बस इस अवन-असु के अतिरिक्त अन्न किसी सीमा रेखा का ध्यान न हो) । (धीर हे काल-सकल) ! मुझे एक पुरुष (हृदय) में विकास की सुरभि भर कर सुख लेने दो । (भाव यही है कि मैं उर्वशी के पावन प्रेम को अपने हृदय में अद्विष्ट कर लूँ और विकास तक इसी सुरभि से सुवासित होता रहूँ) ।

विशेष—अप्रस्तुत प्रसन्न अर्थकार ।

मिटा कौन? एसा है ।

सम्बन्ध—अन्न=रूपा हुआ ।

प्रसन्न—इन पंक्तियों में कवि ने एक बहुत बड़ सत्य का दार्शनिक उद्घाटन किया है । कवि ने समय को एक जक के समान बनाया है । इस जक जक को इस प्रकार बनाया जा सकता है—



वर्तमान भूत और भविष्य कास-चक्र के अंग हैं। इनके बीच में किसी प्रकार की भेदक सीमा रेखा नहीं खींची जा सकती। तीनों का अन्वयान्वाहित सम्बन्ध है।

'वर्तमान' में हम जो कृष्ण करते हैं वह समाप्त नहीं हो जाता है अपितु समाप्त हुआ सा शीघ्रता है। जब हम मूर्ख दृष्टि से उस पर विचार करते हैं तो वह भविष्य का रूप धारण कर जाता है और 'भविष्य' का वही कर्म 'भूत' बनकर फिर 'वर्तमान' में फल देता है। अतः कास कम मिटता नहीं बल्कि अपने रूप का परिवर्तन करके हमारे सामने आता रहता है। यह रूप परिवर्तन रंगमंच के उस पात्र के समान है जो एक होत हुए भी परिस्थिति के समान अपने अलग-अलग ताने-बाने में द्रष्टा के सामने आता है और अपनी अलग-अलग छाप उसका हृदय-गर्भ पर डालता रहता है।

अर्थ—यहाँ पर कौन मिट गया ? क्या वह (वर्तमान कास) जा घटित हो चुका है ? (नहीं वह समाप्त नहीं हुआ है) अपितु मनुष्य के जीवन की रंगमंच पर अपना अभिनय दिखाकर फिर पदों के पीछे (भविष्य और भूत) आकर लड़ा हो गया है। उसने अभी तक जग्य नहीं किया है अपितु वह (परिस्थिति) की तयस-बादलों की घोट में छिनकर रंग हुआ (भूत और भविष्य के सम्पूर्ण अभिनय का) देख रहा है (और उचित समय पाकर पुनः प्रकट हो जाएगा)।

बिन्दु प्रकार साधी है ।

घरबार—नगराज—हिमालय । बिन्ध्य—बिन्ध्य सागर । उषम—शोनों ।

बर्ब—बिन्दु प्रकार हिमालय पर्वत बिन्ध्य सागर की मानस-पीड़ा को समझता है और बिन्ध्य-महासागर की कहानी को जानता है उसी प्रकार वर्तमान काल द्वारा अपने घर में किए हुए सभी कर्मों को भूत और भविष्य पण्डी ठाह जानते हैं और उन शोनों द्वारा किए गए कर्म इस बात के साधी हैं कि वर्तमान का सभी सेवा-बोधा इनके मानस पर प्रकृत है ।

विज्ञेय—यहाँ पर 'हिमालय' तथा 'बिन्ध्य सागर' की क्या क्या है ?

यह जानना आवश्यक है ।

'वर्तमान' में हिमालय हिमाच्छादित होकर गन्ध से बड़ा है । भविष्य में सूर्य की ठंड किरणों से उसकी सारी बर्ब पिघल कर सरिता का रूप धारण करके समुद्र की भांगोष में जा छिपती है । समुद्र में घाया हुआ यह जल भी स्थिर नहीं रहता । वह पुनः रवि की किरणों के सहारे ऊपर उठता है और पुनः हिमालय की चोटी पर बर्ब का रूप धारण कर लेता है । इस प्रकार यह जल चक्का रहता है । वर्तमान में उनका एक ही कर्म है—उषम । भविष्य उनका स्वतन्त्र करता है और 'भूत' समय की प्रतीक्षा करके एवं कथित समय जानकर फिर वर्तमान का रूप धारण कर लेता है । अतः भविष्य में होने वाले इस द्विज तथा जल के स्वतन्त्र की पीड़ा को बरस्पर शोनों ही जानते हैं । इसी उद्धारण की दो परिध्या स्वतः स्पष्ट है कि वर्तमान जो कुछ भी करता है उसी का विकसित एवं परिवर्धित रूप भूत और भविष्य है जैसे वर्तमान में उर्बन्धी-गुकरवा प्रेम-संभृत में आबद्ध है । भूत और भविष्य इसी प्रेम का परिवर्धित रूप दिखाकर यह सिद्ध करेंगे कि वर्तमान में उन शोनों ने जो कुछ किया है हम तो उसी को भूतबार के रूप में व्यक्त कर रहे हैं ।

तिन्नु बाबा हैं ।

घरबार—दिगायाज—दिङ्ग-घायाज ऊँची हुई दिघाघों में । विघ मुक्त—बाणी से मुक्त होकर अर्थात् मीन होकर ।

अर्थ—जिस प्रकार सिन्धु विन्ध्य तथा पर्वत विस्तृत विद्याधरों में एक साथ ही प्रवृत्त रहते हैं (धीरे कुछ न कहकर भी अपने हृदय की पीड़ा को व्यक्त कर देते हैं), उसी प्रकार काम-वेदता के इस महान प्राणण में मृत वर्तमान धीरे भविष्य मिरा-मुक्त (मौन) भाषा में परस्पर वातावाप करते हुए एक साथ ठहरे हुए हैं।

कहाँ देख, सूकर।

अर्थ—स्योम=माधुर्य। कल्प=समय, ब्रह्मा वा एक दिन जिसमें एक हजार महासुम प्रववा ४ अरब ४२ करोड़ मानव-वर्ष होते हैं)। महासूय्य=ब्रह्म। वत्स=भरना (प्रेम का भरना)। अद्मम=स्रोत। धावि-मूल=प्रेम-सत्य। प्रेम सृष्टि का धावि सत्य है क्योंकि विधाता प्रेमरूप है और उसने इस सृष्टि का विकास प्रेम के बीज बोकर ही किया था। प्रत्येक अङ्ग-संगम में विधाता के धावि-मूल प्रेम का अंश विद्यमान है।

अर्थ—विकल कह रहे हैं कि ऐसा कौन सा देश है जिसके प्राणण में हमारी पूज विद्यमान न हो। ऐसा कौन सा समय है जिसके महासागर में हम नहीं तैर रहे हों। अर्थात् प्रत्येक देश तथा समय में सब विद्यमान रहते हैं। महासूय्य के चित्त से जो प्रेम का भरना प्रवाहित होता है वह हमारे मन का भी स्रोत है अर्थात् हमारे अन्दर भी उस प्रेम-सत्य का अंश विद्यमान है। हमारी बैठना भी काल के धावि-मूल (प्रेम) को बूझ रही बहती है।

उर्वशी

हम त्रिभोक्तासी बरें हम ?

अर्थ—त्रिभोक्तासी=तीनों भोक्तों (मृ, धाकास धीरे पावास) में निवास करने वाले। त्रिकाल अ=तीनों काल—(मृत भविष्य धीरे वर्तमान) में विचारण करने वाले। एकार्णव=एक समुद्र में। संपुक्त=एक साथ। बीचियों=सहृदय। अर्थात् प्रवाहित अर्थात् प्रसूय्य जिसकी गति किसी प्रकार भी रोकनी न जा सके। काम रजस=काल के छिद्र। अन्तर्मम=सूक्ष्म आंतरिक हृदयकाण्ड। परिधि-अंश=सीमा का अंश करने वाला।

अर्थ—(प्रेम व्यापक रूप धारण करने पर देश-काल की सीमाओं की

तोड़कर सृष्टि के धनु-धनु में व्याप्त हो बाठा है । इस बाध की पुष्टि करते हुये उर्वशी कहती है—)

प्रेम की इस अवस्था में हृय दोनों त्रिभोक्तवाणी तथा त्रिकालधर है । काल भेद को परे हटाकर हम मृत भविष्य धीर वर्तमान के एक ही समुद्र की प्रत्येक लहर में उसकी हर बूद तथा बूद के भी प्रत्येक अंश में एक धाम लीर रहे हैं तथा उनमें समाये हुए हैं । हमारे हृदय की बड़कन अबाध मति से तीनों लोकों में समायी हुई है तथा हमारी उत्तम्य स्वासों से निःसृष्ट मरमस्त सौरभ प्रत्येक काल के रम्यों में धायुर्व्यमान है ।

(उर्वशी पुकरवा से प्रश्न करती है कि) प्राणों की सीमा को भंग करके हमारे चित्त में धनुस्सूत जिस प्रेम तत्व का यह प्रसरण हुआ है धीर जिसके कारण धनार महिमाघानी सुख सृष्टि के धनु-धनु में लीन रहा है उसे हृय कहाँ पर समेट कर रखें ।

विशेष—इस पद्यांश में 'प्रतिबिम्बवाद' की भक्तक है । प्रतिबिम्बवाद के अनुसार जीव के हृदयस्मित भाव चित्त की विद्यवता के उपरान्त सृष्टि के बड़ बैसन स्वाधर-अंशम लोक-वरलोक तथा बाहर भीतर सबमें उद्यका यही भाव प्रतिबिम्बित होता है । जिस प्रकार यहाँ 'काल-राज्य धर रहा हमारी कान्तों के सौरभ से' अंश धान प्रकट किया गया है उसी प्रकार कायसी के 'पद्मावत' से प्रतिबिम्बितवाद का एक उदाहरण देखिये—

भँन जो बैसा कमल भा निरमल भीर अघीर ।

हँसत जो बैसा हंस भा बसत जोति नय हीर ॥”

—कायसी : पद्मावत मानसरोवर अण्ड ।

पुकरवा

महागुण्य के संक्षिप्त हैं ।

अर्थार्थ—महागुण्य = बड़ा । अन्तर-गूह = अन्तर्लोक । विक्रान्त = विद्या काम । निरमल = बाहसों से रहित स्वच्छ निर्मल । भीमाग्नरिय = नीले धन्त रिय अर्थात् प्राणाय । निर्जर = अणु रहित । मंत्रूपा = पिटापी । अर्ध-अनन्य = गृष्टि की प्रत्यय । पूर्युत = पूर्ये प्राप्पान । अमय = सारे ।

प्रसंग—पूर्व पद में उर्बची ने यह प्रश्न उठाया था कि सृष्टि के प्रस-प्रसंग में हमारे प्रेम का जो स्वरूप आकाशदित एव भ्वाप्त है उसे हम कहां पर सदेष्ट कर रखेंगे ? आने वाले इस पद में पुकरवा ने इसका समुचित उत्तर दिया है ।

अर्थ—(सुख की इस अपार महिमा को) ब्रह्मलोक के उस अद्वैत भवन में रखा जा सकता है जहाँ पहुँच कर दिवा तथा काम का कोई भेद नहीं है और इस निरञ्ज नीलाम्बरिका की परा रक्षित पिठारी में सृष्टि-प्रलय के सभी युगमें आस्थान संचित हैं ।

दूरापत' से जाना है ।

अर्थ—दूरापत—दूर से आई हुई । उत्तर-संवरण-मय—निरन्तर प्रवाहित होने वाली । समीर—वायु । कथा भादि की—प्रस-कथा । ब्रह्म प्रेम स्वरूप है । अपने प्रेम के बीज से ब्रह्म ने इस जगत की सृष्टि की है । सृष्टि—काल ।

अर्थ—दूर से आ रही इस निरन्तर प्रवाहित होने वाली वायु के साथ प्रसरण होने वाली जो भादि प्रेम-कथा है उसे (हमें) सृष्टि के अन्त तक से जाना है ।

विशेष—साब यह है कि हमारे प्रेम का आस्थान इतना महत्त्वपूर्ण होना चाहिये कि देश-काल की सीमा को छोड़कर वायु की भाँति सर्व प्राणियजपत में छा जाय और हमारी प्रेम-कथा तब तक पीबित रहे जब तक वह सृष्टि विद्यमान है ।

इन पंक्तियों का यह भाव भी हो सकता है कि हम अपनी प्रेम-कथा को अन्त की सृष्टि अर्थात् ब्रह्म के कानों तक से बाहर ही छोड़ें । यह न हो कि हम बीच में ही दिग्भ्रमित हो जाय ।

इस प्रदीप्त प्रथम का ।

अर्थ—सरल है ।

अर्थ—प्रथम होने तक यह सृष्टि इस चाँदनी रात की गोद में बैठकर इसी भाँति हमारे रहस्यमयी प्रेम का गुणन सुनती रहेगी ।



रहित। सब—सिबिल हीली। अर्थात्—मजा हीन। अर्थात्—परम प्रेम-रूप ब्रह्म।

अर्थ—प्रेम की सम्पुक्त अवस्था में जब प्रेमी धीरे एवं चेतना शून्य होकर प्रेमिका का ध्यान करता है तो उससे वह प्रभावित होकर सिबिल नहीं होती अपितु यह प्रेम की व्योमिती ही ध्यान-वाद्य में बंधती है और जब हम अचेत और संज्ञाहीन होकर परस्पर अन्तों का सम्बन्ध करते हैं तो वह सम्बन्ध परम प्रेम रूप परब्रह्म के अन्तों में भी सम्पित हो जाता है।

बिन्देय—'निश्चेतना' और 'अज्ञान' अर्थ महा पर इष्टम् है। चेतना रहित एवं संज्ञाहीन होकर प्रेमी धीरे की परिधि से परे हटकर आत्मरूप हो जाता है। 'एक-मात्र-विद्य' के पट पट जाने पर प्रेम का आरम्भ रूप धामने आता है। यही ब्रह्म की सीता का अर्थ है। अतः इस अवस्था में क्रिया यथा प्रत्येक प्रेम-कर्म उस अर्थात् के अन्तों पर अज्ञान स्वाभाविक है।

इह मति आकारों में।

अर्थ—मृति ॥ मिट्टी ।

अर्थ—धरती अवस्था मिट्टी है। नाशवान है मगर धरती के भीतर से आभासित होने वाली प्रेम की किण्वों भयुर नहीं हैं अपितु प्रेम ही आरम्भ है। पुनरुत्था का अर्थ है कि प्रायः मैं तुम्हारे बिना मरु भोठो का सम्बन्ध कर रहा हूँ वे समय पाकर मरु हो जायेंगे क्योंकि जीवधारियों का सम्बन्ध कभी आरम्भ नहीं रह सकता मगर उन प्राणियों के सम्बन्ध से हृदय में जो अन्त संज्ञित ध्यानित होता है उसकी मरुति हृदय से कभी मुक्त नहीं होती। प्रेम की यह अन्त-धामना जब निराकार ब्रह्म के अन्तों में सम्पित हो जाती है जो सब प्राणियों में आम रहा है।

उर्वशी

रोम रोम 'जाती हूँ' ?

अर्थ—धरती है।

अर्थ—उर्वशी कहती है कि मैं धियतम हम दोनों के प्रथम अन्त में जो प्रेम का बीज मेरे हृदय में उत्पन्न हुआ था वह अब पुष्पित एवं परमविकृत होकर बुद्ध का रूप धारण कर चुका है। तुम्हारे ध्यान-वाद्य में बंधकर

रूम-रूम में प्रेम का तरंगित एवं फेनित ब्रह्म उत्पन्न हो गया है जिस  
बढ़कर मैं आकाश की ओर न जाने कहीं उड़ी जा रही हूँ ?

पुकरवा

देह दूबने रहा है।

साम्प्रार्थ—किरणें=प्रेम की किरणें । अरूप=ब्रह्म । रूप=पार्थिव  
रीर में निहित प्रेम तत्त्व ।

अर्थ—पुकरवा पार्थनिक सम्भावणी में उबंसी की विज्ञाता का समाधान  
रहे हुए कहता है कि इस समय हमारा पारीरिक प्रेम अस्तमुक्ती होकर  
उत्तम मन के सीमा-रहित प्रेम सागर में दूबने जा रहा है । ऐसी अवस्था में  
बल के सभी राम-श्रेय समाप्त हो जाते हैं और स्वच्छ एवं निर्मल हृदय ब्रह्म  
में हो जाता है अतः हमारे प्रेम की ऐसी सुभावस्था देखकर अरूप (ब्रह्म)  
[पनी प्रेम की किरणों के सहारे हमारे अन्तर में निहित प्रेम को ऊपर  
उर्ध्वलोक में] लीन रहा है ।

उबंसी

करते नहीं कहाँ है ?

साम्प्रार्थ—उष्ण=अर्थ । प्रस्तर=परधर ।

अर्थ—उबंसी देवलोक की कन्या है । वहाँ की शीतलता से ऊबकर ही  
[ह धरती पर मसृष्ट प्रेम का आनन्द मूटने आई थी । वह नहीं चाहती कि  
[ता उस निरर्पण साक में जाये । अतः पुकरवा से कहती है—

हम इस समय कहाँ बने जा रहे हैं ? जिस समय एवं उष्ण वायु में  
[हमने प्रेम की काँचों की वीं वह वायु हम कहाँ छोड़ धारै ? (तुम उर्ध्वलोक  
के सपनों में मला क्यों खोये हुए हो ?) भिड़ती घोर पत्थर की इस छेद  
धरती पर धरने बंद क्यों नहीं जमाते ?

पुकरवा

एक पपी रही हूँ ।

साम्प्रार्थ—सरस है ।

अर्थ—पुकरवा कहता है कि अब अशोभुक्ती होता अर्थ है । धरती के  
अन्धकार को छोड़कर अब मेरे प्रेम तत्त्व उच्च उर्ध्वलोक का विशद्विषय किया

माहता है। अतः 'मनमय' एवं 'प्राणमय' कोप से ऊपर उठकर अब हम 'मनोमय कोप' में पहुँच बये हैं।

यह धरती हमारे पैरों के नीचे से छूट गई है। अब हम बेह का परिचय करने के लिये भासा की भ्रंकारों के सहारे मनोमय लोक में पहुँच रहे हैं।

कुलों का रहा है ?

शब्दार्थ—सुखम—लोक सवार। शृंग—बाटी। हेर—देखना।

अर्थ—उर्बशी के हृदय में एक दूसरी बिजावा उत्पन्न होती है। वह अपने प्रियतम पुरुषवा से पुछती है—

यह पर्वत की बोटी सम्पूर्ण लोक के पुष्पों को अपने छिर पर उठाये मुदित होकर हमारी तरफ क्यों देख रही है ?

पुरुषवा

अमुत मुगों मिलन का।

शब्दार्थ—अमुत—अलग-अलग। प्रसून—फूल। जोरते—देखते हैं।

अर्थ—अलग अलग मुगों में ये पुष्प अनवरत रूप से पुष्पावित होते हैं और विलय-प्रति हमारे इस महान् आत्मिक मिलन का पन्थ देगते रहते हैं।

बिहोय—ऊपर के दो पद्यांशों में कवि ने जिस पर्वत और पुष्पों की बर्णना की है वे सामान्य पुष्प तथा पर्वत-शृंग नहीं हैं। जब मानस पार्थिव परिधि को परे छोड़कर आत्मिक प्रेम के उच्च पिठर पर पहुँच जाता है तो उसकी धारणा रोमांचित एवं पुष्पित हो उठती है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि आत्मिक प्रेम की उच्चता ही पिठर है और उस रोमांच से उत्पन्न आनन्द रंग-विरंगी साक्षात्कामयी पुष्प हुए।

जब भी तन लपटे है।

शब्दार्थ—उभापि-सुख—प्रेम की सहज समाधि से उत्पन्न सुख। मिलन—पर माँच। प्रहर्ष—हर्षित होकर। निरवत—बेतला रहित।

अर्थ—पुरुषवा के माध्यम से कवि निम्न चार पंक्तियों में उपरोक्त पिठर तथा पुष्पों की व्याख्या करते हैं।

अर्थ—जब भी नर-नारी खीर की सीमा तोड़ कर मन के उच्च तथा गहन मन्त्र प्रदेश में पहुँच जाता है और प्रेम-समाधि के सुख को पाकर श्वेतनारहित चित्त पर पहुँच जाता है तब युक्त प्रेमी की अत्यधिक प्रसन्नता के कारण सारी प्रकृति रोमांच से कांप उठती है। परिणाम स्वरूप प्रकृति का रोमांच ही ये पुष्प हैं जो प्रसन्न होकर हँसते हुए दिखाई देते हैं।

जसा जा महिमा को ?

अर्थ—निपाकार=परब्रह्म। धाकारों=प्राणियों। रक्त-विपाधों=जमनियों। जनियां=सहारे। नाह=झंकार। गिप=बाणी।

प्रसंग—उर्बची धारीक प्रेम को ही सत्य मानती है। उर्बचोक की महिमा को वह नहीं मानती। धीर में निहित अल्प प्रेम तत्व से उत्पन्न असीक्त धामन्य इसकी जमत्त्व ध्वनि तथा इससे उत्पन्न असम्भ्रंति को वह नहीं मानती। अतः पुकरवा से कहती है—

अर्थ—उर्बची कहती है कि मैं धीरवाही प्रेम को ही सत्य मानती हूँ। आज यह स्वप्नसोक की ज्वाला में जसा जा रहा है और निपाकार परब्रह्म के पाथय में धाकर हम प्राणियों की बरती बरती जा रही है (प्रेम पाथ में बनने पर उर्बची के हृदय में एक विद्यप मधुरता असीक्त नाय तथा जमत्त्व संपीठ सा उत्पन्न होने समता है, जिसे अन्तर-निहित कर्ण-गह्वरों से सुनकर वह धामन्यचक्रित हो जाती है और अपने प्रेमी पुकरवा से प्रसन्न करती है) — (धीर की इन्द्रियजग्य मधुरता से भिन्न) यह कैसी मधुर अनुभूति मेरे मांस में अंकुश हो रही है ? मेरी स्वभाषों जमनियों तथा असीम अन्तर में ये कौन सा स्वर है जो उत्तर रूप में गूँज रहा है। चित्त से उत्पन्न ये जनियां तथा अम्भ रहित अंशति (क्या है ? इसे मैं नहीं समझ पाती)। जब उर्बची इस असीम धामन्य को प्रकट करने में अपने को असमर्थ पाती है तो सीक कर कह उठती है कि उठ ! मेरी यह जिज्ञा भी न जाने क्यों बेबस सी हो गई है। इस धामन्य को प्रकट करने में अपने पापको बिसकृत असमर्थ पाती है। हे पुकरवा ! क्या मुझे कोई ऐसा उपाय बता सकते हो जिससे मैं अपने मांसों

को छत्रों में बांध सन् तथा इस महिमा का फिर रूप में व्याप्तान कर ।

बिग्रह—अब प्रेम की धीमाई मरुत होकर निराकार के प्रसन्न प्रेम में समा जाती है तब बुद्ध्याकाश में उस की धर्मा ही होने सबती है । बिना बाजों के भंकार ही उठती है । अब उर्ध्वलोक पर पहुँच जाते हैं तभी उसी का स्वयं समझ में आता है—

‘रस मगनगुफा में अजर धरे ।

बिन बाजा सनकार उठे तर्ह ससुनि बरे तब प्यान धरे ।’

—कबीर

पुकरवा

अब नहीं प्राणों की ।

शाब्दार्थ—सगोबर=न बिलने वाला । प्रणय प्रसन्नलित=प्रेम से उत्पन्न ।  
अनाधित=रूप पर प्राधित ।

अर्थ—प्रेम के इस अतीन्द्रिय आनन्द का जबसु करने के उपरान्त इसको छत्रों का आचार लेकर व्यक्त नहीं किया जा सकता । यह तो पूर्ण के गुण के समान (मुक्तास्वादनवत्) अव्यक्त है । अर्थात् निश्च प्रकार गुणों को पुङ्गु सिमाने के बाद उसके आनन्द के बारे में पुङ्गु बाय तो वह इच्छाओं के अतिरिक्त कुछ भी नहीं कह सकता । इसी प्रकार यह प्रेमोत्पन्न है जो केवल माय-मूढाचारों से ही व्यक्त किया जा सकता है । सम्दावली का आचार इसमें नहीं है । यह सुख पीव की स्थूल एवं सूदम बुद्धि से परे अगोचर है । सिद्ध प्रेमी इसको कहकर भी नहीं कह पाते क्योंकि माया तो केवल बली का अलक्षित बिभण कर सकती है जो कपधारी हो मगर प्राणों में उद्विग्न होने वाला यह प्रेम तो अस्य है । इसका कोई आकार-विकार नहीं फिर भना इसको माया के माध्यम से कैसे व्यक्त किया जा सकता है ।

बिग्रह—पूर्ण के गुण की महिमा ‘कबीर ने भी मुक्त कण्ठ से गाई है—

‘कह कबीर पूर्ण के गुण काइया

बुद्धे -तो किया कहिये ।

उर्वशी

हे पुरुष ! तुम कौन हो ?

पुरूरवा

ओ धनेक- भामा सौ ।

राय्यार्थ—कस्यो=मुगों बपों । सुभ्र=श्वेत ।

धर्य—उर्वशी के प्रश्न का उत्तर देते हुए पुरूरवा कहता है कि मैं वह पुरुष हूँ जो प्रसंक्ष्य प्रसङ्कारपूर्ण मुगों से बार-बार मृत्यु का उत्सर्जन करता हुआ तुम्हें बूढ़ता फिरता रहा। इतना ही नहीं मैंने तुम्हें धनेक बार जग्म लेकर धनेक कृकों बीबियों (प्रकृति के प्राणय में) तथा प्रायनामों में बूढ़ा। सौभाग्यवश अपने पुण्य कृपी दारीर में धनन्त मुगों का सौम्य्य लिए हुए एक दिन तुम ध्यानरु ही मुझे सुभ्र मेरों की माभा में मिलीं ।

विशेष—इस पर की प्रथम दो वंक्तिरों क धनुस्वरूप ही एक मुत्तमान धायर की दो वंक्तिरों द्रष्टव्य हैं—

‘अब स मुना है बरने का नाम जिम्बपी है

सिर से कफन लपेटे कातिल को बूढ़ता हूँ ।

उर्वशी

धीर मैं कौन हूँ ?

पुरूरवा

ठीक-ठीक ‘मपी हो ।

ध्यास्य—धन्तर=हृदय । निमृठ-निकेठन=विद्यास भव्य भवन । स्वरित=स्वर धर्पाद् सगोठ देने वाले । मूरित=प्रसन्न । रीस=पर्वत ।

धर्य—पुरूरवा उर्वशी क प्रश्न का उत्तर देते हुए कहता है कि हे उर्वशी ! मैं ठीक-ठीक नहीं बठा सकता कि तुम्हारा वास्तविक रूप क्या है ? लेकिन हाँ इतना धबधप बातता हूँ कि तुम्हारे प्रवेश करते ही मेरे धन्तर का द्वार (जो मुन-मुगों से बन्द पड़ा था) अपने आप खुल गया और मेरे प्राणों का मय्य निकलन प्रम क सुखीब तथा रंममनी रणों स पुजायमान हो उठ । [पुरूरवा का यह विचार है कि तुम्हारे धायसन से कबस मुझे ही धनन्त

घातम्य की अनुमति नहीं मिली यद्यपि यह सम्पूर्ण भुवन ही तुम्हारे हीम्वर्य पर सुम्भ है)। अतः पुरुरवा कहता है कि जब से तुम इस पृथ्वी पर आई हो तब से वह पृथ्वी भी कुछ अधिक प्रसन्न दिखाई देती है। पर्वतों का यह विचार है कि हमारे अन्तर से जो अनेक जल-स्रोत निकलते थे। वे भी अब कुछ अधिक रसविकृत होकर बहने लगे हैं। तुम्हारे आपमन से ज़रती पर फूल भी अधिक खिलने लगे हैं और यह हीतम तथा हरी-हरी प्रकृति में कोई नव्य चेतना सी दौड़ गई है। (चाह यह है कि तुम्हें पाकर ज़रती भय हो गई। तुम्हारे प्रेम रोमांच से ज़रती के पुष्पों में सिहरन आ गई; हृदय में बहने वाले अमिष प्रेम रस से हीम-स्रोत प्लावित हो उठे और प्रकृति की हीतम हरियाली तुम्हारी आभा का प्रकाश पाकर और अधिक दीप्तिमान हो उठी)।

पुरुरवा कहता है कि तुम्हारे रूप-हीम्वर्य को पाकर ज़रती चास तो सब मुझी है मगर आकाशमोक में जमकने वाले नक्षत्रों की बया अिग्नतीय है। उन्हें ऐसा मग रहा है जैसे उनके हाथ से कोई वस्तु निकल गई हो।

विशेष—वास्तव में देखा जाय तो ज़रती पर्वत फूल-पौधे तथा सम्पूर्ण प्रकृति तो बीबी ही हीनी है बीबी वह पद्म की मपर प्रेमी तथा प्रेमिका की नजर बदल जाती है। प्रसन्नता के क्षणों में उसे भुवन का अणु मसु हंसता हुआ नजर आता है।

### उर्वशी

और मिली बिया है।

दाशार्थ—विद्युत्—विजली।

अर्थ—जब उर्वशी पुरुरवा के प्रथम दर्शन से उत्पन्न अपने हृदय की प्रति भिया का वर्णन करती है—

हे प्रियतम ! जब तुम पहले-पहल मेरे भविष्य के नीले तथा सुमने आकाश पर इन्द्रधनुष के समान आकर्षक रूप में प्रकट हुए थे तब मेरे मानस में (प्रसन्नता केव्यतिरेक से) विजली सी कौंच गई थी (तुम्हारे दर्शन से कुर्ब मेरा हृदय हीतम एवं निष्प्राण था इसमें शेष-मूर्ति के कारण कोई सम्भल नहीं होता था) मगर तुमने मेरे रक्त के कल-कल में, बह्य कहीं प्रेम का अंध

दिखाई दिया वहीं उसे छोड़ कर मुझ मूर्छित को (प्रम से भ्रजात) जगा दिया इसलिए सत्य की कसौटी पर तुम्हीं मेरे भीषम के आचार हो (तुमने मुझे प्रेम का ज्ञान दिया है इसलिए) ज्ञान गुरु हो और (चू कि तुमने मुझे प्रेम का यह पाठ सिध्य समझ कर नहीं भ्रपितु साधी समझ कर दिया है इसलिए) तुम मेरे सत्ता, भिन्न और सहचर भी हो।

प्राणों में सतिका-सी।

अर्थार्थ—सुचिता=पवित्रता । सद्य प्रस्फुटित=धमी लिते हुए ।  
अनु=कोमल ।

अर्थ—तुम्हें पाकर मेरे प्राण सद्य प्रस्फुटित कमल की भांति चीतल और पवित्र हो जाते हैं और ऐसा लयता है कि (मुम-भुयों से जो प्रम की भावना निष्पाद्य हो गई थी वह तुम्हें पाकर) कोमल (गुरुगुणाने वाले) प्रेम ज्योति पुन ज्योति धार है। तुम्हारी बुद्धियों की फुहार तथा रोमांचित करने वाले धामिगन की प्रतिधमता से गहरी निद्रा में सोई हुई सतिका के समान जाग गई हैं।

विशेष—यहां 'निद्रा से जागी हुई सतिका-सी' वाक्योप इष्टव्य है। जब तक मत्ता पर फूस नहीं लिसते जब तक वह सोई हुई मानी जाती है मगर जब वह पुन पस्सवित हो जाती है जब उसे आप्रतावस्था में कहा जाता है। उर्बधी एक मत्ता के समान है। जब तक प्रम के पृष्णों ने उसके प्रस्यर्णों में स्थान ग्रहण नहीं किया था जब तक वह सोई हुई थी बुद्ध परिरम्भण से जब उसका सरीर रोमांचित होकर मारै प्रसन्नता के फूट फूट कर बाहुर निकलने को तैयार हो गया जब वह जागी हुई (पृष्पित) सतिका के समान हो गई।

सतिका-सी में 'अधमा' धलंकार है।

प्रथम-प्रथम 'बाहल' है ?

अर्थार्थ—सिरा-सिरा में=रोम-रोम में। उम्भोचित=कोमलता। प्रस्तरित=घाकाध । जगती=पृष्पी, संसार ।

अर्थ—(उर्बधी पुकरता से कहती है कि इस परती पर जाने पर ही मैंने पहले-पहल पर्वतों से निकलते हुए भ्रमों के बल का मधुर संगीत सुना है।



(यहाँ साधारणीकरण की प्रकृति परिलक्षित होती है। उर्बची के हृदय में जो प्रेम का स्रोत उद्भासित हुआ है वह पर्वत के उद्गम के समान है और तत् उत्पन्न अभित घागन्द का संगीत भरने के संगीत के समान है) साक्ष्यमयी उपा की सामी को भी मैंने पहले-पहल निहार्य है और उसकी सृति से मैं स्वयं भीगी जा रही हूँ (गारी का उपा से साधारणीकरण होना भी स्वाभाविक है। इसका प्रकाश सामिमामय होता है। जब सत्ता सम उर्बची पुकरवा की कठोर बातों में बार-बार उमरती है तो वह भी उपा के समान लाज के मारे झाम हो जाती है। प्रम रस में भीगी हुई ऐसी उर्बची का सोन्दर्य डिगुणित हो जाता है)। उर्बची कहती है कि हे पुकरवा ! मतलब काम से मेरे शरीर के रोम रोम में जो प्रेम की रागिनी दग्ध पड़ी हुई भी उसे तुम्हारे बिना मत्ता कौन झूठ कर सकता था। (भाव यह है कि देवभोक म तो उसकी सुपुष्प रागिनी को निरासित करने की किसी में क्षमता भी ही नहीं। इसलिए मैं भूलोक में प्रायो और महीं तुम्हारे मानवी-शरीर को पाकर मरे हृदय में छोड़ हुए प्रेम का ठार-ठाग बब उठ्य)। और मत्ता तुम्हारे बिना मुझे यह विश्वास ही कौन दिसा सत्ता था कि यह भूमि (मैं स्वयं उर्बची जो शरीर के समान हूँ) किसी दग्ध की सृष्टि के लिए अन्तरिक्ष के समान है तथा इस मूतस पर जो बूझ भूम रहे हैं वे बूझ न होकर उस अन्तरिक्ष पर छाये हुए बादलों के समान हैं।

यह ज्योतिर्मय होता है।

अर्थार्थ—ज्योतिर्मय—आभामान देवीज्वमान। कनक-पर्वत—छोने का पर्वत। स्यात्—धामय। मनोज—मनोहर।

प्रसंग—पुकरवा के मनोहर शरीर को देखकर उर्बची का हृदय अन्दर ही अन्दर रोझ उठ्या है। वह पुकरवा की शरीर रचना के सम्बन्ध में विभिन्न कल्पनाएँ करती है। यथा—

अर्थ—हे पुकरवा ! तुम्हारे इस देवीज्वमान रूप को देख कर मन में अनेक कल्पनाएँ अन्वेषित—तिरोहित हो रही हैं। (ऐसा प्रतीत होता है जैसे प्रकृति देवी ने अपनी रचि एवं आभनाओं के अनुसार किसी स्वर्ण-दीप्त से एक बड़ी पियल काट कर तुम्हारे अंसे बिटाट पुरप की प्रसिमा बनाई थी और फिर

उभयों महाप्राण भर कर पृथ्वी पर गिरा दिया था प्रकृत इस धरती ने ही स्वयं की सुन्दरियों एवं अमरताओं को सासायित करने के लिए राक्षसों से भी अधिक बलघासी तथा देवताओं से भी मगोस सिद्ध करने के लिए तुम्हें जन्म दिया है ।

बिज्ञेय—उत्प्रेसा, सम्देह असंवार ।

उक्त री यह आसोइन में ?

शब्दार्थ—बिज्ञेय=जिसे हुए । पादम के बस=भुसाब के फूस की पंजुड़ियां (घोष्ठ) । अट्टम=अचल । सक्रमण=प्रवस । कृसुमायित=पुसित । स्वयं स्वयं को = अपने प्राय अपने को । प्रासुरी=पाद्यिक ।

अर्थ—उर्ध्वी पुरुरवा के धारैरिक सौगव्य पर विमुग्ध हाकर कहती है—उक्त ! तुम्हारा सौगव्य अप्रतिम है । तुम्हारे अमर पुष्यों के समान मामिमानुक्त जिसे हुए है । जब ये भुसाब की पंजुड़ियां (घोष्ठ) जन्मत होकर मेरे सम्पूर्ण ध्यान का स्पर्श करते हैं तब मेरा एक-एक रंम-रूप न जाने किम पीरूप-रूपों से परिष्कारित हो जाता है । और जब तुम अपनी कठोर मुजाओ से मुझे अपने मामिगण-पास में आबद्ध कर लेते हो तब तुम्हारे बेह में संभरण करने वाली उत्तम सङ्गरियां मेरे हृदय में प्रवेश करके जन्मत बना देती हैं । अनुपम काम से कासित पुष्पायित पर्वत के समान तुम्हारे लौह-शरीर से निपट कर कभी मैं रोमांचित हो उठती हूँ (जभी तुम्हारे बन्धायित कठोर-पाप से) ब्याकृत हो उठती हूँ, (जभी उस धान्द्य का अनुभव करके) प्रसन्न हो जाती हूँ (और कभी उस धमित धान्द्य का अविद्यमता से कारण) अपनी पेतना भूष कर मूर्च्छित हो उठती हूँ । आस्तब में पर्वत की पाद्यिक सक्ति के धाकृत आसोइन में अपने आपका स्वयं ही समर्पण करने में कितना अपरिचित धान्द्य है ।

बिज्ञेय—जब मनुष्य कामासक्त हो जाता है तो उसे अपनी सुष-सुष नहीं रहती । ऐसे समय में उसको पाद्यिक सक्ति उभर कर सामने आ जाती है । मनुष्य की इसी स्वाभाविक एवं सहज प्रवृत्ति का बिज्ञेय हस्त पर की अन्तिम पंक्ति में लिखा गया है ।

(यहाँ साधारणीकरण की प्रकृति परिमिश्रित होती है। उर्बशी के हृदय में जो प्रेम का स्रोत उद्घासित हुआ है वह पशु के उद्भव के समान है और तब उत्पन्न समित धान्य का संगीत करने के संगीत के समान है) साधारण्यही उपा को समी को भी मैंने पहले-पहल निहाय है और उर्बशी धृति से मैं स्वयं भीगी जा रही हूँ (नारी का उपा से साधारणीकरण होना भी स्वाभाविक है। इसका प्रकाश सामान्य होता है। जब मठा सम उर्बशी पुकरवा की कठोर बातों में बार-बार उत्तम होती है तो वह भी उपा के समान साज के मारे साज हो जाती है। प्रेम रस में भीगी हुई ऐसी उर्बशी का जीवन विपुलित हो जाता है)। उर्बशी कहती है कि हे पुकरवा ! धन्य काम से मेरे शरीर के रोम रोम में जो प्रेम की रागिनी बन्ध पड़ी हुई थी उसे तुम्हारे बिना मसा कौन मंडित कर सकता था। (साथ यह है कि बेसोक में जो उर्बशी मुमुक्षु रागिनी को निराश्रित करने की किसी में समता भी ही नहीं। इसलिये मैं भूलोक में आमी और यहाँ तुम्हारे मानवी-शरीर को पाकर मेरे हृदय में सोए हुए प्रेम का धार-धार बंध उठा)। और मसा तुम्हारे बिना मुझे यह विश्वास ही कौन दिला सकता था कि यह भूमि (मैं स्वयं उर्बशी को शरीर के समान हूँ) किसी धर्म की धृष्टि के लिए धर्मरिक्त के समान है तथा इस सूतन पर जो बूझ नूम रहे हैं वे बूझ न होकर उस धर्मरिक्त पर जाने हुए शक्तों के समान हैं।

यह ज्योतिर्मय होता है।

सकार्य—ज्योतिर्मय—सामान्य देखीप्यमान। कलक-पर्वत—सोने का पर्वत। स्यात्—धायक। मनोस—मनोहर।

प्रसंग—पुकरवा के मनोहर शरीर को देखकर उर्बशी का हृदय धन्दर ही धन्दर रीम उठता है। वह पुकरवा की शरीर रचना के सम्बन्ध में विभिन्न कल्पनाएँ करती है। यथा—

धर्म—हे पुकरवा ! तुम्हारे इस देखीप्यमान रूप को देख कर मन में धनेक कल्पनाएँ सबरोहित—विरोहित हो रही हैं। (ऐसा प्रतीत होता है जैसे प्रकृति देवी ने अपनी रश्मि एवं भावनाओं के अनुसार किसी स्वयं-सैन से एक बड़ी शिमा काट कर तुम्हारे जैसे विघट पुरप की प्रतिमा बनाई थी और फिर

उसमें महाप्राण भर कर पृथ्वी पर गिरा दिया या अथवा इस धरती ने ही स्वर्ग की सुन्दरियों एवं अम्बरराशियों को सामाहित करने के लिए राजसों से भी अधिक बससाली तथा देवताओं से श्री मनोज्ञ सिद्ध करने के लिए तुम्हें जन्म दिया है।

विशेष—जन्मेवा सन्नेह धर्मदार।

उफ़ री यह आसोड़न में ?

पदार्थ—विकल्प=सिले हुए। पाटल के दल=गुलाब के फूल की पंखुड़ियाँ (घोष्ठ)। चटुभ=अजस। संक्रमण=प्रवेश। कृष्णामित=पुष्पित। स्वर्ग स्वर्ग को=अपने घाप अपने को। आसुरी=पापविकार।

अर्थ—उर्मशी पुकरवा के शारीरिक शौण्डर्य पर विमुग्ध होकर बहती है—उफ़। तुम्हारा शौण्डर्य अप्रतिम है। तुम्हारे अम्बर पुष्पों के समान लालिमामुक्त सिले हुए है। जब ये गुलाब की पंखुड़ियाँ (घोष्ठ) उग्रत होकर मेरे सम्पूर्ण धामन का स्पर्श करते हैं तब मेरा एक-एक रोम-कूप न जाने किम पीसूप-रत्नों से परिष्माहित हो जाता है। और जब तुम अपनी कठोर भुजाओं से मुझे अपने शालिगत-पाश में घाबड़ कर लेते हो तब तुम्हारे देह में संभरण करने वाली उच्छ्वस्य बहुरिमां मेरे हृदय में प्रवेश करके अन्वस बना देती हैं। अनुपम काम से बासित पुष्पावित पर्वत के समान तुम्हारे लौह-शरीर से निपट कर कभी मैं रोमांचित हो उठती हूँ (कभी तुम्हारे अन्वयित कठोर-पाश से) व्याकुल हो उठती हूँ; (कभी उच्च धान्य का अनुभव करके) प्रसन्न हो जाती हूँ (और कभी जब धमित धान्य का प्रतिघयता से कारण) अपनी चेतना भुन कर मूर्छित हो उठती हूँ। वास्तव में पर्वत की पाषाणिक शक्ति के धाकृत धालोड़न में अपने घापका स्वर्ण ही समर्पण करने में कितना अपरिचित धान्य है।

बिबोध—जब मनुष्य कामासक्त हो जाता है तो उसे अपनी मुझ-मुझ नहीं रखती। ऐसे समय में उसकी पाषाणिक शक्ति उग्रर कर सामने आ जाती है। मनुष्य की इसी स्वाभाविक एवं सहज प्रकृति का प्रियण इस पर श्री अन्वितम वंक्ति में किया गया है।

इस पद की अन्तिम दूधरी पंक्ति को पढ़कर यह जिज्ञासा पैदा होती है कि बिजका के समान उर्बची को पुरुरवा की पाश्चिक प्रकृतियों में आत्म की अनुभूति कैसे होती है। यह काम-शास्त्र का एक मनोवैज्ञानिक प्रश्न है जिसका समाधान प्रसिद्ध नाटककार सखीनारायण मिश्र के नाटक 'बितस्ता की लहरों' की इस सूक्ति से हो जाता है— 'कोमल को कठोर तथा कठोर को कोमल की आवश्यकता है। 'अप्रस्तुत-प्रदर्श' तथा 'उपमा' प्रदर्शक।

### पुरुरवा

हय तुष्ठा अम्बर पर ?

शब्दार्थ—याहन=डूबते। अपर=दूसरे। अम्ब=छाया कृपान। प्रतप्त=गर्म।

प्रसंग—पुरुरवा उर्बची के इस शारीरिक प्रेम से उन्मत्त पया है। वह मानव-स्वभावानुकूल शरीर की इस सीमा को समाप्त कर प्रणय के धूम्य अम्बर में पहुँच जाता चाहता है। अतः अपनी 'अपर पार जाने' की इच्छा को उर्बची के सम्मुख प्रकट करते हुए कवि कहता है—

अर्ब—ओह ! (मैं क्या करूँ ! मैं इस शरीर मोग से तुरन्त पलायन करना चाहता हूँ)। बार-बार मेरे चित्त में अशरीर प्रेम-व्योति की तरंगों में डूब जाने की प्रबल जिज्ञासा तथा पिपासा उत्पन्न हो रही है। बार-बार वही कामसा होती है कि छाया मार कर अपना रूपी समुद्र के दूसरे किनारे पर जाकर खड़ा हो जाऊँ और शरीर में सफ़लता वाली इन उत्पन्न सहर्षों को सदा के लिए छोड़ दूँ। (अपने हृदय में ही उन्मत्त-पौह करता हुआ पुरुरवा कहता है कि) क्या कभी मैं यह प्रेम (पाश्चिक-सीमा एवं आत्मिक-सीमार्थ को लाँच कर) उस धूम्य अम्बर (ब्रह्मलोक) में जाकर स्थिर हो सकेगा ?

बिबिध सुरों तट है ?

शब्दार्थ—मुहुर=हर्षण। मुहुर=वह कभी बिजका मुह परा-परा लुप्त रहा हो, शरीर, आत्मा।

प्रश्न—पुकरवा बड़ता है कि मैं तुम्हारे हृत्तन्त्रों के धारों को विभिन्न स्वरों में बजाकर देख लिया। अपने हृदय-मन्दिर में घनेक रंगों में सजाकर बैठा चुन; चित्र में तुम्हारे विविध रस्ता-चित्र बीच कर देख लिए—कभी धीरे में उल्लसता पैदा करके हृदय को रोमांचित किया तो कभी अपने मानस के सीतल स्पर्श में तुम्हें सयम्ने की काण्डिष को घोर यहा नहीं मैंने घनेक सौकी (प्रमत्तम, प्राणमय, मनोमय लोक) में जा जा कर तुम्हें काफी समझने की कोण्डिष की। मगर कैंसी विडम्बता है कि तुम इन सब पाशों से परे विचरलु कर रही हो या है मावाकितो ! मैं तुम्हारे जिस स्वल्प का दर्शन कर रहा हूँ उसका मुकुन बन्द बड़ा है प्रपत्ति है उर्बेची ! तुम्हारे हृदय की कमी अभी तक बन्द पड़ी है। वह अभी तक देहिक-भोगों से परे हटकर 'सुख धम्मर' में जाने की याचना नहीं करता चाहती। तुम प्रेम के महाधिगु के तट पर बंठी हो। (उसके धम्मर में अचगाहन करने की तुम्हारी कमी बिनासा उत्पन्न नहीं हुई)।

कहाँ उच्च धामोइन में ?

प्रश्नार्थ—विमय—विसीन सोप। धाम्य—धामीलु वैब।

प्रश्न—पुकरवा प्रलय के सुख धम्मर तथा वैब बरातक के धाम्य प्रेम की तुलना करते हुए उर्बेची से कहते हैं—

प्रश्न तुम्हीं बठाधो उर्बेची ! कहाँ तो प्रेम का वह उच्च धियरे जिस पर पहुँच कर कात (समय बबयब) सोप हो जाता है और कहाँ यह वैब तुपा जिसमें तुम पर्वत के समान धीरे बाके सुख प्राप्ती की धामुरी धण्डि के धाम्य धामोइन को ही सब कृष्ण समझकर रसातल की धोर बहने की टाप रही हो।

विधय—सर्वाँ पुकरवा धीरे-धीरे उर्बेची की प्रकृतियों को समझने लगे हैं तथा वैब बरातक को हृदय तथा धम्मर बठाकर उधे अपने धाम ऊपर उठाने का प्रयत्न करते हैं। यहाँ 'बाब' धम्म में स्नेह धम्मर है।

'आगत स्वयं' रही हो ?

प्रश्नार्थ—सरस है।

प्रत्याग—पुकरवा यह जानता है कि यह देवकन्या है। शूय-सोक की हमा को सम्भवतः वह जानती होगी। सम्भवतः यह मेरी नेतना को अभिहित करके मेरी परीक्षा से रही है। अतः अपने चित्त में चठे हुए इन्द्र प्रयत्नी के सम्मुख प्रकट कर देता है—

अर्थ—हे उर्बशी ! या तो तुम स्वयं (इस जगती के मामाजास में) आन्त हो गई हो या (यह कुछ जानती हुई) मुझे विप्रभिहित करे हो ।

उर्बशी

आन्ति नहीं नहीं निसेगा ?

अर्थार्थ—प्रतियोषी ⇒ अनु विरोधी प्रतिद्विडी । प्रतिबल = समान । बाला ।

प्रसंग— धारनी हुआ और पत्थर क बो छोटों के बीच मटके जाता है र मटका साकर कभी इस ओर, कभी उम ओर मुड़ जाता है । कभी ! कभी संन्यास । और संन्यास प्रेम को वर्धास्त नहीं कर संकता न प्रम मास को क्योंकि प्रेम प्रकृति और संन्यास परमेश्वर है और मनुष्य की पसाया गया है कि एक ही व्यक्ति परमेश्वर और प्रकृति दोनों को प्राप्त ने कर सकता । उर्बशी पूछती है—क्या ईश्वर और प्रकृति बो है ? क्या वर प्रकृति का प्रतिबल है उसका प्रतियोषी है ? क्या दोनों एक साथ ले चल सकते ? क्या प्रकृति ईश्वर का अनु बनकर उत्पन्न हुई है धरना । ईश्वर ही प्रकृति से बन्त है ?

—उर्बशी की मूमिका

इस प्रसंगों को उठाकर उर्बशी पुकरवा क हृदय में प्रकृति और परमेश्वर प्रति उत्पन्न ईश्वर नामा को ध्यात करन का प्रयत्न करती है । इसके धार पर प्रकृति और परमेश्वर की एकता की अनुमति ही उर्बशी है । दोनों में परस्पर कोई प्रतिपापी नहीं है । अपने इन्ही मूल भावों को वेता के माध्यम से कवि ने विस्तारपूर्वक बहिस्त करने को चेष्टा की है ।

अर्थ—उर्बशी पुकरवा की प्रकृति (जपत) और परमेश्वर (संन्यास) क पय में उत्पन्न आन्त धारणा का समाधान प्रस्तुत करती हुई कहती है—





ईश्वरीय जप 'जाती है।

शब्दार्थ—यौवनर—मजबूत धाने वाले। मुपा—मूठ।

धर्म—ईश्वरीय जप (शून्य लोक) इस यौवनर जप से भिन्न नहीं है। अपितु (तुम्हारे हाथ कहे गए) इसी अपवित्र (जगत में) यह अनुस्य ब्रह्म अपने पावन ग्रंथ में बसा हुआ है। भाव यह है कि इस जगत की सृष्टि ब्रह्म के ही सौन्दर्य ग्रंथ से हुई है। अतः यह सत्य रूप तो है ही। हे पुत्ररत्ना ! इस प्रकृति को माया कहकर क्यों बुधा ही प्रकृति का अन्तस्त्व मिटाने पर तुम हुए हो। ये (प्रवाहित होने वाली) मदियाँ (विकसित होने वाले) फूल (सहस्रहाते हुए) बुद्ध और इम-सुम—सब शून्य ब्रह्म के मंत्र पर सत्यजीस जीवित तथा साकार रूप में बड़े हुए हैं। महा लक्ष कि यहां पर रहकर हम जो कुछ करते हैं उसकी मजबूती में उड़ते उड़ते दूर जगत् जगत्पर तक पहुँच जाती है। (भाव यह है कि यदि प्रकृति और परमेश्वर का अयोग्यापिष्ठ सम्बन्ध न होता तो फिर जड़-चेतन में ये प्राण और सत्यजीसता कहां से आईं? चाप ही हम जो कुछ कर्म करते हैं अथवा लोक में उसका फल कैसे मिल जाता है? यह और कुछ नहीं है केवल परमात्मा की महिमा है जो अपने जीवों का सारा भेला-ओसा अपने मस्तिष्क में रसता है और जीव के उम्मी कर्मों के अनुसार दुःख सृष्ट प्रदान करता है। अतः प्रकृति और परमात्मा में अन्त-संघी सम्बन्ध स्थापित है। अतः जीव जो मोक्ष की प्राप्ति के लिए लोगों में रति लगानी होगी)।

सिद्धियों में बिक्रता है।

शब्दार्थ—विपरीत—पर्वत की चोटियों। गर्त—गड्ढा। तिमिरगुपी—जगत।

धर्म—ब्रह्म सर्वव्यापक है। स्मृत तथा सूत्रम—दोनों तत्त्वों में इसका सतत प्रवेश है—उर्वरता इस सत्य का उद्घाटन करते हुए पुत्ररत्ना से कहती है—

पर्वतों के उच्च विपरीत पर जो जीव रूप में समाविष्ट होकर बैठे हैं वही धर्मों में समाकर और मजबूत कर रहा है। जिस ब्रह्म का तेज ऊपर आकाश

लोक में प्रतिभासित हो रहा है वही यहाँ तम के गहन वर्त में भी छिपा बैठा है। (जब बड़ घोर चतन तमा प्रकाश घोर धर्मकार एवं मृतकाल तथा प्राकाश घन में बह बड़ा को ज्वालि समान रूप से व्याप्त है तो फिर तूम किस मय से मयमीत होकर नीच की इस तिमिरपुरी से भाग रहे हो ! एसा कौनसा सात्र है जो तुम्हें ऊपर की घोर लीन रहा है। (ऊपरी प्रकाश के लोमी पुकरवा का एक धर्म कटु सत्य का संकेत देनी हुई उर्वसी कहती है कि) जब मनुष्य (जो कि बड़ा की धर्म का एक घण मान है) सूर्य (बड़ा) की प्रकार छिरो से साक्षात्कार करने की सामना करता है तो उसके पास पाठ ही बह धर्म हो जाता है। माय बह है कि बड़ा के उस धर्मित प्रकाश को अपने हृदय में समझने में जब बह धममय पाठा है तब विमूढ़ होकर बह अपने नेत्र बन्द कर सता है। घोर कोई पुरुष ऐसा होता है कि धर्मकार में ही उस बड़ा की ज्योति को सोत्र निकामता है (घोर बीरे घोर उग्र धमन में समाविष्ट करके स्वयं बड़ा रूप हा जाता है। पर धर्मकार से प्रकाश की घोर जाना धर्मिक धमस्कर है।

मुक्ति लोभते धामाधो का

राजदार्प—प्रमूज= पूज । निग्रह=परित्याग ।

धर्म—उर्वसी कहती है—क्या तूम मुक्ति की सोत्र कर रहे हैं ?

यह तो बताओ कि धामिब बह कौनसा धमन है या तुम्हारा धर्मिक के रूप

में प्रबरोध बन रहा है ? (प्रकृति प्राणस में जिसने धम) के रूप है

(मुक्तधर्म से प्रबाहित जाने वाली) यह हवा है जो तुम्हें बत रही है

तुम्हें (अपने धर्मिक प्रेम में) बाध रही है ! धर्मिक रूप में

स्वच्छन्दता है। तूम इस प्रकृति के उन लताहर पुत्रों, जो

तथा घरे पाप-जाम से सुस कर मुक्त हो जाया। धर्म रूप में

ऊपर(सामाजिक धर्मवा नैतिक)नियम संयम, निग्रह रूप में

का कोई धर्मन नहीं है ? (धर्मिक है, मनुष्य इन धर्मिक रूप में

सकता। जब कभी बह धामाम-धामाधम करके धर्मिक रूप में

करता है तो वह न तो धमन के ही नाम का रूप है, जो धर्मिक रूप में

ही इस दिव्य बड़ा की धममूर्ति हो जाती है

रहता है। उस पर तो बोबी का कत्ता बर का न चाट का' वाली कहावत चरितार्थ हो सखी है) । •

मोड़ माज पायेयी ।

सव्यार्थ—प्रकृत = जब स्मृत आगतिक ।

अर्थ—केवस बन्धन मात्र ही मनुष्य को विग्नमित नहीं करते अपितु मानव के अन्दर एक विचार उत्पन्न भी है जो दूसरे मनुष्य के चित्त में यह बोधने का प्रयत्न करता है कि प्रकृति और परमेश्वर दो भिन्न-भिन्न शक्तियाँ हैं। (मनुष्य एक ही शक्ति को संकीकृत कर सकता है)। यदि उसने एक बार ईश्वर को प्राप्त कर लिया तो वह प्रकृति के हाथों से बाटा रहेगा अर्थात् प्रकृति फिर उस पुरुष को पाने में असमर्थ होगी।

प्रकृति नहीं सिखाती है।

सव्यार्थ—अमित = अम समवा सम्बेह में जानने वाली । भी = बुद्धि ।

अर्थ = परित्याग ।

अर्थ—(जो व्यक्ति प्रकृति को माया कहकर बसफा तिरस्कार करता है वह विग्नमित है। वास्तव में) प्रकृति माया नहीं है अपितु माया तो वह बुद्धि है जो सदा अम में रहती है। सर्व के समान उसकी बिह्वला बोचो-बीच पटी हुई है। अपनी एक बिह्वला से तो वह सुख का अर्थन करने की बात कहती है और दूसरी तरफ प्रकृति धारि की ओर से अपनी वृत्ति को हटा लेने का उपदेश देती है।

विशेष—'अपमा' अलंकार : कवि ने बुद्धि को सर्व के समान हो बिह्वला वाली बताकर एक तन्त्र को सामने प्रस्तुत कर दिया कि बुद्धि अर्कमयी होती है जहाँ व्यक्ति अर्कबाल में पंथ जाता है वहाँ वह रस को नहीं पा सकता अपितु सूखे रेविस्तानी टीलों में मारा-माघ फिरता है। अत उर्बंची यह कहना चाहती है कि है पुरुष पुरुषवा ! तुम अपनी वृत्ति को सहज तथा सखामयी बना लो । फिर तुम्हें स्वतः अनामास ही अपने इष्ट की सिद्धि हो जाएगी ।

मन की कति रहती है ।

सव्यार्थ—बिनाकृत = विभाजित ।

धर्म—ईत मात्र की रचना मन ने की है। वास्तव में प्रकृति में किसी प्रकार का ईत मात्र नहीं है (बहु निरुचय ही परमेस्वर की सहचरी है)। (मनुष्य द्वारा निर्मित आगत धारणा से) जब तक यह प्रकृति कामे और सफलताओं में विभाजित है तब तक यह सम्पूर्ण विरव हम माया प्रमाह दृष्टिगत हो रहा है। जिस दिन मनुष्य इन धुमाधुम मात्रों से परे हटकर अपने चित्त को तन्मय कर लेगा तब (प्रकृति और परमेस्वर में) न तो कोई भेद दिखाई देगा और न ही हृदय में किसी प्रकार की कोई संका जन्म लेगी।

राग-विराग संघर्षों से भी।

दास्यत्व—राग=मोह। विराग=वैराग्य। निर्वर्ण-शाही=जन्मजात धनु। धनुष्ट=प्रसक्त। अभिप्रेत=सहित। प्रसरित=छेकने से। प्रमय=बाधा-रहित। निर्विण्ट=निष्काम भाव से।

अथ—यम तथा वैराग्य—दोनों बड़े दुष्ट हैं तथा स्वभावतः (जन्मजात) शत्रु हैं। प्रमय (गम) चेतना को प्रसक्त करके उसमें संकोपी (स्वार्थ) प्रकृति का उदय करता है। (बाव यह है कि मोह की प्रकृति मनुष्य को निहृष्ट रसावतल में डाल देती है। उसकी प्रकृतिमां घोर स्वार्थी बन जाती है। अपने अधिकार में घाई हुई वस्तु को बहु धात्रीयन किसी को देना नहीं चाहता और दूसरे की वस्तु को लस-वस से अधिकार में करना चाहता है)। दूसरी वृत्ति वैराग्य की है। यह बलपूर्वक भावना को अपने धर्मोपेक्ष के सफल की घोर प्रसरित करण के लिए विषय करता है। इस प्रकार दोनों (गम-वैराग्य) बड़े मयकर हैं। (चित्त की) धान्ति और धर्मोपेक्ष के ये दोनों बड़े मारी वाक्य हैं। अतः इन दोनों का परिणाम करके है पुरुषता। तुम धर्मोपेक्ष को निरिच्छत तथा धर्मोपेक्ष में बहने से। और सोम मय संवर्ष मनुष्य नियम तथा सधम धारि बन्धनों से चेतना को निर्विण्ट करके उसे हर एक अभिनिष्ठत कार्य करने से। (इसी में मुक्ति है और धान्ति है)।

विशेष—ईसावास्वोपनिषद् में विद्या और अविद्या तथा सम्पूर्ण और असम्पूर्ण दोनों को ही प्रमय कहा है जो जन्म विराग और यम के ही रचनाय भेद से पर्याय हैं। जो केवल विद्या की उपासना में लीन रहते हैं—

घब्राती हूँ किन्तु वे उनसे भी अधिक धम्बकार में हूँ जो केवल धविद्या में  
रह है—

धम्ब तम प्रविशन्ति ये धविद्यामुपासते ।”

हम इच्छुः सता का ।

शब्दार्थ—अकमुप = कमुप रहित । प्रमोद = धानम्ब । निरामय =  
भीरोम । विधि-नियेव-मय = क्या कर्म योग्य है धीर क्या नहीं । स्वत =  
घनने धाप ।

अर्थ—(मद्यपि) हम सब बीज सर्वत्र कमुप रहित (राग-द्वेष सं मुक्त)  
धानम्ब को पाने के इच्छुः हैं लेकिन यह निरामय (भीरोम) धानम्ब विधि-  
नियेवमय सपनों तथा (शाबिड प्राणायाम) के प्रयत्नों से प्राप्त नहीं किया  
जा सकता । जिस प्रकार धान्ना से टहनी तथा टहनी से (कोमल-कोमल)  
पत्तियाँ घपने धाप ही निकलती हैं अथवा जैसे रहस्य-चितक के मन में धवुस्य  
सौक की घगन घटा का रहस्यमयी प्रकाश घपन धाप कौष आता है उसी  
प्रकार हमारे चित्त में धानम्ब का बहु शोच घनायास ही फूट निकलता है ।  
(इसके लिए न तो बहिर्वा ठर्क नाम में फंशने की आवश्यकता है धीर न  
दित्त को बेचन करने राठ दिन जानने की आवश्यकता है) ।

यह अकाम कर्मों का ।

शब्दार्थ—अकाम = निष्काम—जिसमें कर्म के बाद उसके फल की इच्छा  
न हो तथा उघ कर्म के प्रति किसी प्रकार की धासक्ति न हो । धविरत =  
समगता । निघम = परमेश्वर । निरत = नवा हुधा । धिरत = सयाव से रहित  
उदास ।

अर्थ—जो व्यक्ति कर्म करने के पश्चात् न उसके फल की इच्छा करता  
है धीर न ही उघकी कोई धासक्ति रहती है वही निष्कामी व्यक्ति घपने  
में मस्तुष्ट एवं धाम्भ रह कर धानम्ब के धंस की उपनधि कर सकता है ।  
जो निगन्तर परमेश्वर (की महिमा तथा लीला में) डूबा रहता है प्रकृति से  
एवाकार कर सैता है प्रसन्न होकर तथा घपने धापको ही पूर्ण मानकर  
निष्काम-कर्म की बाव में बहता रहता है (घपना जीवन घापन करता रहता

है) (सहज निष्काम-वृत्ति से) संशयों में निरत रहता है मगर उनके परिणामों के प्रति उदास रहता है और उदा यह मानकर चलता है कि यहाँ पर हम जो कुछ करते हैं वह केवल एक क्रिया मात्र है। वह परम ध्यान-रूप की प्राप्ति सहज रूप में ही कर लेता है।

(दो पक्षियों में कवि उर्वशी के माध्यम से कर्म (निष्काम कर्म) को अग्र्यतम महत्ता का उल्लेख करता हुआ कहता है) —

हम परमेश्वर के कर्म रूप हैं (पर्वत जो कुछ भी काय करते हैं वे सब उस समर्पित कर देते हैं) कर्म ही हमारा स्वभाव है। कर्म ही ध्यान-रूप है तथा (अविष्य में धाने बात सभी) कर्मों का फल स्वयं (वर्तमान में क्रिया गया निष्काम) कर्म ही है।

बिज्ञेय—उपरोक्त मायों में मीठा के धनावृत्ति योग तथा निष्कर्म-कर्म का सार उल्लेख दिया गया है। पीठा में लिखा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन” —इसी भाव की व्याख्या उपरोक्त पर में है।

‘कामायनी’ में ‘कर्म सर्व में भी इसी भाव के दृष्टन होते हैं—

यह नीह मनोहर कृतियों का

यह विरल कर्म रूपस्यल ह।

हे परम्परा लय रही यहाँ

ठहरा जिसमें जितना बल है ॥

—प्रसाद

बल हम प्रकृति का।

सर्वार्थ—गरल है।

धर्म—जब हम धर्म से बाहर निकल कर कुछ भी खोजने का प्रयत्न नहीं करते और अपने प्राणियों तथा लुधियों को प्रकृति के धर्म तथा उद्देश्य समझकर उस समर्पित कर देते हैं तब हम कर्म करने बात नहीं कहलाते अपितु स्वयं ही कर्म के साकार रूप हो जाते हैं।

यह अकाम ध्यान-रूप ‘भवल में।

शब्दाव—योहा करते = इन्दवार करते हैं। धाकृतित = व्याकुल,

प्रीति । वातात्म—भूरीला । सुखेष्ट वजन—विही काम नो न करन में सर्वदा सावधान रहने वाला ।

धर्म—इस निष्काम धामन्द का भोग केवल नहीं कर सक्ता है जो तुलना को कभी धामन्द नहीं वेवता (धर्मात् सुख क्व घ्राणा ? उने कौं सुसाई ? इस प्रकार की समस्वाए सुख में नहीं जाता) (घपनी इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिए) रात-दिन काय-जाव कर बाट नहीं देखता जिनकी बुद्धि तथा इस नियम पर चिन्तित नहीं चूठी कि ऐसा कौन सा उपाय करे, जिससे सुख के सम्पूर्ण भंजन पर केवल येश ही अधिकार हो जाय जिनकी वेवता इस मंत्र के व्यापन नहीं होती कि न जाये वज धीर कि न भूरीके से कौनसा सुख आ जाय (तथा मुझे प्रथित कर मे) जो चिन्तित तथा नियम से मुक्त होता है कठिन अत्यन्त-ध्यायन से हृदय की किसी प्रवृत्त इच्छा को रोकने का प्रयत्न नहीं करता धीर न जो प्राणों को समपूर्वक उसी दिशा में लगाए चूठा है जिस विधा न जीवन में सुख की धारा पूरा करती है ।

कवि कहता है कि जब मनुष्य को इच्छिमा तथा मन घपनी सहन तथा धामन्द मुद्रा में अचने वातात्म खोल देते हैं तथा चिन्ता के सर्वदा पुन्य हो जाते हैं तभी तुने धामन्द में सुख की फिरलों के समान निष्काम धामन्द की लोचि स्वयं ही उठने प्रवेय कर जाती है ।

विशेष—उपसुंक्त पंक्तियों में कवि के पीछा में कथित 'स्वित्तरम' की ही स्थिति को इच्छित किया है । यथा—

“कु-कल्पनुद्धिम्बन्ता तुलनु विवतम्पुह  
 भीतरामभयकोष स्वित्तबीमु निष्कामते ।

—पीठा ५९ अध्याय ९

विधि-नियम धर्म-वर्जित के ।

वाक्यार्थ—धर्म—इच्छा । धर्म—त्याग ।

धर्म—जहाँ पर विधि नियम होया वहाँ पर ध्यरि निष्काम कर्म नहीं कर सकता (कबकि सधम बुद्धि से देखा जाव तो) के विधि-नियम धर्म-वर्जित

(धमक कायें को करना चाहिए और धमक को छोड़ देना चाहिए) के नियम के प्रतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

घोर नहीं करते हैं ?

अर्थार्थ—सरल है।

अर्थ—(अज्ञान-अज्ञान के नियमों के अन्तर्गत से परे हटकर ऐसे स्वाम पर यहाँ इस) अज्ञान-अज्ञान का गणित चलता रहता है, ऐसे (कर्मों में सचेत) उन सब प्रहरियों के धामने यह छाती ठोक कर कह सकते हो कि (तुम सबसे परे) मैं भी एक जीव हूँ जिसके कर्म के फलों का कोई ध्येय नहीं है अर्थात् जो बिना फल की इच्छा किये कर्म करता है। जो फलासक्ति से मुक्त किया में इसी भाँति निरत है जैसे समीर तिलोक में झूमता रहता है मगर अमल में उसका कोई लक्ष्य नहीं होता। वह अपने ध्येय से मुक्त हाकर ही सम्पूर्ण लोकों में अपना पृथीत कर्म करता जाता है। अथवा (मेरा फलासक्ति रहित कर्म ऐसा ही है) जैसे फूल निरङ्गुल खिलते हैं। (मात्र यह है कि जिस प्रकार पुष्प अपनी सुवास को बिना किसी पूर्वोद्भव के निश्चित प्रकृति में फैला देता है और जिसका अन्त ही दूसरे के सुख के लिए होता है जैसे ही मेरा कर्म भी परहित-अन्य हाना चाहिए। तममें अपने स्वार्थ की कोई लक्ष्य नहीं होनी चाहिए)।

हो कोई तो रहता है ?

अर्थार्थ— समर=मुद्र। देह-अन्धन=धारीर क पीड़न से।

अर्थ—(जैसे ही इन पंक्तियों में ऐन योगी तथा संन्यासियों पर कटु आशेष करती है जो कहने को तो यह कहने हैं कि हम जो कुछ भी करते हैं वह सब बिना किसी फल की इच्छा के करते हैं मगर सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो वे किसी सुख की खोज में अपनी इन्द्रियों को महा कष्ट देत रहते हैं तथा रात भर जाग कर व्याकुल होते रहते हैं। ऐसे पुरुषों के सम्बन्ध में पुनरुवा से सर्वधी कहती है—)

यदि ऐसा कोई व्यक्ति हो जो (फलाकांक्षी होते हुए भी) यह कह कि  
— कि वह कोई ध्येय नहीं है जो कि — कि वह (अज्ञान —



हवी) चाहुक मारकर क्यों अपने आपको विधेय विद्या की घोर हाँके लिए बा रहा है ? क्यों वह प्रकृति से कुछ रोपे हुए है । अपनी इशियों पर उलवार कवी संकस बना कर वह अपनी देह को जो बंध दे रहा है उससे भला वह कौन से कुछ का मोल चुका रहा है घोर वह कौन का पुत्र है जिसके मृत पाने की साधना से वह सारी उठ निद्रा से सड़कर एवं व्याकुल होकर बाय रहा है ।

घोर सुनोये दूर हीना है ।

सम्बन्ध—प्रहरी—(धारता या मन के) पहरेदार । सुख—प्रत्यक्षा धनुष की डोरी । रिक्तता—अभाव । फेन—झाव ।

प्रसंग—प्रस्तुत प्रवचनरूप में कवि ने उर्बची के मुख से विधि-विधानों में बंधकर प्रकृति से दौलत बूझकर भागने वाले प्रहरियों अर्थात् शोधियों की धनुषबुद्ध समरत्व की साधना पर व्यस्य करते हुए प्रकृति घोर ईश्वर में अर्थात् सम्बन्ध प्रदर्शित किया है ।

धर्म—एक घोर रहस्यमय बात यह है कि धारम-संयमन करने वाले उल-उल मर अपनी साधना के धनुष पर लक्ष्य अर्थात् अज्ञान-बन्धन की प्रत्यक्षा बड़ाकर मन के उन बंधों में प्रहरी बन कर बूझते हैं जिनके समीप कोई भी तो रखा करने साम्य सत्य नहीं है । वह तो उलकी बूझी बैठना का लौलसापन है जिसमें लुब्धक कल्पनाओं के आव उड़कर रह जाते हैं । मन की इस विधाता की नि परने के बाहर भी वे धमर रहें बुझने के लिए वे इस प्रकार की धन-साध्य मुश्रियाँ निकालने को व्यस्य रहते हैं । किन्तु इससे भी अधिक मात्र इनके मन में यह है कि ईश्वर घोर प्रकृति में धनुष है घोर इतीतिने समरत्व की विधि के लिए वे दूर भागना चाहते हैं ।

सूक्ष्म धनुष । -सत्य में ।

सम्बन्ध—बाण—रसा । बूझनीति—बुझे ना समूह ।

अर्थ—उपर्युक्त प्रसंग का विस्तार करते हुए कवि परिवर्तनशील उलवार के उस सूक्ष्म रहस्य को उद्घाटित करता है जिसके धनुषार समस लैल पदार्थ भी सूक्ष्म विराकार तथा आधामव हैं । फिर धनुष्य, जो स्वयं प्रकृति का रूप है उलकी सदा से बंधकर कहां काल पायेगा कहां जायेगा ।

## व्याख्या-भाग

अर्थ—घोर वह मूढ़ मनुष्य, जो प्रकृति से बचकर भागना चाहता है, वह भी नहीं जानता कि वही स्वयं प्रकृति है। फिर अपने आप से भागकर उसे कहां आशय मिलेगा? यह सब कुछ शून्य है। यहाँ किसी पदार्थ का निरिच्छत रूप नहीं है। परिवर्तन की सीला से छला मर में सब कुछ बदल जाता है। पूज्यजाल ही क्यों? यह ठोस पदार्थ भी छाया ही है। यह भी कभी शून्य आकाश के रूप में या घोर अंध भी यह जतना-शून्य प्रतिक्षण नये क्यों में समाता जा रहा है। क्या पता अज्ञान आकाश में मिसकर यह फिर अरूप हो जाय।

विशेष—ऊपर के पद में कवि ने उपनिषदों के उस महान् रहस्य को सुन्दर तथा आश्चर्यमयी धारणाबली में व्यक्त किया है जिसके अनुसार यह ससार शून्य से प्रारम्भ होकर शून्य की ही घोर अज्ञान हो रहा है।

यह परिवर्तन शून्य नहीं है।

आश्चर्य—प्रकृिया—यदि रचना-विधि। सहज—स्वामाधिक। प्रसंग—प्रस्तुत वस्तुओं में परिवर्तन को प्रकृति का स्वभाव कहकर उसमें शून्य को सहज भाव से बहाने की प्रेरणा दी गई है।

अर्थ—यह परिवर्तन यदि बिनाश है तो फिर मृत्यु से भिन्न किसी घोर वस्तु का नाम मुक्ति नहीं है पर परिवर्तन नाश नहीं है। यह तो प्रकृति की स्वामाधिक यति तथा उसके प्राणों की स्वच्छन्द भाव है घोर इन भाव में सहज भाव से बहाने वाला पुरप ही मुक्त है। जो विषय-उपनिषदों में दूर होकर सभी कामनाओं को छोड़ बिना किसी (निरिच्छत) ध्येय के बहता रहता है। क्योंकि इसके प्रतिरिक्त न तो घोर कुछ करना सम्भव है घोर न ही उचित।

जाने क्यों बहने वाले को।

आश्चर्य—विशेष—दुःख, घाह। संतरण-वस्तु—तीरने में मुगल। प्रसंग—उपर्युक्त।

अर्थ—फिर भी जगत् तीरक रहने वाला अज्ञान में न जाने क्यों घाह मरकर अपने हाथ-पाँव मारते रहते हैं। मला कौन सी ऐसी विधि है जो उन

कुसम संयक को मिला जाती है और निष्काम होकर जल में बहने वाले साधक को नहीं मिलती ।

जिसे खोजता कर्म का ।

शब्दार्थ—अरूप=निराकार रूपहीन । अमिकेतन=भजन रहित प्रावास रहित । श्योम=धाकाय । कर्म=कीचड़ । गुणपप=दोनों ।

अर्थ—तू जिसे अमरिका की तर्हों में खोजता फिरता है वह निराकार निरावास किसी धाकाय पर देह धारण कर बठ नहीं मिलेगा । वह तो स्वयं अपनी सीमा की धार में बह रहा है । कहीं कीचड़ कहीं कमल और कहीं स्वच्छ जल का रूप उधने धारण किया है । उसे देखना हो तो अपनी धारों को समझ दे कि स्वैठ और श्याम एक ही रंग के दो नाम हैं । तू यदि उसे सूना चाहे तो हाथों से कह दे कि मैं फूल-कांटे का तथा कीचड़-कमल का भेद भुला दूँ ।

द्विषय—“बहु तो स्वयं राहु बहु अपनी सीमा धारा में”—इस भाव को प्रसार जी ने ‘कामायनी’ में इस प्रकार व्यक्त किया है—

‘कर रही लीलाभय धामन्य

महाबलित सजब हुई सी ध्यस्त ।

—प्रसार : कामायनी अध्या

यह साध सवार ईश्वर की सत्ता से ज्योतिष्ठ है । मुख-दुःख राग-विराग हित-अहित सभी उसकी प्रेरणा से प्रसूत हैं । अतः साधक को भले-बुरे का भेद मिटाकर ही साधना करनी चाहिये । इसीलिए गोस्वामी तुमसीबास ने पाप-पुण्य धूल-सूत लस-सजबन धारि के भेद को भुलाकर सारे संसार को ‘तिमाराजभय’ समझाया—

‘सीय रामभय तव भय जानी

करळं प्रशान जोरि ज्युय वाली ।’

—तुमसी

धर्म खोजते नहीं हैं ।

शब्दार्थ—मठीठ नङ्कर=विषय भूत की गुफा । प्रतीया निरत=इन्द्र-धार में डूबा हुआ । धनाश्रय=अल्पनीय धनसुनीय । पबास=वातायन भरीया ।

ध्यातया-भाग

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियों में जीवन के सत्य को ध्येय्य रहस्यमय एवं अकल्पनीय कहा गया है।

प्रथम—जीवन का सत्य प्राप्त करना सहज नहीं है। काय घोरा कारण की लड़ी महान् प्रयत्नकार में पीछे तक बिछी हुई है। प्रतीत की गम्भीर गुफा में जहाँ तक भी जाओगे वहाँ तक पग-पग पर प्रतीला में एक सयाए विज्ञानु ग्लन मार्ग में मिनते जायेंगे। और अन्त में रहस्य की बहु धन्यनीय तथा बगुनातीत दीवार लड़ी होगी जिसमें झूठने का भी कोई झरोका नहीं है। अर्थात् रहस्योद्घाटन की एक भी किरण का जिसमें प्रबल नहीं है।

द्वितीय—भारतीय 'दयानन्द' में सत्य को धर्म को तथा ब्रह्म को बगुनातीत की मन्ना दी गई है। वेदों में कहा गया है कि 'उत्त सत्य के पात्र का मुँह ऐसे महान् ठकने से ढका है जिसे हृदाता सबया असम्भव है। 'महाभारत' में भी सत्य के तत्त्व का महान् गुफा में निहित बनाया है। यथा— सत्यस्य तत्त्वं निहिन् गुहायाम्' —महाभारत

सत्य के रहस्य में मनुष्य ज्यों-ज्यों प्रवेश पाना चाहता है त्यों-त्यों उसकी बेतना पर अधिक धु धता प्रावरण पड़ता जाता है। प्रसाद की का यह भाव भी इसके मिनम नहीं है—

'यो नील प्रावरण्य जयती के दुर्बोध न तु ही ह इतना प्रबगुल्य होता आँकों का आलोक रूप बनता जितना।' —कामायनी काम

वतमान की जाती है।

शब्दार्थ—मरल है।

प्रथम—वतमान जन्म की उमर बूढ़ क समान है जो हाथ में आकर तु बिसर जाती है। बाण के हम उड़ते अक्षर का धर्म कीन बाँध सफ़ता अर्थात् वर्तमान जो मरत गतिधीम है जिसकी पत्र में या पत्रा है। मरिच्य के बीहड़ बांगल में ऐसा निबिड़ प्रयत्नकार छाया है कि बुद्धि के

के प्रकाश में भी मार्ग नहीं घुमता । प्रज्ञा (विवेकशील बुद्धि) भी विवश हो  
हार मानकर अपना सिर मान भेटी है ।

बुद्धा यत्न राहू नहीं है ।

शब्दार्थ—अतन=तन रहित । तन-स्पर्श=तन में पीठना । उत्स=  
झरना । मातायन=झरीबा ।

अर्थ—आकाश के अतन विस्तार की सीमा खोजना अर्थ का अयन है ।  
विनकर के झर-झर निताद में किसी भीर को खोजने का यत्न भी साराहीन है ।  
इस सत्य के रहस्य का न कोई द्वार है और न कोई झरीबा ही बुद्धा है जिससे  
कुछ भेद लग सके । हम जिस अगत पर चढ़ है वहां जाने की कोई राह है ही  
नहीं अर्थात् जीवन अर्थ तक पहुँचना किसी मार्ग से भी सम्भव नहीं है ।

किन्तु अर्थ धायी है ?

शब्दार्थ—शून्यो=पर्वत । सुखाशीन=सुख में निमग्न । लीन=तपे हुए ।  
किन्मा=कर्म ।

अर्थ—किन्तु जीवन के सत्य की गहनता को छोड़ कर जब तुम केवल  
बाह्यी आभरण पर ध्यान देने सहसा ये रहस्यमय अत्युच्च विविध साकार रूपों  
में अर्पणित हो उठता तब तुम वैसीमें कि यह विरह शून्य नहीं अर्पित नक्षत्रों  
नीले आकाश गदियों, पर्वतों तथा पर्वों हरीविमा तथा मोर की कान्तिमा से  
भरा हुआ है । और इसके सभी तत्त्व सुखों में सिमटे हुए अपने-अपने कर्मों में  
लीन हैं फिर वहां किसी को किसी से यह पूछने का अवकाश ही नहीं कि यह  
सदृष्टि कहा से उत्पन्न हो गई है ।

विवेच—उपभुंक्त प्रयोग में कवि ने एक घोर तो यह संकेत किया है कि  
यह संसार उसी के लिए रहस्यमय है जो विनकर के द्वारा इसकी गहनता में  
प्रवेश पाता पाहते हैं तथा इसी घोर अर्थ और अर्थ की समाप्ति द्वारा  
उनका सत्य कविता के अर्धहीन अर्थात् अर्थ को घोर भी है । अर्थों के जाल  
में अर्धहीन हुई कविता पाठक के मन को तब तक चटकाती है जब तक उसकी  
अर्थ-भूषणता प्रकट नहीं हो पाती ।

अर्थ है प्रकृति का ।

शब्दार्थ—विज्ञान=जानने की इच्छा वाला ज्ञान-पितापु । अर्थ=

## व्याख्या-भाग

दुःखम कटिन । वैचारिक = विचारक विस्तृत वार्षिक । विपण्य = दुःखित  
 दुःखी विमल ।

वर्ष—नेह तथा पुन प्राप्ति को यह जानने की जिज्ञासा नहीं है कि वे  
 कौन हैं कहां से आए हैं और उनका धन्ध कहां है ? इस दृष्टि में वे मानव  
 से प्रकृती स्थिति में हैं क्योंकि उन्हें विस्तृत के कठोर पाठ में समझ कर बर्बन  
 नहीं होना पड़ता । वास्तव में यह प्रत्यक्ष जगत उतना कठोर एक उलझ  
 हुआ नहीं है जितना मन के जोर पर पुन जान पर कटिन हो जाता है । एक  
 विस्तृत इन कठोर विस्तारों से जितना दुःखित रहना है उतना सामान्य प्रकृति  
 का पुरुष विपण्य नहीं होता ।

विषय—वस्तु-विस्तृतनीम प्राणियों की प्रपेक्षा सामान्य प्रकृति क जीव  
 सुखी हस्त है । एक वार्षिक के लिए यह समार रहस्य है उलझन है किन्तु  
 सामान्य प्राण के लिए तो यह नामक्यों से मुक्त मुक्त और सोचने का प्रकृत  
 अन्वय है ।

दुःख रच उदाहरण ह ।

व्यवर्ष—दुःख = विरोध । ईत = द्वि । सामान्य—प्रतीति । ईतमय =  
 दुःखिभा-मुक्त । मानस = मन हृदय । प्रप्राप्त = सहज स्वाभाविक । अनुभवन

प्रसंग—प्रस्तुत पद्यांश में कवि न प्रकृति और ईश्वर में घमिलता का  
 भाव प्रदर्शित किया है । दुःख तो कबल मन का है । प्रकृति और ईश्वर दोनों  
 परस्पर घमिच्छिम हैं ।

अर्थ—ईश्वर और प्रकृति में वही भी राई भर विरोध नहीं है । विरोध  
 की यह प्रतीति कबल दुःखिभाव मन के डाय हाथी है । जब मनुष्य प्रकृति  
 के स्वाभाविक अनुभव को (प्रतिया को) तथा जीवन की सहज गति जान लता  
 है तब यह ईन की प्रतीति मित्र जाती है क्योंकि प्रकृति और पुण्य में कोई  
 घन्तर नहीं है । प्रकृति की गति के जो विरोध प्रकृत हैं वे ही ईश्वर की  
 सत्ता के मुन्धर सण्य हैं । कम-मादना भी प्रकृति का आधार लेकर चलती है ।  
 साकार प्रकृति तथा निराकार ईश्वर— ये दोनों एक ही हैं । इनमें युगों का न

नहीं भेद है तो केवल देखने नामे की दृष्टि तथा मन का है । और यह कामा भिन्नत बर्म ही इसका उज्ज्वल उदाहरण है ।

काम बर्म      विनकर पर ।

अर्थार्थ—धर्मात्मा=सीमा-रहित । सुयमा=सौम्य । तृया=विपासा प्रसंग—प्रस्तुत वंशितियों में कवि ने काम के उर्ध्वगामी तथा अधोगामी—दोनों ही रूपों की वर्णा की है ।

अर्थ—काम ही बर्म है तथा काम ही पाप है । काम किसी मनुष्य को जो उच्च शक्तों से गिराकर हीन पशुओं जैसा बना देता है और किसी के मन में अनन्त सौख्य की व्यास जपा कर स्वर्णिम किरणों से मण्डित उन्नति के उत्तुंग विनकर पर पड़ जा देता है ।

विशेष—काम से तात्पर्य मानव-मन की उस स्फूर्ति से है जो मनुष्य की चेतना से लिपट कर उसे कोई कार्य करने की प्रेरणा देती है ।

यह विरोध      विस्तन से ?

अर्थार्थ—अपर=दूसरा । बाधक=रामस ।

अर्थ—काम की एक ही भावना में फिर यह विरोध क्यों है ? एक ही कर्म के दो फल एक दूसरे के विरोधी कैसे बन जाते हैं ? क्या तुमने कभी यह सोचा है कि यह प्रेम कहीं तो राजस क्यों बन जाता है और कहीं क्यों रहस्य के विस्तन में भीम हो जाता है ।

काम नहीं      करते हैं ।

अर्थार्थ—वैपरीत्य=विरोध । बाधक=धनुरक्त । सभ्य=प्राप्त । स्मृति=याद । विकल=दुःखित । व्यस=वर्षन । मधुसर=धमूत का सरोवर । अवागाहन=स्नान । स्नेहादृष्ट=प्रेम से धार्कित । बसात्कार=अवरण अवरपस्ती । दुर्बर्ष=मरकर, कठोर । किस्त्रिय=पाप । कुर्य=कार्य । सम्प्रादन=संग्रह । वपुस=घरीर । सिप्ता=तामसा । सहज धार्कण=स्वामादिक धनुरक्ति । बीषिया=तहरें । अनामजित=विना बुलाए । सुभर्ण=धमूते बर्ण वाला सुभर । लोभुपता=तामस । तस्वर=चोर

अथ—इन विरोधी भावनाओं का कारण भी नाम नहीं मन ही है। मन जब किसी पर अनुकूल हाँकर कामुकता से प्राप्त किए जान जान भले-बुरों की चिन्ता में मग्न रहती मुझों को मार किए जाता है तथा बुद्धि एवं बचन होकर सुन्दरता के सर में बार-बार डूबन व सिए प्रमानुर्भवित स, विहीन भी केवल कामुकता को पूर्ण करने के लिए, यहाँ से इस से या बच स बना-बार कर बैठता है तथा यह पापों व अमम का कारण बनता है। एसी अवस्था में यह नाम अत्यन्त अयंकर राससी बुद्धियों से पूर्ण अथम्य हीनता का कारण बनता है। कामुकता में प्रविष्ट के सभी कार्य निमित्त हैं विनयी पूर्ति में मन तथा आत्मा का छोड़कर केवल दो घटीर पिलते हैं, या यहाँ घटीर को सहज प्रकृति के विपरीत मुख पाने की सूत्र से मन की वासना क कारण विषय किया जाता है। बड़ा स्त्री-पुरुष उस स्वामाधिक धार्यण से परस्पर नहीं निमित्त जिससे दो सहरे अपने आप धाकर मिल जाया करती हैं अपितु यहाँ मन मन के कालभी चोर की तरह छिप छिप कर ब्याकुल हुए एक-दूसरे को केवल वासना की प्यास बुझाने के लिए हुआ करते हैं।

तन का क्या गरल है।

शब्दार्थ—विपरीत—दुःखों विषयों। अगाधर—अमम। सतित—बस। सहस्यार—कमल। परल—विप।

अर्थ—किन्तु इनमें घटीर का क्या दोष ? यह तो बचाप प्रकृति का एक नोमस मग्न भाव है। उन्नी शक्तियाँ तथा आकाशकताएँ भी अत्यन्त सीमित हैं। असल में तो वह मन ही है जिसमें सारी विषयार्थ निवास करती हैं। बड़ी ब्याकुल तथा उद्विग्न होकर अपनी वासना की अत्यन्त सूत्र से घटीर को हाँक कर उस स्वच्छ मन को अपवित्र बना देता है जिसमें उस अमम अपोति की फिरुएँ प्रतिबिम्बित होती हैं तथा समाधि के सहस्यार-कमल विकसित होत हैं। घटीर की वासना तो अमृतमय है लेकिन यह मन के भीतर का काम है जो सर्वत्र अहं विद्येरे देता है।

कलासहित करता है।

शब्दार्थ—कलासहित—अमम की वाह। स्वत स्फूर्त—अपन आप अमम बहने वाला। अमम—मायि। रसावेद्य—रस का धार्यण।



धर्म—उस की कामना जिस प्रकार छारे कमों को धुपित कर देती है उसी प्रकार वह काम का कार्य भी धुपित और हैय है जो सहज स्फूर्त नहीं होता। जिसका ध्येय मन की मूल को समस्त धाम्त करना है तथा वहाँ पर शरीर की सहज प्रकृति से नहीं धपितु मन की दूषित माया से प्रेरित होकर सुख की खोज करता है। जहाँ हृदय की चेतना जागृत होकर स्वयं नहीं बहुवी धपितु मन की शिष्या से बचीमूठ होकर उसे जागता पकटा है। धपना जब मन रस की चरम स्थिति में जाने के लिए बसपूर्वक शरीर के यत्नो का संभासन करता है।

किन्तु कभी जाता हू।

शाब्दार्थ—एकाग्रबुद्धि—एकान्त चित्त। मांस-वेद्यिया—शरीर का उमार। पुनक—रोमांच। स्नायु—नस। स्वल्प—बोड़ा। आस्थानन—विस्तार। संकोचन—सकोच। प्रनायास—बिना किसी परिश्रम का। प्रकस्मात्—प्रचालक।

धर्म—लेकिन क्या कभी कोई रस की परम स्थिति में बिना एकाग्रचित्त के केवल शरीर को हलक सकता है? बाहर की उमरी हुई मांस-वेद्यिया आनन्द के रस को नहीं जानती उसे तो हमारी भीतर की नस जानती है और मन उसका भोगन करता है। इसीलिए कामना रहित काम अन्य सुख वह स्वामिक रोमांच है जिस पर स्वप्न में भी किवी का स्वभाव भी धधिकार नहीं हो सकता। वह शरीर के विस्तार एवं संकोच से शाध्य नहीं है धपितु प्रनायास उसी प्रकार स्वभावतः प्रकट होता है जिस प्रकार स्वाति की बूद सीपी के सुते हृदय में धा धिरती है। उस काम-सुख में तेज देने का व्यापार नहीं चलता। वह तो सहज ही केवलमात्र ग्रहण किया जाता है।

और पुन-कामना प्रतिमाओं ली।

शाब्दार्थ—वारि-बन्धरी—बल-सत्ताएँ। प्रतिमाओं—मूर्तियों।

धर्म—और यद्यपि पुन की कामना बलि वह काम-सुख का उद्दय है तो सुखकर है पर निष्काम काम का वास्तव में यह भी मूल ध्येय नहीं है। उद्देय हीन कामरहित काम-सुख की चेतना की धार में सन्ताने धनमात्र मोक्ष से उसी

साकर बिना जाती है जिस प्रकार जल-सतारों में फूल बिजले हैं तथा गिराकार सत्ता के चर से बीजन की मूर्तियाँ स्वयं निकल पड़ती हैं।

विशेष—उपपुंक्त दोनों प्रसंगों में निष्काम-काम में विरोधाभास की प्रतीति है।

प्रकृति नित्य तथा हो।

अर्थार्थ—एकतान=एकाग्र । निस्तब्ध=बहुलता । मायावरण=माया का पर्दा ।

अर्थ—प्रकृति सर्वत्र शाश्वत ध्यानस्थमयी है। जब कभी हम अपने मापको भ्रूणकर प्रकृति के किसी रूप में एकाग्र हो बिलीन होकर महान समाधि में डूब जाते हैं तो हमारे हृदय के कमल खिल उठते हैं, धनुष की धार बहने लगती है तथा हम इस भौतिक विश्व को छोड़कर अतना के किसी धीर ही लोक में पहुँच जाते हैं तो एक क्षण के लिए ऐसा समता है मानो मन के ऊपर से माया का आवरण हट गया हो।

विशेष—धोनी जब साधना के स्तरों को पार करता है तब उसकी स्थिति कुछ ऐसी ही हो जाती है—

“रत्न गगन गुफा में अजर अर”—(कबीर) में धोनी की उची स्थिति का वर्णन है जिसका संकेत जर्बंदी पुरखवा के प्रति करते हैं। ‘तुलसीदास जी’ भी भारतीय स्वल्प रत्नावली की क्योति से एकतान हो वैदिक विश्व को छोड़ वेतना के रसमय सोपानों पर चढ़े थे।

“दृष्टि से भारतीय की संयकर

कवि उठता हुआ बना अजर

केवल अजर केवल अजर फिर देखा।

निरासा तुलसीदास

क्या प्रतीक अंधार में

अर्थार्थ—अतीत=चिह्न । यद्विषय=निमित्त । प्राम्य=प्रसिद्ध । पद्धति

=उपेक्षा । अथयथ=धर्म ।

अर्थ—क्या कामबुद्ध, जबकि वह निमित्त और प्रसिद्ध न हो माया का

प्रतीक नहीं है ? वह भी तो मनुष्य को स्वामाधिक प्रकृति से ऊपर उठाकर मन के माया-मोह के बन्धनों को छोड़कर मुक्ति की दिशा में ले जाता है । किन्तु हम तो प्रकृति के प्रसन्न भक्त हैं फिर मुक्ति की खोज क्यों करें ? जब तक प्रकृति योग है तब तक हम भी श्रीरामाय की मानसमयी शान्ति तथा स्वामाधिक बाप में बहते जाएँगे ।

पुकरवा

कुसुम और सुमन है ।

शब्दार्थ—कान्त = सुन्दर । बपसी = कुम्हरी । उषाक = बाणी-मुक्त ।

प्रसन्न—उर्बची के ईश्वर और प्रकृति पुत्र्य तथा काम की विद्या व्याख्या किए जाने के पश्चात् भी पुकरवा की विज्ञानाद्या खान्त नहीं होती । उसका उन्मोहनीय स्वर मन उत्प के धर्म की महत्ता तक नहीं पहुँच पाता । वह उर्बची की बातों को स्वीकार तो करता है लेकिन फिर भी उसका मन लकड़ किए बिना नहीं रहता ।

धर्म—कुसुम और स्त्री (कामिनी) दोनों सुन्दर हैं पर कामिनी फूलों से भी कहीं अधिक मधुर है क्योंकि फूल बोस नहीं सकते मारी बोस सकती है पुरुष बाणीरहित सौम्य है और स्त्री बोसता हुआ फूल है ।

किन्तु 'हूँ' है ।

शब्दार्थ—सुमुख = सुन्दर मुख । प्रसून = फूल ।

धर्म—किन्तु यदि फूलों के सुन्दर मुखों से प्रसन्न फूलने लयें और वे भी महान् चिन्तन में लीन हो जाएँ तो उन सबकी भी मेरे बीसी ही वधा होगी । अर्थात् पुत्र्य सभी एक सुन्दर हैं शान्त हैं जब तक वह चिन्तन का रोग बनको नहीं लगता ।

यह प्रपत्त आया हूँ ।

शब्दार्थ—प्रपत्त = भरना । हिमोर = लहर । मुह्य = पुष्ट महान् ।

धर्म—वह रसादिष्ट बुद्धि का निर्दर वह चिन्तन की हिमोर विद्यकी भाग में बहुता-बहुता में न जाने किन बहुत आकाशों में रहस्यमय लोनों में बूनकर आया हूँ उर्बची ! धामर तुम्हें नहीं मानूँ ।

धादि घंठ नहीं है ।

शब्दार्थ—धादि-आम=उसके रूतम । काल-गह्वर=समय की गुफा ।  
कोर=विनाश ।

धर्म—जीवन के धादि-धर्म का भेद नहीं लगता । चिन्तन व इस अटिल  
आम का समय की गम्भीर गुफा में कहीं भी मत नहीं है ।

विधि विधय जलता है ।

शब्दार्थ—धककेत-धकस=धूम्य-रस ।

धय—नियम-अनियमों के बन्धन सबमुच ही कम की ऊपरी रेखाओं की  
तरफ़ ही हैं । धातर के महान कम पर उनका कोई प्रभाव नहीं उभरता ।  
मनुष्य के गम्भीर धातर से भावना का जो भी ज्वार उठता है उस पर इन  
विधि विधियों का कोई कोर नहीं जलता ।

स्वास्त्य रहने का ।

शब्दार्थ—सायास=उपल । स्वीकृति=स्वीकारोक्ति । क्माट=क्रियाङ्क ।  
प्रजा=बुद्धि ।

धर्म—सम्बन्ध-मल-साध्य योग इस स्वीकारोक्ति की प्रकल्पना मात्र है  
कि इस प्रकृति के रूम्भय विचारों (धारों) को नहीं जोन सकते तथा सामर्थ्य  
परकित बुद्धि को उस रूम्भ की जोन में किसी भांति समाप्त करने का  
प्रयास है ।

साय रही है ।

शब्दार्थ—भारमार्यण=भारम-समयण । धारयागति=धारण में जाना ।  
मृगमन=बीजे जलता । धकिगत=प्रजात । विनीतुं=कृष्णाका ।

प्रज्ञा—धरणी बैठना की समस्त परिधि में घूमकर तथा उर्वरी व तथ्यों  
पर सर्वयन करते हुए अन्तर्ग वृक्षका की समस्त प्रजा सिमट कर उस प्रजात  
के चरणों में अपना सबकु धरुण करते के हेतु विवस हो उठती है । उसे  
जता है उसे इस-चरणों की तरणामति धारकत सत्य है । उसका सकेतों का  
धनुवनन करना ही कर्म है । उसकी प्रसीम सुपना की मनुबुद्धि ही कम का  
परम करण है । उसे तो एक सर्वत्र जहाँ की धीगर्भ-जला विधीरुं हुई जपती  
है । धीट, उर्वरी उस प्रजात सावध्य का केन्द्र है; धाकर है ।

धर्म—सत्य केवल उस सत्ता के चरनों की दरख सेना है उसके प्रति आत्मसमर्पण करना है जिसे तुम प्रकृति तथा मैं ईश्वर के नाम से अभिहित करता हूँ। उस अबाक तथा अज्ञान के संकेतों का अनुसरण करना ही एक मात्र कर्म है और उस सौम्यत्व तथा क्षमि का सतत अनुभव करना ही धर्म है जो सर्वत्र बिखरी हुई है तथा केन्द्रीभूत होकर तुममें भस्मक रही है।

आह! क्या रही हो।

आश्चर्य—जुबन—संसार। इंगित—संकेत। इर्मा—पेड़ों।

प्रसंग—गुरुत्वा को सर्वत्र उस अन्त को क्षमि पृष्ठित होती है जो उर्बशी का आधार से सौम्यत्व में छिपट गई है।

धर्म—अज्ञान ब्रह्माण्ड में अर्थात्क जहाँ भी उड़कर बाढ़े वहाँ एक वही रूप हंस रहा है। प्रकृतिकत हो यही सर्वत्र सन्त कर रहा है। सूर्य चन्द्र लक्षण पुण्य तृण पेड़ सभी में यही तो भस्मक रहा है और यही मुख मन के अन्त महान सागर में बसती हुई लहर-सा बार बार उचित होकर फिर विचिंत हो जाता है। लगता है जैसे तुम सागर से बाहर निकली नहीं हो अपितु अपनी अन्तमूर्ति की सीतलता में धाज भी शीका कर रही हो।

विशेष—प्रेम की परम पावन रस-सिक्त समुद्रगत फिरसु जब मन के मायाचरणों को भीर कर हृदय के महान अन्तराल में प्रवेश पाती है तो प्रेमी को सर्वत्र प्रेमिका का रूप दिखाई देता है। भक्त को सृष्टि के कण-कण में भवदान का सौम्यत्व नजर आता है। उसका प्रमाण ही हृदय अन्तर्गत जनता है जिसके शक्ति हैं अन्त ही तू है।

देखा तुम्हें हवा कर।

आश्चर्य—बलशो—बादलों। पटस—पर्वा।

धर्म—तुम्हें मैंने बहुत बार देखा। पर अब भी मुझे यह भासूम नहीं है कि तुम पहले-पहल किस रूप-भेति को भीर कर चिन्ती थीं। उस निष्कार अज्ञ के चर से निकल कर तुमने कहाँ आकार कारण किया या तथा किन परवा भीर कर तुम जया की तरह प्रकट हुई थीं।

कहते हैं 'धामा सी ।

शब्दाप—उप-पुत्र—उपस्था से पवित्र हुए । संश्रित—एकत्रित । धामा—  
—चमक ।

धर्म—मेरे सम्बन्ध में कहा जाता है कि मैं संसार में बिना पिता के  
—वैरा हुआ हूँ । तो क्या तुम भी सम्बन्ध मेरी ही तरह विरज में पाई हो ?  
पवित्र उपस्थी मनुष्य की उपस्था की सम्पूर्ण एकत्रित धामा की तरह ब्रह्मा  
की कायेच्छा से क्या तुम भी बिना माता के ही उत्पन्न हुई थीं ।

या समुद्र—व्याख्या सी ।

शब्दार्थ—सप्तर्षिण—सोठार की धाय । धाकूल—पीड़ित । सप्त—सर्गम् ।  
अम्बुधि—सागर । सुरासुर—देव-असुर । अयग—अदृष्ट । पुग—व्यापी—मृग  
में फँसने वाला । प्राङ्गणो—धामन्त्रियों । अप्रथिम—अनुपम । अतल-विषय-  
पाठान-तलातल—सौकों के नाम । अनुक-विस्मय—कृतज्ञ भावना । अरुण  
—सावितायुक्त मूर्धे ।

धर्म—अथवा समुद्र जब बड़बान्धि से व्याकूल तापित तथा बेचैन या  
तब तुम उस व्याकूलता से पुष्प-सरीखी उसी प्रकार उससे फूल निकली थीं  
जिस प्रकार उस धर्म में अग्न्य रज निकल पड़ते हैं । तुम पुग-वर्षों से तथा देवों  
तथा वसुओं के अन्तरल धामन्त्रियों से ध्याविमूढ ही एक प्रात अनुपम विद्या  
ही रसावन के लोको को छोड़ पृथ्वी पर उसी प्रकार निकल आयी जैसे सागर  
के तल से जपा निकल आती है । जब प्रात-कासीन धूम की धामा की  
प्रथिमा सी तुम धूमिल तरंगों पर बड़कर नीली लहरों पर नृत्य करती हुई  
व्याका सी कम्पित होकर ठहर गई होगी तो सारा धाकाध कृतज्ञ में ब्रह्म  
अपा होगा । सब वैभवा बन्धित होकर तुम्हें बड़े देखते रहें होंगे ।

कैसा हीच—अत्युक्तता से ।

शब्दार्थ—दीप—दोषित प्रतिभासित । पावकमय—अग्निमय । फेन—  
अप । सुभ्र-असन—स्वैत-वस्त्र । उद्दीप—ऊँची मर्तन क्रिये ।

धर्म—तुम्हारा यह अग्निमय (तेजोहीन) रूप नीली लहरों में तथा  
विभ्रमिकाये अर्थात् के स्वेत वस्त्रों में कैसा सुन्दर लय रहा होगा । धीरे कासी  
लहरों पर उठाये अविशिष्टों सी तुम्हें बड़ी उत्कृष्टता से देख रही होगी ।

खन किया बग में ।

शब्दार्थ—मण्डि-मुक्ता विद्रुम-प्रवाल = रत्नों के प्रकार । बिरचे = बने निर्मित । विद्रुम = धतूरा ।

धर—छावर तुम्हें छोड़कर बहुत रोया होया । तुमसे विद्रुम-कृते ही विविध मण्डि-मूकों से निर्मित उसके महल की सुपमा फीकी पड़ गई होगी । महा-छावर का साथ हृदय सुनसान हो गया होगा और इस रक्त-भाँस से मुक्त धनुषम कान्ता-कृसुम को पाकर देवों के संसार में हर्ष का धनुष जय जयकार हुआ होया ।

विशेष—उपयुक्त पंक्तियों में उर्वशी के प्रति भैसे पुकरवा का साथ हृदय एक साथ उमड़ पड़ा है । उर्वशी के प्रभाव में सागर की तीन कल्याण-वस्त्रा का कवि ने बड़ा ही सुन्दर भावमय एवं विचित्र बर्णन किया है । निस्तम्भेह इन पंक्तियों की निर्मिति के समय कवि का समग्र हृदय भी सिमट कर सेखनी की गोक पर धा डटा होया । ऐसे शृंगार के प्राञ्जल परिपुष्ट एवं गम्भिरुक्त विचरितकर की सेखनी से ही सम्भव हो सकते हैं ।

तुम धनन्त रह जाती है ।

शब्दार्थ—निमित्त = सम्पूर्ण । व्याप = व्याप्त होना । धंक = मोड़ ।

धर—तुम धनन्त सौन्दर्य हो जो एक घटीर में बसकर भी समस्त विश्व में फैलकर पारों विधाओं में व्याप्त हो रही हो । तुम धन्तहीन कल्पना हो । मैं जाहूँ विच प्रकार भी तुम्हें अपनी मोद में समेटूँ तुम्हाएँ एक किरस किर भी मेरी बाहुओं से बाहर रह जाती है ।

ये जोचन देखा ह ।

शब्दार्थ—कपोत = बाल । सुति = चमक । किरसय = गये पत्ते । मदन = कामदेव । सुतिषा = बान । उकुभों = धितारों । विषु = चन्द्रमा । शान्ति = बकान

धर—तुम्हाएँ ये धरों जो किसी भौतिक विश्व के आकाश के हर्षण सगीची है ये कपोत जिनके प्रकाश में मोर की किरण उतरती है कोमल किरसय उ ये होंठ जिन पर स्वयं कामदेव मृत्य करता है कामना धाँसू

बहाती है तथा पीड़ा सहसा मुक्ति हो जाती है। ये काल जिनमें सिंघारों के धातुओं को बूझें भरती है बाह्य चक्रमा के प्रकाश की मानो दो नई किरणें हैं तथा तुम्हारे बल के पुष्पों के रूप हैं गुण्डर विकास-मूल हैं जहाँ मौत के पथ पर जाने वाले व्यक्ति छुड़ कर अपनी सफाई कर सकते हैं और तुम्हारी यह मुक्ति जैसा किसी दूर से भाती हुई किसी किरण की कति है जो सहसा मेरे मन में किसी सीमा-हीन जगत् का ध्यान जगा देती है जिसे मैं चाहता तो हूँ पर कभी देख नहीं पाया।

विद्युत्—उर्ध्वी के पार्थिव सौन्दर्य में पुनरुत्था को समस्त प्रकृति तत्वों का अखिल सौरभ प्रतिभासित होता है। स्थूल सौन्दर्य के आकर्षण से मानव के मन में एक ऐसे सूक्ष्म, अदृश्य सौन्दर्य की सतक उदा कटती है जिसे वह कभी भी नहीं देख पाता।

यह रहस्यमय लेते हैं।

ध्यातार्थ—मर्त्य मुक्त—मृत्युसोक।

धर्म—ऐसा रहस्यमय रूप तीनों मुक्तों में सम्यक् और नहीं है। वेबलोक किन्नर लोक गन्धर्व लोक तथा मृत्यु लोक—सभी इससे बंधित हैं। फिर ब्रह्माणी तुम इसी प्रकार जैसे ब्रह्म के बहती हो जिस प्रकार संसार के अन्य सौन्दर्य ब्रह्म लेते हैं।

कहो सत्य धर्मितम मर से ?

S Jc Note

ध्यातार्थ—अक्षय—रूपहीन ; स्थापित—साकार ; तन्मय—जीव ; निरभेद—चेतना-रहित, अचेत ; एकात्म—एकाग्र ;

धर्म—सब-सब ब्रह्माणी कि तुम शब्द के भीतर से निकली थीं धर्मवा आकाश को भीतर ही घुस घुसिए ? या जब रूपहीन सौन्दर्य को अक्षय में आसने के लिए अतीतिक सौन्दर्य के विस्तार में समाधि बनाए निरभेद हुए बैठे थे वह हम ब्रह्म की महान् कल्पना से उनके एकाग्र मन के नापी बनकर निकल पड़ी थीं ?

उर्ध्वी

ये मानवी नहीं रहता है।

ध्यातार्थ—मानव—मूल ; निरभेद—सुखता ; ध्यातार्थ—परमा ;



कवित्व—सौन्दर्य ।

प्रसंग—पुकरवा के प्रसंग किए जाने पर सर्बस्वी स्वयं को बेबी कहकर धरयन्त रहस्यमय ढंग से अपनी परिचय देती है ।

सर्व—मैं साधारण मानवी नहीं हूँ अपितु देवी हूँ । और देवों के मुख पर सर्वत्र एक बुझना सा रहस्य का परदा पड़ा रहता है। उस परदे को न हटाओ, तभी उचित है; अन्यथा उसके पूर्ण रूप से प्रकट हो जाने पर जीवन में कुछ भी सौन्दर्य शेष नहीं रह जाएगा ।

विशेष—बैदिक वर्णन में ब्रह्म के स्वरूप की चर्चा के अन्तर्गत एक प्रसंग में इसी प्रकार का ध्यान व्यक्त किया गया है—“वे देवों की पुत्रियाँ न तो पुरुषतया मन्त्र हैं और न ही सर्बस्वा मन्त्रावृत्त हैं । सौन्दर्य को कवित्व कहकर कवि ने यह भी कहना चाहा है कि कविता का अर्थ सर्बस्वा अभिवात्मक होने पर उसका सौन्दर्य भ्रष्ट हो जाता है । ‘उसोकार’ ने इसीलिए अपनी कविता के सम्बन्ध में मध्यम मार्ग की बात कही है—

‘अति इष्यो न उदार ललित विमि सिष्यी सिवात्सु ।

वरुण वरुण सौमन्त हार अतुरव वितात्सु ।

—अन्तरदाईं पूम्नीपञ्च रासो

स्पष्ट शब्द—आश्रय से ।

सम्बन्ध—शुद्धा—बैदिक-मन्त्र । साधन—तात्पर्य—रहस्य ।

अर्थ—अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए स्पष्ट शब्दों की अपेक्षा अस्पष्ट तथा सुबले शब्दों का चयन अधिक महत्वपूर्ण होता है क्योंकि उसमें एक प्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न विद्यमान रहती है तथा ये सुबले शब्द ही वैदिक मन्त्रों में प्रयुक्त हो समस्त संकाशों का घुन निरिचत चरित्र से जोड़ बैठे हैं ।

और यहाँ—विषय का ?

सम्बन्ध—निरापर—आपरा से रहित निःशर्क । ज्ञाना—अभ्युक्ति । सर्व-स्पष्ट—अर्थविकसित । मेघ विघटन—रहस्योद्घाटन ।

अर्थ—बिना स्वान पर प्रकाश और अज्ञान मिलते हैं यही सहज विन्दु मनुष्य के मन का शान्तिमय सहाय होता है । बने कुछ मोक्षिता चारणी—

ये सब न रहे तो दिन को कौसी प्रकाश रूप में जीवन कब तक चलता रहेगा । प्रकाश का यही बरवान है कि उसमें सभी कुछ अदृश्य तथा भिन्नमित्त है । स्वप्न से स्वप्न और हृदय से हृदय मितकर परस्पर सुख पाते हैं । यदि सर्वत्र प्रकाश हो जाम और जितने भी कुछ भेद हैं वे सब अपने नाम रूप में सामने भा बनू हों तो रहस्योद्घाटन के इस प्रहार को भीम सह सहेया ?

विद्युत्—यह सत्ता रूप और छाया का सम्मिश्रित स्वरूप है । प्रकाश का अस्तित्व भावकार के बिना कुछ भी नहीं । तब स्वतः प्रकट है प्रकाश महत्त्व अधिक नहीं है । जो रहस्यमय है उसके उद्घाटन में ही मनुष्य की सेवा संभरल करती है । उम प्रकृत ब्रह्म सत्ता के उद्घाटन में पुण्यतन मेधा-सम्पन्न मनीषि-स्रष्टाओं ने 'नेति-नेति' कहकर रहस्य का आवरण बिछा दिया है । छाया और रूप उस भिन्नमित्ते आवरण के ही एकत्र ही बियोग्य हैं । बेहो से लेकर अतिपहो तक यही एकतान से स्वीकार किया गया है । ब्रह्मविदों ने सब प्रकृत का बरुन छाया प्रकाश के भीने आवरण में परिवर्षित कर अनुसूत किया है—

छायास्तत्रै ब्रह्मविदी बवन्ति ।"

—कठोपनिषद् चतुर्थ बन्नी

इसलिए को की ?

अर्थ—अन्तम—नापी पर्याप्त । अनुसूत-अन्तम—उत्पृकता का समाधान प्रोत्सुन्य की शान्ति ।

अर्थ—इसोबिए में कहती हूँ कि तुम अब तक जितना जान पाए हो नहीं पर्याप्त है । इससे धार जान पर तुम्हें विस्मय की शान्ति क परिचित और कुछ नहीं निक पाएया । धीरे तुम्हारे विस्मय को भी मैं जैसे एक क्या कहकर शान्त कर सकती हूँ ।

ये प्रदेह नारायण की ।

अर्थ—अरेह—देह रहित । धारवा—बैटी । तपया—पुत्री ।

अर्थ—मैं सर्वथा धीर-हीन कस्या हूँ और तुम मुझे स्वतः धीर मान बैठे हो । मैं निष्कार हूँ किन्तु तुम मेरे साकार स्वरूप को देखकर मुझे सापर की बैटी तथा ब्रह्म की शान्त-पुत्री बनाने रहे हो ।

विशेष—उर्बची इन पक्तियों के द्वारा पुरुरवा का ध्यान उस प्रदुष्य  
अभ्यक्त साम्यन्तर, सूक्ष्म सौन्दर्य की घोर धार्कणित करना चाहती है ज  
देह की समस्त पार्थिव प्राचीरों को भेद ज्योति के अनन्त अन्तरात्म में प्रकाशित  
हो रहा है। वहीं नर तथा नारी का धास्वत सौन्दर्य है। वैहिक सौन्दर्य त  
विकल-व्यग्र मन का अस्थिर भूलाभा मात्र है।

कव चा' प्रकृति है।

अर्थार्थ—अस्तित्व = सामर्थ्य मूल्य। ह्लादिनी = विजती।

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण में उर्बची अपनी अर्थात् धास्वत सौन्दर्य क  
सत्ता को सर्वव्यापकता तथा सक्रियता का वर्णन करती है।

अर्थ—कौनसा ऐसा समय था जब मेरी अक्षित विद्यमान नहीं थी? कौनसा  
अविष्य विश्व में धाएगा जिस दिन मैं न खूंगी? कौनसा ऐसा पुरुष।  
जिसकी समाधि में मेरी भ्रमक नहीं है? कौन ऐसी स्त्री है जिसके यौवन  
में नहीं अज रही हूँ? कोई शोक ऐसा नहीं जिसमें मेरी मुस्कान की विचल  
न अमक रही हो। कोई वादस नहीं जिसको मैंने अपनी सेव न बनाया हो  
कौनसा बात कहुँ घोर कौनसी छोड़ हूँ मेरा इतिहास तो इस प्रकृति के समस्त  
प्राणों की कथा है। मैं उसी प्रकार असीम हूँ जिस प्रकार यह प्रकृति।

विशेष—उर्बची का यह रूप अतीतिक है। 'उसमें' की सत्ता ब्रह्म क  
सत्ता है। परम अक्षित की व्यापकता का यह वर्णन प्रायः प्रत्येक समर्थ कवि  
ने किया है। कुछ उदाहरण दर्शनीय हैं—

'हुत बह है, जो प्राये रहई'

—जायस

पुरुरवा

सत्य मात्र' विना-सी।

अर्थार्थ—मानुषी = पार्थिव। अघरीरी = अघरी से रहित। मान =  
धामास। रंज नर = पोड़ा सा। मर्त्य-असन = मरणशील अस्त अघरीर। अदे  
= देह से रहित अघरीरी। विना = ज्योति।

अर्थ—पुरुरवा कहता है कि मैंने तुम्हारे सौन्दर्य को सत्य एवं धास्व  
माना है तथा कभी स्वप्न में भी तुम्हें अपने से भिन्न नहीं समझा। तुम ना

हो। बार-बार ऐसा कहते हुए भी मैंने तुम्हें इस जगती की सामान्य देह-बन्धन वाली नापी का रूप नहीं दिया। तुम मेरी अचरीरी कल्पना हो। देह धारण करने पर भी तुम जब अपने अन्तर्गमनों से भरे हृदय क भीतर ध्वंशती हो तो मुझे ऐसी मजबूर कल्पना का आभास होता है कि जिस तुम्हारी देह को मैं अपनी भुजाओं में समेट कर हृदय से सगाता हूँ वह रक्त और मांस की बनी हुई मूर्ति नहीं अपितु एक सपना हो एक छाया हो।

मर्त्य-वसन धारण करने पर भी तुम्हारा देहत्व हममें से रंज मात्र भी नहीं छिप पाता है। देह-धारण करने पर भी तुम मेरे लिए एक अचरीरी ज्योति के समान हो।

हामा कहां? 'बुका हूँ।

शब्दार्थ—हामा=प्रकाश। मनु=मनोहर। पाबूति=भूमि। पटन पर्व। समग्र=सम्पूर्ण।

अर्थ—प्रकाश कहां है? प्रकृति के जिस अंग पर तुम्हारे चरण पड़ जाते हैं वहां तुम्हें बेर कर चारों तरफ मुक्त प्रकाश का आभास होता है और उस समय तुम्हारे भीतर मैं जो अनुपम सौन्दर्य देखता हूँ वह अन्वय नहीं देखने को नहीं मिलता। फिर भी अगर तुम्हारे प्रकाश-मुग्ध में मेरे हृदय की कहीं बुझती छाया आच्छादित हो गई हो तो मेरी यह इच्छा होती है कि उसके पटन को हटाकर स्वप्न-लोक में बैठकर तुम्हारे सम्पूर्ण वसन कर लूँ। हे अचरीरी! अपनी सपना धातु में मैं तुम्हें अपना हृदय का बीपक बना चुका हूँ (जिससे मैं सदा अन्वकार से प्रकाश की ओर बढ़ता रहूँगा)।

कीन सत्य 'मुक्त हो।

शब्दार्थ—कदात=भयकर। अनावरण=आवरण-रहित। अशानि आघात=विजनी अथवा बन्ध के आघात से। समग्र=सामने। प्रतिमा=मूर्ति। भीति=डर। अनिमय=एकटक, निमित्त।

अर्थ—हे अचरीरी! 'मुक्त बतानो' आदि वह ऐसा कीनसा भयंकर सत्य है जिसका पर्दाकाश (अनावरण) कर देने से अग्नि प्रकट होगी जिससे मेरे ये पारिषद सोचन जल कर मरम हो जाएंगे? यानी जिस सत्य के बख्शावत के

समान प्रकाश-पुञ्ज को सहने में मैं असमर्थ हूँ। तुम बिना संकीर्ण और भय के सब कुछ कह दो क्योंकि जब तक तुम्हारी यह प्रतिमा मेरे सामने खड़ी है धर्मत्वं जब तक तुम मेरी भाँकों के सामने हो तब तक मैं ब्रह्म के व्यापारों से भी नहीं डरता। मैं यह सब कुछ तुम्हें अनिमेष दृष्टि से देखता हुआ सह सूँघा।

उर्बेची

पर क्या प्रह्लादल से निकली।

आचार्य—देहनाथ = शरीर धारण। मनोदेह = मानसिक व्यथ। व्यस = व्यस्त। पेनाङ्क = मूकम श्वेत बस्त्र।

प्रसंग—उर्बेची एकरवा के मानसिक उद्बेसन से समुत्पन्न कुछ प्रश्नों का उत्तर दे रही है और अपनी यथासुंठा का विश्व समुपस्थित कर रही है।

धर्म—उर्बेची कहती है कि मेरी बाएँ कूँड जी कहने के लिए प्रवृत्त है। मैं कुछ मानव देह धारण के सम्बन्ध में जो कि वस्तुतः भावितपूर्वक व्यक्त-कलाप है, कुछ नहीं कह सकती। यह प्रश्नों का प्रयत्न जो कि वस्तुतः मानसिक संसार की सम्बन्धता का स्वरूप है धर्मतन में चेतन का संसार है। बायों कहिए कि पञ्च महाभूतों की संकतगमात्राओं (वय रस बंध स्पर्श प्राणि) का एक प्रतिमान आकार चेतन की शक्त से प्रतिबिम्बित हो रहा है। (उर्बेची अपने को साधारण मानव बतमाती हुई कह रही है कि मैं कोई लक्ष्मी नहीं जो किसी मूढबुद्धोक्त से भिन्न तमातब, विदल, पाताल और महातल आदि लोकों में से अपनी किसी सागर की सकेर, जमकीसी डाँके की मसमल के समान शरीर समग्र की सतह को चीर कर उत्पन्न हुई हूँ) धर्मत्वं मैं देवी धर्मित नहीं हूँ धर्मितु साधारण मानवी धर्मित होने के कारण भाषको मुझ पर इतना मात्र विश्वास और धर्मसम्बन्ध नहीं होना चाहिए।

मैं नहीं पूँवर उत्तरी।

धर्म—मैं कोई आभास-मण्डल में विकसित होने वाली धाराओं के साथ जमती-झूलती हुई धर्मीक सत्ता नहीं हूँ। धीर न ही मैं व्योम-मण्डल से उठती हुई कोई शक्तिका हूँ। न ही धर्म का धिरणों से मुक्तिगत कोई धर्म-

लोक से आई हुई बांब की पुत्री हूँ और न ही मैं बम्ब की उज्ज्वल किरणों में स्नान करती हुई सोमह कसाभों से परिपूर्ण तारामंडल और बम्बकिरणों पर झूलती हुई कोई नाटी पृथ्वी पर उतरती हुई हूँ ।

मैं नाम योत्र समुद्भूत ।

सम्बार्थ—इतिवृत्तहीन—इतिहास रहित, बिदम्बर—सांसारिक प्राणी । समुद्भूत—उत्पन्न ।

अर्थ—उर्बची कहती है कि न मेरा कोई नाम है, न मेरा कोई (ब्रह्मा) योत्र है । मैं तो एक ऐसा पृथ्वी हूँ जिसकी कोई पहचान हा नहीं । मैं आकाश में उड़ती हुई स्वच्छन्द धान्द की सरिता हूँ । मेरा कोई इतिहास नहीं । मैं सृष्टि की सजीव मूर्ति हूँ, सबका मन को उद्बोधित करने वाली उच्च न तन्म हूँ । न मेरी गणना देवताओं में है न मनुष्यों में है न किन्नरों में है और न बम्बों में है । हे त्रिम ! मैं केवल साधारण अक्षरा हूँ जिसका जन्म सांसारिक प्राणियों की सबका ब्रह्मा की इच्छाओं के सागर से हुआ है ।

कामना तरंगों बसने वाली ।

सम्बार्थ—कामना तरंगों—मानसिक इच्छाओं । आशोचित—आशोचित । बाइबाभि—अन की प्रति । निमूत—बुधबाप । हेमान—स्वर्णकान्ति । उच्च ग—उन्नत ।

प्रसंग—उर्बची अपने जन्म का कारण स्पष्ट करती हुई कह रही है—

अर्थ—जिस समय सांसारिक प्राणी (मानव रूप वाली) अपनी कामनाओं के बधीभूत होकर अपने मन को सागर के समान तरंगित असांत और मानसिक अंधि से पीड़ित अनुभव करता है जब उसे मेरा अभाव बटकने लगता है और वह मद-मद कंड होकर मुझ मानव की पूरक सक्ति को अर्थात् अर्थात् को अपने लोक-परलोक के कर्म-कलाप को पूर्ण करने के लिए सागर धामंजित करता है । मैं इस समय धनीकिक जीवन से परिपूर्ण पुरुष के निस्तम्ब प्राण-गर्म से उद्भूत होकर सृष्टि स्वर्णमयी अंति से विभूयित धनी किक रूप धारण किए हुए जैसे कि किसी कास्मनिक लोक से उतर कर आ रही हूँ, भूमि पर जन्म धारण करती हूँ । मैं मानव के समीप आकर उसे अपने

कार्पण्यों से विभित कर लेती है । मानव के कल्प-कल्पान्तरों के विषयायुधों को धपने उन्नत हृदय में स्थान देकर शान्त कर देती है । घटा में प्रत्येक मनुष्य के हृदय में निवास करने वाली भीठी धमिल हुई धपना मानव के धमिल धार-पूर्ण हृदय में प्रकाश का समोत्पिपुण्य है । मैं मनुष्य के मन में रहने वाली गीरी की वह श्रेष्ठ कल्पना है जिसे कि नर धपने जीवन का अन्तिम उद्देश्य समझ बैठे हैं ।

विषय के पिर जाती हैं ।

सम्बन्ध—धमिलबर्ति—धमिल की सलाई । स्फांकुष—रूप का नियन्त्रण ।

धरम—छा टांगों का एक बन्धु । भू-स्मिति—मौह संभालना समझ—विभित ।

धिमनी—धनुष की डोरी । संस्र—विभित ।

धर्म—मैं गीरी शक्ति के रूप में महान विषय भुवंगम के फण पर धमिल बर्तकर सकती है । (मैं इतनी प्रमादधानिनी हूँ कि) उर्ध्व से उर्ध्व दुर्बलनीय से दुर्बलनीय और अत्याचारीसे भी अत्याचारी धमिल-धनुष पर धपने मोहक रूप के प्रकृष्ट से काबू पा सकती हूँ । मेरे रूप के सामने प्रत्येक धमिल कमल की क्रोमल नाकके समान निर्बल हो जाती है । मुझ गीरी के सम्मल गरत्व का धमिल करने वाले महमस्त नरधम नरमस्तक हो जाते हैं । क्या सिद्ध क्या रीछ और क्या भीठा मेरी मोहिनी के जास में फसकर धपने हिंसापूर्ण भावों को भुस जाते हैं और पालतू हिरण की तरह धपनी सब धकड़फू मूलकर हिंसा से अत्यास से लेते हैं । यही गीरी मरे पूर्वजामल को धमिल भाव से बेसते हुए बड़े-बड़े धूर धीर मस्त हो जाते हैं । धवाहू हो जाते हैं और उनके मेरु कुले के कुसे रह जाते हैं जबकि मरी पूर्ण रूप-माधुरी का वे एकटक दर्शन करते रहते हैं । क्या मजास उन धीरों की जो मुझे बेस धपनी धनुष की डोरी खींच सकें धमिल मुझ गीरी के पूर्ण दर्शन पाकर उन बोझाभिमानि धीरों के धनुष बाण हाव से गिरते ही दिखाई देते हैं ।

कामना धमिल धमिलगन करती ।

धर्म—मैं कामना की धमिलधमिल से प्रमिलित होने वाली स्वच्छन्द एवं दुर्बलनीय धमिल-धमिल । मेरे प्रहार का कोई परिहार नहीं धीर न ही मुझ से

सृष्टकार्य पाने का कोई माग । मैं (सृष्टि के आरम्भ से लेकर सृष्टि की समाप्ति तक) सदा सब मोकों में बिचरण करती हूँ हवा के झोंकों से बढ़ते हुए बादलों की सहूलों पर भी मेरा राज्य है । मैं बर्फ़ीले तूफ़ानों में भी निवास करती हूँ । मैं आकाश के इस छोर से लेकर उस छोर तक उड़कर बीड़ते हुए मैनों को अपनी भुजाओं में बाँध लेती हूँ (यही नहीं कि मैं मूर्त प्रतिमाओं को ही धरना बाह्य बनाती हूँ अपितु) स्वर्णों की समूर्त भावना का भी मैं धामिगम करती हूँ । अर्थात् नारीत्व के रूप में मेरी महिमा अपरम्पार, अगाध असीमिक और दूरगामीनी है ।

बिस्तीर्ण सिन्धु मेरा नूपुर ।

प्रसंग—उर्बंसी नारी की सर्वव्यापकता का चित्र उपस्थित कर रही है । नारी को मन्दिर मस्जिद पाठ और पूजा सब कुछ सिद्ध कर रही है ।

अर्थ—ए पुकरवा ! लम्बे-बीड़े सागर के बीचो-बीच किसी सुन्दरस्थान पर एकान्त में जैसा मस्जिदक किए टापू ही-मेरा हृदय है । संसार के मन्दिरों में देवताओं की मूर्तियाँ केवल भ्रान्ति हैं किन्तु बस्तुतः मन्दिर में मूर्ति के रूप में मैं ही बैठी हूँ । संसार मेरी ही मूर्ति को पर कर भूष दीप, नैवेद्य बढ़ा रहे हैं । मेरे पूजा में मेरे ही नूपुर बज रहे हैं ।

मैं कला उतरती हूँ ।

अर्थार्थ—कला अतमा = कला में जीवन । मञ्जुमय = मञ्जु । प्रकृत्य = कुप । भंगिमा = कृतिमता । तरंगित गर्जु लता = काश्मिम पोसाई । प्रकीर्ति = शान्ति ।

अर्थ—नारीत्व का वर्णन करती हुई उर्बंसी कहती है कि मैं कला का मजीब मञ्जु, अमरुट सीता हूँ । जिस प्रकार से साँठ में अमरुट उतार-बढ़ाव पति में कृतिमता होती है आकार में पोसाई होती है तरंगों और सहूलों का प्राबल्य होता है उसी प्रकार मेरा भी अंग-अस्त्रं जहाँ पति-विधिओं से भोजप्रोत है । मेरा मह जीवन-स्रोत नारी के रूप में कान्ति की प्रचुरता को लिए इस संसार में अस्तित्व होता है ।

पापार्थों के उबरती हूँ ।

शब्दाव—निबिडस्तमता = अवन पञ्चोदरता । मुक्तिव्यवस्था = सुदय कृति ।



राक्षसों से विजित कर ली है। मानव के कल्प-कल्पावर्षों के विमोचन भूमों को अपने उन्मत्त हृदय में स्थान देकर छात्र कर देती हैं। अतः मैं प्रत्येक मनुष्य के हृदय में निवास करन वाली मीठी ध्वनि हूँ जबकि मानव के अन्तःकार-पूर्ण हृदय में प्रकाश का ज्योतिषुन्त्र है। मैं मनुष्य के मन में रहने वाली गारी की वह अदृश कल्पना हूँ जिसे कि नर अपने जीवन का अन्तिम उद्देश्य समझ बैठे हैं।

बिजबर के चिर जाते हैं।

शम्भार्थ—अमृतवति—अमृत की सजाई। रूपाकृष्ण—रूप का गियगण।

शरम—छ टांगों का एक जलु। भू-स्मिति—मौह संघातना स्मर—धिविज।

सिद्धनी—अमृत की डोरी। समस्त—विश्व।

अर्थ—मैं गारी अस्ति के रूप में महान बिजबर भुजगम के फल पर अमृत

बर्पाकर सज्जी हूँ। (म इतनी प्रभावशालिनी हूँ कि) उर्वर से उर्वर बुर्बमनीय से बुर्बमनीय और अत्याचारोंसे भी अत्याचारी अस्ति-भुज पर अपने पोहक रूप के अक्षय से काबू पा सकती हूँ। मेरे रूप के सामने प्रत्येक अस्ति कमल की कोमल

नासके समान निर्बल हो जाती है। मुझ गारी के सम्मुख मरत्य का बमरु करने वाले मरमस्त गरगराज नमस्तक हो जाते हैं। नया सिंह, नया रीछ और नया

बीवा मेरी मोहिनी के नाम में फँसकर अपने हिवापूर्ण भावों को भुस जाते हैं और पासपू हिरण की तरह अपनी सब अकृष्ण भुसकर हिवा से संघ्यास ले

ते हैं। यही नहीं मेरे भूसंघातन को अस्ति भाव से देखते हुए बड़े-बड़े सूर र मस्त हो जाते हैं, अनाक हो जाते हैं और उनके नेत्र पुमे के कुले रह

ते हैं जबकि मेरी पूर्ण रूप-मात्रुरी का वे एकटक दर्शन करते रहते हैं। नया मजाल उन बीरों की जो मुझे देख अपनी अमृत की डोरी बीच सबके अस्ति

के गिरते ही दिखाई देते हैं।

कामना अस्ति

धार्मिक करती।

अर्थ—मैं कामना की अस्तिभाषों से प्रकृतित होने वाली स्वच्छन्द एवं बुर्बमनीय अस्ति-धिता हूँ। मेरे प्रसार का कोई परिहार नहीं और न ही मुझ से

सृष्टकारण पाने का कोई माग । मैं (मृष्टि के धारम्भ से लेकर सृष्टि की समाप्ति तक) सदा सब ओरों से विचरण करती हूँ हवा के झोंकों से उड़ते हुए बादलों की सहरोँ पर भी मेरा राज्य है । मैं बर्षसे तुफानों में भी निवास करती हूँ । मैं आकाश के इस छार से लेकर सब ओर तक उड़कर दीड़ते हुए मेरों को अपनी चुम्बामों में बाँध लेती हूँ (यही नहीं कि मैं मूर्त प्रतिमाओं को ही अपना बाहन बनाती हूँ अपितु) स्वप्नों की प्रमूर्त भावना का भी मैं धारिणन करती हूँ । धर्मात् मारीत्व के रूप में मेरी महिमा अपरम्पार, प्रगाथ धर्माधिक धीर दूरगामिनी है ।

विस्तीर्ण सिग्ध मेरा मूपुर ।

प्रसंग—जबंभी मारी की सर्वम्पापकता का चित्र उपस्थित कर रही है । मारी को मन्दिर मन्दिर पाठ धीर पूजा सब कुछ सिद्ध कर रही है ।

धर्म—ए पुकरवा ! मध्ये-बीड़े सार के बीचो-बीच किधी मून्यस्थान पर एकान्त में ऊँचा मस्तिष्क किए टापू ही-मेरा हृदय है । संसार के मन्दिरोँ में देवताओं की मूर्तियाँ केवल श्रान्ति है किन्तु बन्धुत धरिदर में मूर्ति के रूप में मैं ही बैठी हूँ । संसार मेरी ही मूर्ति को बर कर रूप दीप नैवेद्य बढ़ा रहे हैं । मेरे पूजा में मेरे ही मूपुर बज रहे हैं ।

मैं कसा 'जबरती हूँ' ।

धर्मार्थ—कसा-जतना = कसा में बोधन । मभूमय = मभुर । प्रच्छन्न = गुप्त । मंगिमा = मृष्टिमता । तरंगित बरुँ सता = धरिणमय गोसाई । प्रकाति = धामा ।

धर्म—मारीत्व का वर्णन करती हुई जबंभी कहती है कि मैं कसा का सजीव मभुर, अप्रकट सीता हूँ । जिस प्रकार से सोते में प्रकृत उठार-बढ़ाव यति में मृष्टिमता होती है धाकार में बोलाई होती है तरंगों धीर कहरोँ का प्राबल्य होता है जधी प्रकार सेच भी ब्रह्म-प्रार्यस उन्हीं गति-विधियों से प्रोत्प्रोत् है । मेरा यह बीकन-स्रोत मारी के रूप में श्रान्ति की प्रचुरता को लिए इस संसार में प्रवर्तित होता है ।

ध्यावार्थों के 'जबरती हूँ' ।

धर्मार्थ—निबिडसतना = सप्त पयोधरता । मुष्टिमध्यमा = सूक्ष्म मृष्टि ।

मखिर सोचना—मदमस्त नेत्र । कामसुनिता—कामनाओं से नसित ।  
प्रस्तदावरण—पत्थर का आवरण ।

प्रसंग—बहि गायी को ऊबड़-साबड़ पहाड़ी प्रदेशों में रहने वाली  
निर्मलरिणी का रूप बेते हुए अन्धकार से निकसी हुई प्रकाश की रेखा के रूप  
से प्रस्तुत कर रहे हैं ।

धर्म—उबड़ी कहती है कि मैं ही अन्धकार परबन्धी के पत्थरों को चीर फाड़  
कर निमित्त हुई सुन्दर नदी के समान मानव के जीवन में व्याप्त हुए एकाकीपन  
के गहन अन्धकार को चीर कर मदमस्त पति से संसार में अन्धकार प्रहण  
करती हूँ । जैसे कि पहाड़ों की चामल चोटियों से बल खाती हुई, मदमस्त  
पति से बहती हुई स्रिता किसानों के मन को धामन्धमय बना देती है । मुझे  
ही निर्विह्वल-जता मुष्टिमध्यमा और काम-सुनिता के नाम से सम्बोधित  
करते हैं ।

धूम का जीवन ।

धर्मार्थ—निस्सीय—सीमा-रहित । नसित—सुन्दर । रतोबधि—धामन्ध  
का समुद्र । उच्छस—उत्तम ।

धर्म—हे प्रिय ! आकाश से लेकर पृथ्वी तक जो संगीत की तरंगें  
उत्तम हो रही हैं वे सब मेरे धामन्ध प्रेम की अंकार हैं । विद्वित काव्य  
धात्म भी मेरी निस्सीय-विजय का एक गीत है । मैं उस जीवन को पसन्द करती  
हूँ जो सीधे कामनाओं से परिपूर्ण है । अन्धता अन्धता और संताप से व्याप्त  
है । मुझे वह जीवन धर्मिक रसीला प्रतीत होता है जो धामन्ध के सागर  
में डूबते-उठते और उत्तम होते हुए व्यतीत किया जाय ।

तारों की अगाती हूँ ।

धर्मार्थ—उत्तम है ।

धर्म—उबड़ी कहती है—मैं ही ताप-अन्धता की भित्तिल भित्तिल  
करती हुई धुम्र छाया में कुनों की नाव पर बँटकर मानव को विहार कराती  
हूँ । रात्रि की प्रकाशमय किरण मैं ही हूँ । और मैं ही प्राणिमात्र के मन में  
रात्रि के धामन्ध की प्रियता के भावों को जागृत करने वाली हूँ क्योंकि मैं  
गायी हूँ ।

मादन सुगन्ध मत्तबाली

प्रथमार्थ—पद्मान-दलित = हवा से हिमोरी हुई ।

अर्थ—मैं ही मन्वमादन पर्यंत की बहु मायक गन्ध हू जो सन्ध्या के समय पवन से झकझोर होकर प्रस्तुति होती है और मैं ही चांदनी रात की मरमस्त करने वाली बहु उदात्त कमुदों की गन्ध हू जो प्राकाश से लेकर पृथ्वी तक को प्रावेष्टित कर लेती है । अर्थात् नारीत्व को मरमस्त भावनाएँ मूतन के इस छोर से लेकर मन के उर छोर तक इस प्रकार व्याप्त हैं विष प्रकार पुष्पों की भाव पवन के रूप पर बढ़कर तीनों लोकों में निर्बाध भ्रमण करती हैं ।

द्विती में लय ।

प्रथमार्थ—द्विती = केस-नाथ । आकृषित = संकषित । संकषित = रोमांचित । संकषित = स्वर-सहृदय । गोपन = गुप्तता । अगुह = अन्धन बहुत ।

अर्थ—केस-नाथ में बसे हुए सुगन्धित फूलों की महक और संकषित धोठों का (रोमांच से) कांपना प्राणिज की पीड़ा त मस्त रोमांचित धरीर और मरमाटी भावों से प्राणियों के हृदय में गुप्त भावों की मधुर बीजा को गुप्त स्वर-सहृदय में झड़त कर देती हैं जो कि अन्धन की भ्रम सिखा की भांति ऊपर उठकर प्राकाश में एकाकार हो जाती हैं । इसी प्रकार ये दो प्राणियों से तर और नारी का भाव चरम कोटि पर पहुँचने के पश्चात् प्रेम की पुत्र से लिंग मर की भावना से परे हो जाता है ।

दो बीयों लगती हैं ।

प्रथमार्थ—सरल है ।

अर्थ—नर और नारी के दो जीवन-क्षीपकों की ज्योति जब सम्मिश्रित रूप से बसने लगती है तब उनकी द्विधा की सी एकरूपता में परिणत हो जाती है । साथ ही साथ धरीरों की मिलता का भाव भी मन के अगाध एलाकर में अर्थात् प्रेम के अगाध सागर में डुबकी लगाकर एकाकार हो जाता है ।

दो हृदयों 'सुख है ।

सम्बन्ध—धरत है ।

धर्म—गारी और तर के दो मूक हृदयों का प्रेम-मिलन धनस्त सुख का उच्चार करने वाला होता है और धारीरिक भिन्नता को छिपिस करने वाला होता है । जब दो हृदय प्रेम के बन्धन में बंधते हैं तो बिहारी को दमक प्रयोग की गुंजाइश नहीं किन्तु धसलाई धालें ही मनोमार्बों को व्यक्त कर देती हैं । धर्मात् दो प्राणियों की हार्थिक भावना को व्यक्त करने के लिए कोई ऐसी भाषा नहीं जो मुख स बोली जा सके ।

विधय—मेर्बों की मूक भाषा के सप्रतिम सौन्दर्य का बिहारी ने भी बड़ा हृदयघाही वर्णन किया है । यथा—

'कहत, गहत रीम्यत बिजत-हितत-मिसत लबियात  
मरे नीन में करतु है नगन ही लीं बात ।'

—बिहारी : सतलई

कितनी पावन 'बिघाती है ।

सम्बन्ध—रस-समाधि = ध्यान-मग्न । धरोहर = इन्द्रियातीत ।

धर्म—हम उस ध्यान-विमोह होने की पवित्रता का मूख्य धांकने के लिए कोई कसौटी नहीं पाते हैं बिचसे यह मृत्युमोक स्वर्ग से भी ऊंचा बन जाता है । हम इस स्बून धरीर में ध्यान-भोग की प्रचुरता के कारण इन्द्रियातीत ब्रह्मात्म्य का रसास्वादन कर लेते हैं जिसे प्राप्त करने के लिए धनस्त योग, समाधि और साधना का सम्बन्ध संकल्पित करना चाहिए ।

देवता एक 'बघाघी रे ।

सम्बन्ध—सधिर = मस्त । धारोहृत् = चढ़ना । परिरेम = धातिगत ।

धर्म—सूफी-सिद्धान्त के धाधार पर प्रेम से परमात्मा की प्राप्ति होती है । इसकी पुष्टि इस पद्य में की गई है ।

धर्म—इस संप्रति की मरमस्त धान्ति के धर्म में कोई एक धाराध्य देवता नहीं न कही धरस्य सोये हुए है । इस देवता तक पहुँचने के लिए हमारे धरीर के धर्म-धर्त्यन रस के कण-कण में धीर रबचा के स्तर प्रतिस्तर

कुछ सीढ़ियाँ सगी हैं। अतः ध्यासिगण के अङ्क-अङ्गन में बँबकर उन दिवों पर चढ़ते जाओ जिसमें आराध्यदेव विराजमान हैं। त्रिविष्ट स्थान पर पहुँचकर प्रसुप्त उस प्रेम के देवता को बुम्बन को मधुर मपकी से बगाने प्रयत्न करो।

बिम्ब—यहाँ नमि न विमूढ दाम्पत्य-जीवन को ईश्वर प्राप्ति का सहज मार्ग बताया है।

बिम्बन की जाती है।

अर्थार्थ—बिम्बन = भजन। स्वर्णाराम = सुनहरी वस्त्र।

अर्थ—सुन्दरता की सहृदे भजन-भाव की सहरो से भी इन्द्रदेव की प्राप्ति लिए बनवती होती है क्योंकि रूपवती गरी की विमूढ सुनहरी रजत काका सातमें घासमान तक सहृपती हुई दिखाई देती है। यही नहीं मनुष्य ने बसंत-सास्त्र का सहृद अर्घ्यदान और मनम विष मधुर पृष्ठभूमि पर उठितता से पहुँचा सकता है उस दिव्यलोक में हम प्रेम की भाव पर बैठकर ही सरसता से पहुँच सकते हैं।

धो धूम्य पवन में विचरिप्रिया।

अर्थार्थ—धूम्य = धाकास। उन्निद्र = सुषम। विरम्बन = सनातन। पवम्याग = रुकावट। इन्निम = जनावटी।

प्रसंग—कामुकता के प्रतिनिधि पुरुषों को सम्बोधित करते हुए पावन गरी की मूर्ति बनकर उर्बसी निम्न प्रकार से उपदेश दे रही है।

अर्थ—उर्बसी जन मनुष्यों को सम्बोधित करते हुए कह रही है कि ए अक्षय्य बाहुबलस में अमण करने वाली गरी क प्रति बिलसिता की वाचनाओं से परिपूरित मनुष्यों। (ईश्वर के ध्यान से विमुक्त होकर) रात उस भर मेरी काम साससापूरक छवि का एकटक ध्यान करने वाले में देव भाव की सीमा से पर विचरण करने वाली सनातन गरी हू। मैं स्वाधीन लयोजन की छटा से विमुक्ति ग्याति हूँ। मैं सौम्य की अमर निधि सदा सदा लयोजन-ध्यासिनी और कोनभात्री हू। तुम (नरबेहृषारियों) को हृदय में धारण करना चाहिये। मैं विमुक्त और विद्यास में भी अक्षय्य बाधाओं

को चीरती हुई मर की सहयोगिनी धवस्म बनूमी । मेरे मार्ग में घनस्त  
सरितामें गम्भीर सागर अगम पर्वत और बीहड़ जंगम कोई रकाबट नहीं  
बाल सकते । क्योंकि मेरी यति को रोकने के लिए भूत मदिप्यत् और बर्त-  
मान काम की कोई भी बाधा सफल नहीं हो सकती । विद्यमप्रिया होने क  
कारण मुझे विश्व-कल्याण क लिए तारी के रूप में निर्बाध उपस्थित होना  
आवश्यक है ।

तुम पण्ड मित्राङ्गो ।

सम्बार्ध—सरल है ।

अर्थ—तुम मेरी प्रतीक्षा करो । किसी रात्रि को ध्यानक में धवस्म  
आळंभी और तुम्हारे अक्षरों में अपने अक्षरों की मधिरा को उडेल कर और  
तुम्हें अपने कल से समाकर मुन-मुर्षों से संचित तुम्हारी कामाग्नि को  
तृप्त करूगी ।

पुकरवा

आवेष्टित माया हो ।

अर्थ—आवेष्टित—आवेष्ट-युक्त जोश में कहे गये । उद्धार—हृदय  
के सहज भाव । मर्म—दृष्य । उद्धारण—खोजना प्रकटीकरण । अस्त—  
सिद्धि कीसा । अलगुल्ल—पर्दा बू बट । मायाकरण—माया का परदा ।

प्रसंग—उक्तो क आवेष्ट म स्वय सौन्दर्य-वर्णन के द्वारा भी उर्बन्धी की  
माया का रहस्य पुकरवा क मस्तिष्क में अस्पष्ट ही रहता है ।

अर्थ—तुम्हारे ये आवेष्ट में कहे कये तीव्र भाव रहस्य के प्रकट करने में  
समर्थ नहीं हैं । माया के रहस्य का पदा इन उर्त्वारों से बहुत अधिक नहीं  
हूट सता है और यदि वह कुछ स्पष्ट हुआ भी हो तब भी तुम मेरे लिये  
रहस्यमयी हो । माया का आवरण हटा देने पर भी तुम मेरे लिये माया हो ।

विशय—उपयुक्त प्रथम दो पंक्तियों में प्रस्ताविक चिन्ह किचित  
संक्षिप्त है । उनके न होने पर यह कुछ अधिक स्पष्ट होता है । तीसरी पंक्ति  
में आवेष्टित उद्धार के द्वारा रहस्योद्घाटन का स्वीकारात्मक शब्द प्रयुक्त न  
होने से 'पर' अर्थात्तयति में संभवा बाधक सिद्ध होता है । पुनश्च मर्मस्वप्न से

उद्घाटित उद्गार सर्वथा धारणित होते हैं। 'धारणित' उद्गार का विक्षयण नहीं अपितु उसका सञ्चर्म है जो उद्गार में स्वयं भी प्रत्यक्षित है। जो फिर सहज उद्गार मर्मों का सही उद्घाटक हुआ और (?) प्रत्यक्षक बिन्दु का प्रयोग करने से इसका मर्म विपरीत होता है जो धारणित उद्गार नहीं है।

गारी मूलतः माया है रहस्य है सोप्य है। जो स्वयं माया है उसके रहस्योद्घाटन से उत्तरोत्तर माया का ही रूप धारणित भवत होता आया। प्रसाद में भी लज्जा के धारणीय धारण को माया में विपरीत हुआ कहा है—

‘बैली ही माया में विपरीत

धारणों पर उतनी बरे हुए।’

— प्रसाद कामायनी

इसी प्रकार धडा को प्रसाद भी ने माया तथा रहस्य की धडा ही है—

‘कौन हो तुम बिन्दु माया कुहक सी साकार।

प्रथम सत्ता के मनोहर धर-सी धुकुमार।’

— प्रसाद कामायनी

धडा भी ‘नहीं है।

धारणार्थ— निष्कमुप = पाप रहित । धुम = रमेत । बिन्दु = भाग । धरणी = यज्ञ में अर्घ्य नामे धारी सङ्गी । हेम = धोना ।

प्रसंग— धुकुमार को उर्वरी के सौन्दर्य में किसी धर्मयुक्त धर्मिणी सत्ता की धामा का धारण होता है। उस समता है जैसे उर्वरी धृष्टि की सौन्दर्य-धूमिणी का एक ही धामा है।

धर्म— धडा भी तुम धर्म धारि तथा की तरह धर्म रहीं हो। धरणी से धमी-धमी प्रस्फुटित रमेत धाम जैसी तुम प्रकाशित हो रही हो। तुम मेरी धुम-धुमों की स्वर्णवर्णा धर्मिका हो धरणी स्वर्ण रमेत पर नहीं भी धर्म की धर्मिणी के धाम तथा धर्म नहीं हैं।

विषय— धडा का रूप-धर्म भी कुछ इसी प्रकार का है—

‘धवा की धरणी सदा धाम’

× × ×



‘एक मनु ज्वालाकुली धरैत’

—प्रसाद कामायनी : बड़ा

एक स्पष्ट ईहाओं से ।

अर्थार्थ—सूत्री—बीणा । निगद—निगद अंकार । अदणु—नाग ।  
पुस—पुष्प । ईहाओं—इच्छाओं ।

अर्थ—तुम कामस गीतों के स्वरो पर उपासित धनुषी का वह स्पर्श हो  
जिसके द्वारा बीणा से गभीर संवीर के स्वर तथा मधुर अंकार समझ पड़ती  
है । तुम जिस दिशा में भी अपने रचित कवनों जैसे चरणों को रखती हो वही  
दिशा में गभीर धारणा से कल्पित नव पौष्प से युक्त पुष्प जाय उठते हैं ।

तुम विकसल सुन्दरी सीट कामोनी ।

अर्थार्थ—विकसल सुन्दरी—व्यस्त सुन्दर रहने वाली । धारा—ज्योति ।  
पुनक—रोमांच ।

अर्थ—तुम व्यस्त सुन्दरी हो । तीनों लोकों की धरत-व्यस्त ज्योति हो ।  
तथा सभी सुगों से और सभी दिशाओं से बसकर धाई हो । इसीलिए तुम  
अनेक जन्म-जमान्तों के कर्मों में रोमांच बनाकर तुम सभी दिशाओं तथा  
सभी सुगों की सीट कर बनी कामोनी ।

एक पुष्प धरणों की ।

अर्थार्थ—संज्ञित—संज्ञित उदित । रसाकर्षण—रसमय आकर्षण ।  
मन्तर—एक मनु का आसन नाम एक मनु ।

अर्थ—तुम एक पुष्प में सभी पुष्पों का एक किरण में सभी किरणों का  
और एक स्त्री में सभी स्त्रियों का एक संघ हो । तुम प्रत्येक युव की  
वर्धिता प्रत्येक युव का स्नेहमय आकर्षण अतिविक्रम की प्रिया तथा सब  
के स्वर्णों की महारानी हो ।

पर विमलव्यापिनी हुई है ?

अर्थार्थ—विमलव्यापिनी—दिशाओं में व्याप्त । चन्द्रिका—चन्द्रमा की  
किरण । ज्वाला—धारा । काश्मिरी—मेघमाता ।

अर्थ—किन्तु दिशाओं के ओर तक फैली हुई चन्द्रिका के समान धनुष

विचरण करने वाली तुम आकाश को छोड़ कर मेरी मुखाधों के जाल में ली जाकर सिमट गई हो, अस्थहीन आकाश में विचरण करती हुई रसमयी मेघ मासा सी प्रसन्न होकर सहासा जो आकर मुझ पर बरस गई हो वह कैबलमात्र संयोग है अथवा इस गम्भीर महामिलन के पीछे बन्ध-जन्म का कोई रहस्य छिपा हुआ है ।

जहाँ-जहाँ पुण्य था ।

शब्दार्थ—मसयानित्त = मसय-यवन । कश्चित् = संकृषित । बुम्बन उचित = बुम्बन का रस लेने वाला ।

अर्थ—तुम जिस स्थान पर मैं जब कभी पुण्य बन कर विकसित हुईं तब तब उस स्थान पर मैं ही शायद मसय-यवन बनकर तुम्हें अपनी उद्विग्न बाहों में भरवा रहा हूँ । जिसके सामने तुमने अपने संकृषित होठों को क्षिप्त किया, ऐसा संयोग है मैं ही सदा वह बुम्बन का रस लेने वाला पुण्य था ।

मेरी ही 'बुझों' के ।

शब्दार्थ—कल्प = मुग्ध । प्रणय उद्वेसित = कामोत्तेजित । बहोज = उद्वेग । घात = पीड़ित ।

अर्थ—वह मेरी ही जलन थी जिसे बन्ध-जन्म से तुम फूलों के कृष्ण भवनों में अपने प्राप्तिपथ से घात करती रही हो । मुग्ध-मुग्धि तुम कामोत्तेजित प्रणय पीड़ित अपने बलत्कस पर मुझे मुलाकर मेरे बुझी नयनों के भाँसू पोंछती आई हो ।

जहाँ-जहाँ बसता है ।

शब्दार्थ—निजसक = एकटक । मभूकर = मोटा ।

अर्थ—जहाँ-जहाँ तुम रही मैं एकटक अपनी घातों की ग्योति से वहीं तुम्हें छींचता रहा हूँ । भविष्य में भी तुम जहाँ-कहीं जाओगी मैं गर्भ से धाकपित हुए भ्रमर को तरह तुम्हारे साथ चरूंगा अथवा जिस प्रकार राहु चन्द्रमा को अनुगमन करता है उसी प्रकार मैं भी तुम्हारा अनुसरण करूँगा ।

विशेष—प्रेम के मधुर प्रसंग में राहु की कल्पना संभव प्रतीत नहीं होती । राहु सर्वथा मधुम तथा प्रभावहीन है जो जन्ममा के क्षीणत्व का दर्शन न कर के इसे घातकित करता है । प्रेमी तथा प्रमिता में किसी घोर व भी घातकित होने कायका किए जाने से साधारणीकरण की प्रवेसा रस में शेष उपस्थित होता है ।

### उप ही

जन्ममा जगदी मरुधाम मिहकर ।

शब्दार्थ—सोहित=रहित शब्द । रवनी=राज । मरुधाम=मरुध  
धामा नामा ।

प्रसंग—उप ही का प्रस्तुत धारणा तृतीय शंका का उपसहार है । इसमें एक घोर रात व्यतीत होने तथा प्रभाव माने का वर्णन किया गया तथा दूसरी घोर अतृप्त शंका की वृत्तवृत्ति को प्रस्तुत किया गया है ।

शब्द—जन्ममा मरुधाम की शंका का रहा है । रात व्यतीत हो रही है । प्रभाव के साक्ष्य पर प्रभाव के लोभ से प्रभाव कट रहा है । शून्य अपने रस-रहित रसित किरणों के बाण शंका हुआ अहित हो रहा है और वह शंका पूर्व की मरुधामा से अहित पूर्ववत्त का उन्मादित शक्ति से दिव्य रहा है ।

विशेष—इस पर में रात्रि के बीतने तथा प्रभाव के माने के द्वारा मित्तन के अन्त तथा विमोघ के मारुध का घोर सोहित शक्तों के द्वारा धारणा की शंका के संघर्षन होने का अहित दिवा गया है ।

हिमलाश चाली है ।

शब्दार्थ—हिमलाश=शब्दों में नहाई हुई । शिखर=शीघ्री शीघ्री  
मस्तपी=मस्त । शिखरवति=शक्ति की शक्ति । शीघर=शब्द के समान  
याए जाने वाला मंगलपीठ ।

शब्द—उस शिखरवति रसवित्त पुनारित शक्ति को देखो । वह अपने पति शक्ति की शक्तों का तथा हार पड़ना रही है । शिखर शक्ति में कल किली नए शक्त का शक्त हुआ है । इधीलिए तो वह शक्त के शक्त-शक्त शक्ति हो मंगल शक्ति का रहे हैं ।

बिद्योप—उत्सुकता पर मैं प्राणामी धक में होने का नाम उबगी के गजवाठ  
मुन का संकेत है ।

कठ पया' धाना होगा ।

राधार्थ—निमित्तपस काल ।

अर्थ—इसका एक कथ इत गन्धमादन पर्वत पर ऐसे व्यतीत हो गया जैसे  
यो ही क्षण बीते हों । अब हमें यह स्थान छोड़ कर अग्यत्र जाना होगा और  
फिर पता नहीं इस हरे नरे भरती क स्वय-स्वरूप पीठम बन में राजपुत्री से  
औट कर फिर कब धाना हो सकेगा ।

किठना धपार' सोते से ।

राधार्थ—उपमान = तक्षिया ।

अर्थ—यहाँ रहते हुए हमें किठना धपारीय मुक्त मिलता था जब इस पर्वत  
की चट्टानों पर बैठे-बैठे हम दोनों भरती के निर्मल जल में प्रीति करके पांश  
मिथोते थे । पड़ों के नीचे धपारी बाहों को धापस में एक दूसरे का तक्षिया बना  
कर हम किस प्रकार निर्मित होकर छाया में सो जाया करते थे ।

जाने से ————— हरियासी से ।

राधार्थ—निर्मली = छोटा नरमा । नीरब = धाम् ।

अर्थ—यहाँ से जान से पहले पामा धाम इस की शीत कर भरती से  
सतिकाओं से तथा फूलों की एक-एक शाखी से निभ लें । धामो प्रियतम ।  
धाम हम पर्वत पर रहने वाले मोम प्रकाश का भी भर कर पान करें और  
धपन हृदय को मस्ती से भूमणी हुई हरियासी में अभिसिक्त कर लें ।

## चतुर्थ अंक

स्नान—अहुयि अयन का आशय (महर्षि की पत्नी सुकन्या उर्वशी के गवजात पुत्र को पीर में लिये खड़ी है। चित्रलेखा का प्रवेश)

सुकन्या

अच्छा तू मू पर।

शम्भार्थ—उचट गई—कुल गई हट गई। पद-बाप—दीरों की आवाज।

प्रसंग—उर्वशी पुत्र-अनन के पश्चात् पुकरवा के यज्ञ-कार्य में व्यस्त होने पर अयन के आशय में समय बिताती है। सुकन्या उर्वशी के गवजात शिशु को गोद में लिए खड़ी है। इसी बीच चित्रलेखा का प्रवेश होता है तथा शिशु की नींद उचट जाती है।

अर्थ—अरी चित्रलेखा! तू आ गई। तेरी आवाज पाकर मुझे की नींद उचट गई है अर्थात् छहसा लुल गई है। मागो इसके मन में भी स्वर्गलोक का संघ निहित है वह पृथ्वी पर स्वर्ग की चरण-बाप सुनकर बाप पड़ा हो।

विशेष—चित्रलेखा—अपतरा राजा पुकरवा ने केशी नामक वीर्य को चारकर इससे सम्बन्ध किया। —हिन्दी कथा कोष चित्रलेखा १९

परन्तु यहाँ कवि ने इस ऐतिहासिक तथ्यको न देकर चित्रलेखा को उर्वशी की सखी माना है।

यह प्रसून प्र भी होगा।

शम्भार्थ—प्रसून—पूजा मती-नम—बरती-आकाश। परिणाम—प्रेम। शार—मिट्टी।

अर्थ—बरती धीर आकाश के अद्भुत प्रेम से उत्पन्न हुआ यह सुम्बर फून (शिशु) पता नहीं अपने पिता की तरह बरती की मिट्टी के रस का लोभी होना अथवा देवताओं के समान केवल लुल्ल से प्यार करनेवा।

चित्रलेखा

मैंने और नम—आती है ।

शब्दार्थ—ध्यास्य=आकाश जलवलय=बादलों के टुकड़ ।

प्रसंग—प्रस्तुत पद में चित्रलेखा भरती और आकाश के अंतर में समाहित समान सुगंधों का वर्णन करती हुई दोनों को एक ही सत्ता व दो समान स्वल्प छिड़ करती है ।

अर्थ—भरती और आकाश वो हैं व सब कहन को बाधे हैं । भरती को चित्रना कोशिय उतना ही नीचे मृग्य मिलता जाएगा और आकाश जो सर्वथा मृग्य तथा रिक्त बुज्जिगत होता है उसके भीतर भी नागा-कार के मेघ-कण्ट बूझा करत हैं । और, वपा-श्रुतु में कभी-कभी उसने हृदय में रंपीन इन्द्र-वनुप भी निकल आता है ।

सुकन्या

और बघा ।

शब्दार्थ—विरक्तु=उवासीन ।

अर्थ—सुकन्या चित्रलेखा से प्रसन्न करती है कि उवासीन धम्मर में रंपीन इन्द्र-वनुप के निकल आने पर उसकी क्या मनाबघा होती है ?

चित्रलेखा

तुम्हें ही बागे मे ?

शब्दार्थ—विश्रवमय=कष्टपूरु बठोर । मधुमिखा=नीन्दय-शाला ।  
मुवा=जवान लक्ष्मवती । ध्यान में अर्धमिख ध्यानस्प=ध्यान-सीन ।  
विलोम=वचन ।

प्रसंग—चित्रलेखा सुकन्या क प्रति अर्पण भाव प्रकट करती है—आकाश में इन्द्र-वनुप ध्यान पर बहु योगी अन्तरिक्ष उसी प्रकार विकसत हो उठता है जैसे सुन्दर कामिनी को देखकर मुनि तपस्वी विकसत हो उठन हैं ।

अर्थ—सुकन्ये ! क्या तुम नहीं जानतीं कि किसी सुन्दरी को देख उस पर माहित होकर योगी वर अर्पण कष्टोर पोष और तपस्वी अर्पण कष्ट छाध्य तप को छोड़ इस तरह विकसत हा छोड़ पड़त हैं माना सौन्दर्य को बहु छिड़ा

जो उनके ध्यान में स्थिर नहीं होती थी वह तबप्रीवना कामिनी बनकर उनके सामने आ उड़ी हो। क्या तुम्हें याद नहीं है कि जब तुमने ध्यानमग्न अथवा अज्ञान का स्पर्श किया था तब वे किस प्रकार ध्याकृत तथा संभल होकर अपनी समाधि से जाग पड़े थे।

सुकन्या

किन्तु गर्भ है।

अध्याय—उत्तर है।

अर्थ—विजनेका के प्रति सुकन्या अपने विचारों को स्पष्ट करती हुई कहती है कि उसे अथवा अज्ञान से इस कारण कि उन्होंने उसका (सुकन्या का) स्पर्श पाकर समाधि छोड़ित की चला नहीं है अतः गर्भ है।

विजनेका

यही गर्भ धाँसों को।

अध्याय—प्रनायास=सहसा। तेजसंठ=तेजस्वी। अथ-उदय=विकस-सत्तेजित। तपस्वरण=तपस्वर्या तपस्या। निरजग=परब्रह्म। उन्मीलित=पुलता। वृपठे=बोप देने।

अर्थ—इन पंक्तियों में विजनेका योग तथा योग तप एवं प्रणय के समन्वय की महत्ता स्थापित करती है।

अर्थ—मुझे भी सहसा उत तेजस्वी पुरुषों पर गर्भ होने मयदा है जिनकी तपस्या, विरम उदीप्त प्रेम में आता नहीं बनती। और न ही जिनका प्रेम उनकी तपस्या में विघ्न डालता है। प्रेम के अन्तर्गत में बंधे हुए भी जो रस में डूबे हुए हैं उसी परम मुक्त की चोटी पर चढ़े हुए रहते हैं। वही योग योगी को और कविता कवि को ब्रह्म कर से जाती है। तथा परब्रह्म की समाधि से पुनः जाने पर विजनेकी धाँसों धाँसों प्रणय में फँसी धाँसों में बोप नहीं देखती।

तप का नहीं है।

अध्याय—उत्सर्ग=बलिदान। लोभितान=महान तपस्वी। सीमास्तनी=स्त्री। समीप=अपार। इष्टा=मानी। इन्द्रिय-संरंभ=इन्द्रियसुख।

प्रथम—तपस्वीराज अश्विन ने तप को प्रेम पर बलिदान कर केवल तुम्हें ही नहीं अपितु जगत भर की स्त्रियों को अपार अमर तथा तीनों लोकों को भीतने शक्ति गौरव प्रदान किया है । और उन परम ज्ञानी ऋषि ने पुनः यौवन धारण कर यह सिद्ध कर दिया है कि इन्द्रियों का सुख भोगने में कोई दोष नहीं है ।

विशेष—“ऋग्वेद में अश्विन और अश्विनी कुमारों का आख्यायिका है । महाभारत के अनुसार इनकी माता पद्मिनी और पिता भृगु थे । ‘अश्विन’ का अर्थ है—जिप हुआ । कहा जाता है, जब इनकी माँ गर्भवती थी तभी एक राक्षस उन्हें ले भागा । मार्ग म भय से इनका गर्भपात हो गया । ब्रह्मिन्नुत हो राक्षस ने उनको सद्यः-जात पुत्र के साथ चले जाने की आज्ञा दे दी । उसी पुत्र का नाम अश्विन हुआ । अश्विन बहुत बड़े ऋषि हो गए हैं । एक बार नर्मदा-तट पर चोर तप करते हुए ये वृत्त बितों तक समाहित रहें । इनके सारे शरीर को बीमज ने डक लिया । केवल धाँस ही बचती रहीं । उनके इस आश्रम में एक बार राजा अश्विनी की कन्या सुकन्या पहुंची और उनकी धाँसों को पुगुनु समझ कर खोद दिया जिससे धाँसों से रक्त बहने लगा । राजा अश्विनी क्षमा माँगने आए, पर स्त्री रूप में सुकन्या को देने पर ही अश्विन क्षमा करने को प्रस्तुत हुए । अश्विन अति बूढ़ और जीणकाय थे । सब जाग सुकन्या पर हसते थे । एक बार अश्विन के मुँहासे की हठी उड़ा कर अश्विनी कुमारों ने सुकन्या को विचलित करना चाहा । कुमारों ने उनके सतीत्व की परीक्षा ली । एक बार एक सरोवर में कुमारों के साथ अश्विन को स्नान कराया गया । दिव्य देह धारण किए वे सभी एकही रूप धारण किए हुए निकसे सुकन्या को उसमें से एक को जूतने को कहा गया । उसमें उन्हीं को चुना । इससे कुमार सुकन्या से अत्यन्त प्रसन्न हुए और दिव्य धौपधि से अश्विन का स्थायी यौवन प्रदान किया । यह धौपधि अब भी ‘अश्विनप्रास’ के नाम से प्रसिद्ध है ।



एक प्रेम 'हो जाते हैं ।

शब्दार्थ—विशु=बग़रमा । ठाम-बुम=ठाड़ के पेड़ । रस-माजोइन=प्रेम रस का उमड़ना ।

धर्म—एक तो वह प्रेम होना है जो बग़रमा के समान ऐसे जो ठाम-बुमों के बीच से होकर ऊपर उठता जाता है जिन बच्चों ने कभी प्रेम का प्राप्तिपत्र ही नहीं किया और दूसरा वह प्रेम है जिसके रसावैद्य में पककर दो हृदय ही नहीं जो छरीर भी एक हो जाते हैं ।

प्रथम प्रेम- बाग नहीं है ।

शब्दार्थ—धर्मरहित=हृदय की असत । प्रवृत्ति=प्रचुरी व्याप्त । ललक=लालसा । इच्छा-धर्म-सुख=नीतर से बुद्धित पीड़ित । संवस्त=भारत कित । विभा=प्रकाश विरणु ।

धर्म—पहला धर्म चाहे जितना भी पवित्र क्यों न हो पर प्रचुर है । मन मते ही एक ही लेकिन मन की इस एकाग्रता से शरीर को कुछ नहीं मिस सकता । कैवल्यमान हृदय की असत प्रकृताप की कैला अभिसाधारों की म्यपा ही तो मिस जाती है । जो हृदय सतय ओम सं पीड़ित रहते हैं लेकिन इस मन से सदा धारुकिष्ठ रहते हैं कि हृदय का बांध डूटते ही तपोवत मयबा संयम की ज्योति मय हो जाएगी । धरा प्रच्छा है, मन पतता रहे किन्तु शरीर तो बैबाय है ।

विशेष—विनकर ने पापिक प्रेम की प्रकृता यों कहिए कि जो शरीरों और हृदयों के एकत्र सम्मिलन की प्रविशार्यता प्रतिष्ठित करते हुए मान योग को प्रकृता प्रेम के उच्च स्वयं को जो दो शरीरों के प्राप्तिपत्र के रस को नहीं जानता मंतजनन तथा मन-प्रकाश का कारण कहा है । मन के मानम्बन (एकाग्र) होने पर शरीर भी प्रकृता का अनुभवन करता है । इसे विनकर हकीकार नहीं करते । प्रथम शीतिलों की परम स्थिति से मन के साथ साथ देह को भी परम मानम्बन की उपलब्धि होती है । किन्तु विनकर की मानना पर वैज्ञानिक बुन का बीडिक प्रकृताप बढ़ा होने के कारण शीतिल बुन की मूल प्रवृत्ति की अपेक्षित नहीं किया जा सकता है ।

मुपा तर्कं वाती है ।

उपशर्ण—मुपा=मूठा व्यर्थ । प्रमा=प्रकाश । सिप्र=तेज । प्रंग संज्ञा=घरीर की चेतना ।

धर्म—हे सुकन्ये । यह विचार व्यर्थ है । तन मन का यह पारस्परिक भेद मुझ धर्मीकार्य है । तुम्हीं बताओ ! जब मन मग्न होगा तो घरीर के दिव्य होने की सम्भावना किस प्रकार की जा सकती है । तन-मन से समन्वित उस पूर्ण प्रेम की मैं बसिहायी जाती हूँ जिसकी तब बहुर में केवल मन ही नहीं अपितु घरीर भी सत्ताएं भी बसुन हो जाती हैं ।

अथ चिया सहरों पर ।

उपशर्ण—चिया=नारी । दक्षिष्ठ=उर्जस्वित । प्रणय-पीडन=प्रेम की कसक ।

धर्म—यह नारी अथ्य है जो उर्जस्वित पुरुष की बेकस मुबारों में झाल भूँवकर अपना समर्पण कर बेती है और रस-मग्न होकर उस असाह्य प्रेम के पीडन को उसी प्रकार सहती है जैसे उर्जित सागर की लहरों में पड़ा हुआ एक पुरुष उसके मत्त ऊँसों में भी आगन्धित होकर मूमता है ।

विशेष—उबाहरन धर्मकार ।

अथ पुरुष धर्माना है ।

शङ्कर्य—निष्काम=नामसा-हित । उपोषित=उपवास इत । जठर मत=पेट की घाग । सूबा=सूख । बीपित=ज्योतिमान । सतत=निरतर । भोगरत=भोग में निमग्न । तीक्ष्ण=कपाय देना । मोय-निरत=भोग में लगे हुए ।

प्रसंग—उपरोक्त पंक्तियों में कवि न चित्रलेखा के मुख से घरीर में निहित प्रेम की दो स्थितियों—(1) भोग-निरत प्रेम (11) भोगी का प्रेम—का अन्तर स्पष्ट किया है ।

धर्म—हे पुरुष अथ्य है जो कहीं तक निष्काम उपवास धारण करके अपनी पेट की घाग को तीव्र तथा सूख को अधिक प्रज्वलित कर लेते हैं । अन्त निरन्तर मोय-निष्ठा में सिप्त अशक्त जीवन के तीक्ष्ण स्वाद को क्या

जानेवा ? उसे तो केवल वही व्यक्ति जान सकता है जिसने कुछ दिन एक उपवास करके देखा हो। उद्यत भोग में निरत प्रेमी सर्वथा सामा में निवास करने का आकांक्षी रहता है अर्थात् वासना-निष्ठ व्यक्ति कभी भी वियोगाग्नि को सहने में समर्थ नहीं होते जबकि प्रम योगी का स्वभाव सदा रूप से ज्ञान की ओर घटना है। अर्थात् वह जब तक प्रेम की छीतल बजार में घटना सर्वस्व समर्पण नहीं करता जब तक वह प्रेम की साधना में तप कर सोमा न हो जाय।

बिद्येय—इस प्रकार भोग रत प्रेमी प्रम की सिद्धाबस्था तथा वासी प्रेमी साधनाबस्था से सिद्धाबस्था की साधना को अधिक श्रेयस्कर समझता है।

मुक्त्या

एकचारिणो हो कर ?

सम्बन्ध—एकचारिणी = पतिव्रता। अक्षय = मुक्त स्वच्छन्द भावात्। श्रीज्ञा = ज्ञान। दयिता = पत्नी प्रेयसी।

अर्थ—मैं पतिव्रता स्त्री बला विविध योगों के स्वानु को क्या जानू ? मेरे ध्यान-भाव पतिव्रत तो केवल मेरे महर्षि ही हैं। योग भोग के इन विभिन्न धानर्षा को तो स्वच्छन्द विचार करके वासी अक्षय ही जान सकती है। गृहिणी का तो धनना एक ही परम धारणात्मक होता है जिससे उसे भोग तथा भोग दोनों ही प्राप्त हो जाते हैं। (यद्यपि तुम्हीं बताओ मता) महर्षि की पत्नी तथा प्रयसी बनकर (योग और भोग में से) मुक्त क्या नहीं विला अर्थात् प्रम की समर्थन वीर्य-बारा का मैं धानर्ष-बनकर हाकर प्राप्त कर रही हूँ।

बिद्येय—(1) मुक्त्या के रूप में गृहिणी के परम अक्षय की स्थापना की गई है ?

(11) अक्षय के मुक्त विचारण के माध्यम में धान की परिचय के रूप में रंगी हुई मुक्तियों के प्रति एक गहरा व्यस्य है जिसकी वजह से धान की पक्षियों में और अधिक स्पष्ट किया है।

छिन्नर छिन्नर      छिन्ने वाली को ?

शब्दार्थ—प्रपुस्त = प्रसन्न ।

अर्थ—(नारी को अपनी कल्पना के पंख फँलाकर) छिन्नर-छिन्नर उड़ने में न जाने कौनसा धानन्द प्राप्त होता है ? (मेरी मति में तो) एक वृक्ष (पति) का आश्रय लेकर अपना सम्पूर्ण जीवन बिताने में जो मन प्रसन्न होता है वित्त धीतरल होता है और महन शान्ति मिलती है वह क्या मित्य प्रति नए-नए फूसों (पुरुषों) पर उड़ने वाली रमणी को कहाँ प्राप्त हो सकती है ?

बिसेष—कवि अपनी साहित्यकार धनि-ग्राहक यत्र के समान अपने मुण की सभी मूल समस्याओं को पकड़कर अपनी रचि के अनुसार अपने काव्य में अभिव्यक्त करता है । पश्चिमी प्रभाव के कारण आज भारतीय नारी अपने देश की संस्कृति एवं मर्यादा को भूलकर 'वितरली का रूप धारण कर बैठी है । पातिव्रत्य बम उसमें से लुप्त होता जा रहा है । पश्चिमी री में बहने वाली एही ही रमणियों के प्रति कवि ने इन पक्षियों में व्यग्न किया है ।

'अप्रस्तुत प्रसंसा' अर्थकार ।

नहीं एक      हृदय को ।

शब्दार्थ—सरल हैं ।

अर्थ—नारी के भी एक से अधिक प्राण नहीं होत फिर भसा वह गया सिताकर अलग-अलग पुरुषों को सिताती है और पुरुष भी नारी के हृदय को पाए बिना किस प्रकार जीता है ?

बिसेष—धाम का युवक तथा युवती-समूह पन्तवशाही प्रेम के मार्ग पर चल रहा है । हृदय का तो वे कुछ मूस्य ही नहीं समझते । यही कारण है कि धाम प्रेम का नाम बदलनाम हो गया है । प्रेम हृदय की निधि है । हृदय एक ही होता है । धत युवक हो अथवा युवती—दोनों को एक से ही प्रेम करना चाहिए; उसे ही अपना हृदय समर्पित करना चाहिए तथा प्रेम पावनता का रूप धारण कर सकता है ।

स्यात् मात्र 'ओ' आएगी।

सम्बन्ध—स्यात्=सामय सम्भवतः । शक्ति=बीमार (खटीर) ।  
योपिवा=नारी, स्त्री । शरीर-मन्दिर=शरीर रूपी मन्दिर । धनु=बभ्रुव  
(कटाक्ष) । प्रसून=फूल (कपोलों की घड़णियाँ) । उन्नत-तरंग=ऊँची  
सहरे (उन्नत उदोम) । शक्तिर=प्रस्थायी । बरा=बुझाया ।

धर्म—सम्भवतः मनुष्य नारी के शरीर रूपी मन्दिर में चित्रित धनुष  
(भीड़) प्रसून (कपोलों की घड़णियाँ) तथा उन्नत तरंग (उर्जितित बल)  
से धार्कषित होकर ही हृदय की शक्ति मङ्गला को भूल जाता है लेकिन ये सारे  
चित्र नाशवान हैं । एक दिन जब इस जवानों से बरा प्राये बलकर बुझाया  
कदम रहेगा तो ये भीड़ों के धनुष सिद्धुङ्ग पार्ये विकसित प्रस्थिम पुष्पों के  
समान कपोलों की लाली छूट जाएगी और बल पर उदोमों के कारण जो  
धार्कषित करने वाली उन्नत तरंग दिखाई दे रही है वह समतल हो जाएगी ।

तब फिर मरण है ।

सम्बन्ध—हृत्प्रस्थायी=भाव की मारी हुई । मन्त्रावधेय=संभार ।  
हृत्प्रस्थ=मन्दिर प्रस्थपुर । धामु=सद्यः तुरन्त ।

धर्म—फिर उस मन्दिर-जीवना साम्यहीना नारी की धर्मिक शक्ति कहाँ  
है ? उसके जीवन के लम्बेतरण के घाने पर फिर किसको शक्तिर लगे ?  
देव-मन्दिर में भी जीवन तभी तक आते हैं जब तक उसका तोरण-झार हर मरे  
कोमल फूल-पत्तों से सजा होता है और उसकी बीमारों पर सुन्दर चित्रकारी  
की लक्ष्मी बड़ी रहती है । यदि देव-मन्दिर क्षयित होया तो उसके भीतर के  
देवता का भी मरण शीघ्र ही हो जाएगा ।

सम्बन्ध—नारी तभी तक धार्कषित क. केन्द्र है जब तक उसके बाह्य धर्म  
परिपुष्ट एवं सुन्दर होते हैं । बाह्य वैदिक सुन्दरता को छोड़ मन के धार्कषिक  
बीज पर शीघ्रता विरह का नियम नहीं है ।

इसीलिए 'हृत्प्रस्थायी' में ।

सम्बन्ध—उपवन=वन । गतिर=गते हुए, गट्ट शीघ्र । स्थान=  
मैले । किरमेकी=रमेनी, घटकेगी । विजन=सूय्य बुना । निकेतन=घट,  
मन्दिर, शरीर ।

धरम — इसीलिये में कहती हू कि जब तक तुम्हारे यौवन का काम हरा मरा है अपन सम्पूर्ण जीवन का तार किसी एक (पुरुष प्रेमी) के साथ बाँध लो। नहीं तो एक दिन ऐसा घायेगा जब कान्तिहीन मसीन धरनों पर लण मर के लिय भी किसी पुरुष की दृष्टि नहीं धाकर लमेयी। बाहर धरीर का धूम्य लयल होगा धीर हृदय में धरगर के देलता (धान्तरिक धनुमधन) लयकर कलण हाहाकार कर प्राणों को छोड लमे—छटपटायेये।

बिधाय—बुडाबलुषा धाम पर यौवन का मूस्य ललकूम होला लल प्राण यौवन के धललध में कलण लुमूठि में ललुपेगे। धरीर का धमलुध धाकुर्यण लमलुध हो लयेगा।

बिभलसेला

कौन लक्य ?

धरुध—लारी का लक्य कौन लल है ? लटक लटक कर धनक लुलानों पर लल ललन करला या एक ही लुलान पर ललकर लल लेला ?

मुकन्या

बिभलको भी लमलुधे।

धरुध—लुम इन लुगों में बिसे भी लललल लमलुधे धलनल लक्य लला लो।

बिभलसेला

में लो ललुधेया।

धरुधलल—लौरल—लौरुध लुललुध।

धरुध—लुध लौवन में किली धलकर की लुलल नहों है। मेरे धललल प्राणों के धललदेलता दुःबिध नही है। लहां लक मेरी दृष्टि लाली है। लुध लो ऐसा धिललई लेला है कि लल लक लुल बिधले है लुल लुगलल लेकर ललली है, में इसी धलकर लिली ललुयो। लुधमें ऐसा लो लौरुध ललुगा। लही यौवन ललुगा।

बिधाय—बिभलसेला लौरुध के धललध ललल ललल को धलकट करली हई धलने यौवन में धलललल का धलललल देलली है। लैसे भी देल लललरुध धललर है ललुधे बुडाबलुषा नही धुललली।

सुकन्या

सो 'सकती है ?

अर्थार्थ—विद्यमान—नष्ट । छमना—घोषा प्रवचना । मर्त्य मुक्त—  
मर्त्य-लोक । अथसंब—सहाय प्राप्त ।

अर्थ—ऐसा तुम्हें इसलिये लगता है कि तुम अक्षय हो, स्वयंसिद्ध हो  
उमर्ष हो । तुम परियों का जीवन कभी नष्ट नहीं होता । किन्तु इस पारिव  
मर्त्यलोक में तो जीवन केवलमात्र छमना है बोधा है उसका सहाय सकर  
मानव नापी कब तक जीवित रह सकता है । आचार्य यह कि पृथ्वी के प्राणियों  
का जीवन शक्ति है और उसका वृद्धावस्था में ब्रह्म जाता निश्चित है ।

अपरियों होता है ।

अर्थार्थ—योपिता—स्त्री । धानन्द क्रोय—धानन्द का चर । पीरुता—  
मनितता विविलता ।

अर्थ—अपरियों को कुछ भी करें उन्हें सब सम्भव है । लेकिन हम  
परती की समगर्षों के जीवन का धानन्द-निधि केवल रसपूर्ण हृदय ही है ।  
हमारा हृदय हमें योग के चले जाने पर भी नहीं छोड़ता और न ही शरीर  
में बुद्धता जाने पर हमारा हृदय दुर्बल होता है ।

(मनुष्य के बृद्ध हो जाने पर भी हृदय में रस की अजल बार बहा करती  
है । इसलिये कहा जाता है कि 'बहु दिन से बूढ़ा नहीं है ।')

एक दूसरे करते हैं ।

अर्थार्थ—उर—हृदय । वृत्त—बंठन टहनी । शिखर—सर्ष । धाम—  
बूप नमी । पावस—वर्षा । वेप—गैबाना व्यतीत करना । धनुदत मन—  
धाम्त वित्त । उबधि—धायर ।

अर्थ—हम मानव-मानवियों एक दूसरे के हृदय में इस प्रकार बस जाते  
हैं मानो एक ही टहनी पर दो फूल खिले हों । फिर दोनों में सर्षी गर्भी तथा  
वर्षा का भेद नहीं रहता है । एक ही साव हम बबान और एक ही धाम बूड़े  
होने हैं । धाम्त वित्त से अगणित अतृष्णों को मुक्त से काट देते हैं । एक ही  
नीचा पर बड़कर जीवन-सागर को पार करते हैं ।

सच्चे प्रेमियों के हृदय मिन जाने पर उनमें भेद की सखीर मिट जाती है।

अप्सरियाँ उत्सन्न से।

अर्थार्थ—चिर=धर दीवकालीन । महत्=महान् । उत्सन्न=समर्पण ।

अर्थ—परिमो अघाम्त चित्त हाकर अपने चारवठ योवन क चित्त रस को भोगती है उनके उस रस से कहीं अधिक सुख हमें प्रेम भरे हृदय के छत रहित अघाम्त नम्र समर्पण से प्राप्त होता है।

विषय—हृदय का असीम सुख उसी को मिलता है जो अपना सर्वस्व समर्पण कर अपने हृदय को किसी एक के हृदय में सौंप देता है। सतत भटकते रहने में तो हृदय के दाह के प्रतिरिक्त सुख ही नहीं।

चित्रसेवा

सखमुखा जाती हैं।

अर्थार्थ—अप्रमेय=अकथनीय । नन्दि मिलय=मानम्ब का निकेत । स्वपतियों=स्त्री-पुरुष का जोड़ा पति परती । उत्सन्नित=ग्योछावर, समर्पित । स्वर्तन=स्पर्श । मुनिघत्तम=मुनिघेष्ठ । कोपाकृत=गुस्से से व्यग्र । तापसों=तपस्वियों।

अर्थ—बाम्बक में यह धरती का सहज प्रमत्त सुख अचरणीय है। मन ही मानम्ब का कोप है। हृदय का क्षण भर के लिए भी समर्पण पाने से जब इतना सुख मिलता है तब उन पति-पत्नियों को कितना सुख मिलता होगा जो सदा के लिए अपना हृदय परस्पर समर्पित कर देते हैं। अकिन् मुकन्दे ! जब तुम्हारे स्पर्श से व्यवन अपि ममाधि लब्धित कर कथ से व्याकृत होकर जाग उठे थ। तब तुम उनसे भयभीत नहीं हुईं क्या ? जोचित हृण तपस्वियों से तो हम अप्सराओं को भी डर समता है।

विषय—बल्लुव समर्पण ही सुदुर्लभ प्रेम का उपयुक्त परिवाण है। 'कामामनी' की अट्टा भी देवा और समर्पण की गायी-जाति का पौरव मारती है—



“समर्पण की सेवा का सार सज्जन संतुष्टि का यह पतवार ।  
धाम से यह जीवन्त वातार्थ इसी परतल में विपन्न विकार ।”

—कामायनी अष्टा १७

× × ×

प्रेम के समर्पण में तो कर्बानी इस तरह तक पहुंच जाती है कि प्रेमी को अपनी जांत-भात बदलन में भी संकोच नहीं होता । सभी तो कृष्ण के प्रेम में दीवानी मयमानी ठाम अपना सबसब उनके चरणों पर स्योझाबर कर देती है—

“माह के कुमार कुरबान तेरी कुरत प

हौं तो मुगलानी हिम्नुषानी हूँ रहमी में ।

—ताब १

मुकन्या

उरी नहीं पावों में ।

अर्थार्थ—कौतूहल=विस्मय । उद्माहित=प्रशङ्कित । रम्य-मुग्ध=  
बोनों पावों । लीलना=नियतना । निष्कम्प=स्थिर । केतनालीना=निस्संदेह ।  
अमस्तंभ-दीक्षिता=अस ठे पकड़ी हुई और बुद्धित । सङ्ग=निश्चेतन । मय-  
रिपु=सिजारी घबसा संर ।

अर्थ—बिचनेसे ! उनकी खण्डित समाधि से उत्पन्न कथित मूत्रा का  
वेलकर मैं न करती यह कैसे सम्भव वा ? मैंने तो जिज्ञासावश उन प्यानलीन  
मुनिद्वैव श्री पसकें तनिक अपनी घोर खीबी भी स्थोही तरह प्रशङ्कित हो  
नबब-रम्यों से ऐसे ज्वाला निकलने अभी भागो स्वर्ध अग्नि देवता निकलकर  
बाहर भा रहे हों और जैसे मुग्ध वह ज्वाला एक घास में ही निपलने को  
प्रस्तुत हो गई । मैं तनिक भी हिंसी हुनी नहीं अतितु स्थिर, निस्संदेह केतना-  
शुग्ध अमनोत्, अद्वित प्याकूल हुई उस हिरण्यो की तरह पकी ही रहे गई,  
जिनकी मृत्यु सारने सिद्ध श्री पावों से पकी हो ।

विषय—उदाहरण अलंकार ।

पर में माली से ।

शब्दार्थ—पावक=घाग । परिणत=बदलना । प्रमुदित=प्रसन्न ।  
घनत-ज्वास=घग्नि की धिक्ता । जावक=महावर । भासव=धराव ।

अर्थ—लेकिन मैं महामुनि के नयन-रङ्गों से छूटी हुई ज्वाला में जसी नहीं तभी उनकी धातों की वह घाग मधु की धीतम ज्वाला में बदलने लगी मानो प्रसन्न हुई घग्नि की ज्वालाएँ जावक का रूप धारण करके बदल रही हों । उनके नयन साक्ष्य किन्तु श्रेय से नहीं अपितु मधुमय प्रणय-भदिर की साक्षिमा स रक्षित हो रहे से ।

विशय—उत्प्रभा अर्णकार ।

सहता मुख पर ।

शब्दार्थ—स्मिति=मुस्कान । प्रोवा=परदन । सुभाषा उठी=तिस मिला उठी । बक लोचन=तिरछी नजर ।

अर्थ—उसी समय अग्नि के मुख पर मुस्कराहट की कान्ति खिल उठी और मेरी परदन पर घाकर प्रसय का हाव जैसे लौट गया । ज्योंही मुझे होश आया मैं सज्जा से कांपन लगी और आश्चर्य समासकर तिरछी नजर से देखने लगी तथा यह विचार करने लगी कि अब अग्नि-मुख पर न जाने कौन से माव पूर रहे हैं ।

अनुद्विग्न ---रहे हैं ।

शब्दार्थ—अनुद्विग्न=उत्तेजना रहित, शान्त । अमृत-पिरा=मधुर वाली । सीम्ये=मुन्दरी । शुचि=शुद्ध । तनया=बटी । दाहकता=बसन । स्थाणु=ठूठ ।

अर्थ—इसके परवान् मुनिदेव शान्तिपूर्वक उठ और मधुर वाली में पूछने लग । तुम्हें तुम्हारा क्या हो । तुम इस वन में कहां स घाई हो ? तुम देवताओं के कुस की पावन कान्ति हो या किसी मनुज-कुस की सुपुत्री हो । तुम्हें यह मुन्दर कन कहां स मिला, जिसे देखते ही घग्नि की बसन शान्त हो गई और ठूठ में भी पत्त निकलने लगे ।

विशय—सग्देह अर्णकार ।

बरन करोपी- कुंजर ता ।

सध्वार्ण—अप=बुढ़ापा । पावप=वृक्ष । मदकस=मदमस्त ।  
कृजर=हापी ।

धर्म—बया तुम मुझे बर भोगी । मैं तुम्हारे लिए बुढ़ापे को छोड़कर  
तपस्या के बल से मग्गीर बादल मबीन वृक्ष तथा मदमस्त बुवा कृजर के  
समान मीबन प्राप्त कर लूँगा ।

बिभ्रव—उपमा धर्मकार ।

डरो नहीं घाई हो ।

शध्वार्ण—तपोमग=तपस्या का बंधन । अ्युधि=निम्नता पतन ।  
मनोज्ञ=सुन्दर । सम्बान=घोष ।

धर्म—डरो मत ! यह तपस्या का दूटना मेरा पतन नहीं अपितु सिद्धि  
है । पहले भी जब महर्षि कबम का कठोर तप पूरा हुआ था तो उन्होंने  
बरदान में स्वयं नहीं अपितु सुन्दर नारी को ही मांगा था । फिर तुम तो  
तपस्या के फल की कामि सरीखी स्वयं मेरे सामने जाड़ी हो । इससे मिला  
हुतका स्वयं और कीन सा होना जिसकी मैं शोक करूँ । यदि भयवान मुझ  
पर प्रसन्न नहीं हैं तो तुम सिद्धि बन कर क्यों घाई हो । मर्यात् निश्चित रूप  
में ही प्रभु मेरी साधना से प्रसन्न हैं और मेरी तपस्वा की सिद्धि के रूप में  
जहाँने तुम्हें यहाँ भेजा है ।

बिभ्रव—अंम मुनि सांख्य बर्षन के रचयिता महर्षि कपिल के पिता थे ।  
कहते हैं कि उन्होंने बस हजार वर्ष तक और तपस्या की और ब्रह्मा से बरदान  
प्राप्त कर कपिल को माता तथा स्वर्गमू मनु की कन्या देवमुक्ति से विवाह  
किया ।

मधि-माणिक्य- स्वयं प्राण्या ।

धर्मार्ण—दुधि-स्मिते=पवित्र एवं निर्मल मुस्कान । पर्युपाता=पत्नी  
की कृतिवा ।

धर्म—तपस्वी का तो एक-मात्र रत्न तप ही है । मधि-माणिक्य नहीं ।  
और निर्मल मुस्कानमयी वृद्ध्या को मैं बही तपस्या रत्न अपित कर रहा हूँ ।

हम धीरे धीरे जिस पण्डिताजी में एक साथ मिलकर रहेंगे स्वयं नहीं बदलाने मांगते पाएगा ।

विशय—मुक्या के इस सम्पूर्ण संसार में 'स्मरण' धर्मसार है ।

चित्रमेला

कीर्तिमान होती है ।

धर्मार्थ—कीर्तिमान—यत्स्वी । कीर्ति=यम । विद्या=स्त्री । उद्देश्य=उत्तमता । विमल=वैभव ऐश्वर्य ।

धर्म—यत्स्वी का यद्य भी भावुक तपस्वी की धारणा जो स्त्री क हृदय में भी उत्तमयी उत्तमता भर सकती है वह उत्तमता मस्ति-माणिकों तथा मुक्तों से नहीं बर्पाई जा सकती । धर्म नहीं धारणा धर्म है जो धन का नहीं धन का संभ्रम करती है ।

विशय—सर्वविध धर्मकार ।

मुक्या

चित्रे । में हरिपात्री ।

धर्मार्थ—विमलित=प्रकाशित । महाभ्योम=महाकाय । रत्न=ठारे ।

उमिया—सहारे । मंगिमा=धरार्थ ।

प्रसंग—धर्मन श्रुति के—' हरि प्रसन्न महि नहीं सिद्धि बन कर तुम क्यों धरि हो ?"—नाम सुनकर मुक्या के चित्र पर जो धर्मित प्रभाव पड़ा उसी का स्पष्टीकरण मुक्या स्वयं अपने मुक्त से करती है ।

धर्म—है चित्र ! उस तापसी के मधुनित बचन सुनकर न जाने मैं किस धरार महिमा स भर गई । उस समय मैं जीवन में पहली बार मेरा नारीत्व प्रतिमाहित होकर उठ आया धरार्थ में उस दिन जान पाई कि हम नारीयों की कितनी धरार महिमा है जो ऐसे महान् तपस्वियों की सिद्धि का कारण बनती है और हमारी सिद्धि के लिए न जाने कितन युग धारणा में बिता रहे हैं । मुझे ऐसा लगता जैसे धूम में जलकन बाला प्रकाश उभरता प्रकाश नहीं है धरितु वह मेरी ही धारणा से धारणास्वर हो रहा है । महाकाय में धर्मकने बान नरक बेरी ही कर्मि के परिणाम हैं, बस मैं जो सहारे धरनेमिया कर रही

है वह सब मेरी करण-अपिमा का ही प्रतिफलन है और बन में जो हरिवासी छा रही है वह सब मेरे हर्ष का ही फल है।

विशेष—इसी भाव के समानांतर पद्मावत में जायसी का भाव सर्सनीय है—

रवि ससि नखत बिपहिं छोहिं मोती  
रतन पवारण मानिक मोती।

—जायसी पद्मावत

'स्मरल' प्रसंकार।

लौट गए' 'आयी हो ?

शम्भार्थ—सत-सत = संकड़ों। बनए कर = सुनकर। प्रसस्ति = प्रसंसा सूचक बचन। तापस = तपस्वी।

धर्म—संकड़ों राजकुमार जिस द्वार से निराश होकर लौट गये वे वही द्वार तापस के इस प्रसंसासूचक बचन को सुनकर खुन गया—“बहि भयवान मुझ पर प्रसन्न नहीं है तो सिद्धि बन कर तुम यहाँ क्यों आई हो ?

हाम बिजलैखे । 'माया बा ?

शम्भार्थ—बाकली = सराब। बन्धन-मान = प्रसस्ति।

धर्म—हाय बिजलैखे ! मैंने अपने शीम्वर्क के विषय में अपार प्रसस्तियों का भवसु किया है। कौन ऐसा राजकुमार का जिसे मेरे मुँह में प्राकाश का चन्द्रमा न दिखाई दिया हो। आँखों में सराब और त्वचा में छीपी वीची उज्ज्वल चमक न दिखाई हो।

(परन्तु मेरे प्राम्यन्तर मानस में प्रबुध रूप में जिस शैवता का निवास या क्या कभी उसका प्रसस्ति-गान भी किसी ने किया था ? अर्थात् किसी ने नहीं किया।

लौट गए' पाया बा।

शम्भार्थ—बमलूत = विस्मित करने वाला। छोणित = रक्त। प्राधीर = बीमार।

धर्म—धर्म राजकुमार मेरे विस्मयकारी छोणित मांस और त्वचा को बेपकर, बाह्य सग्ना रूपी रंगों की बीमार तथा मुझसे निकलने वाली सग्ना

के बेरों से टकराकर झूट मये । कोई भी तो ऐसा मुबक नहीं थाया जो इस त्वचा के बेरे को पार करके परे पहुँचा हो या जिसने उसके पार जान का किञ्चित् यत्न भी किया हो ।

सब को सया' गयी थी ?

शब्दार्थ—सरल है ।

अर्थ—सब को ऐसा लगा जैसे मुझ में कोई मोहक-शक्ति धापुरित है लेकिन क्या कमी किसी ने अपनी दृष्टि को वहाँ तक स जान का प्रयास किया जहाँ के भीतर निवास करने वाले गहन सिग्मु स यह मोहक-तरंग समझ कर बाहर प्रतिभासित होती है ?

देखा उसे' धायी हो ।

शब्दार्थ—मुप्त=छोई हुई । धायस-मुक्त=सरलता से । निरछन्न=छन्न-रहित ।

अर्थ—उस भीतरही महिमा के महासागर को महर्षि भ्यवन ने देखा और यह सरल निरछन्न प्रवृत्ति पाकर मेरी मुप्त महिमा को बना दिया— 'यदि मगवान मुझ पर प्रसन्न नहीं हैं तो तुम सिद्धि बन कर क्यों धार्य हो ?

सया मुझे जाती हू ।

शब्दार्थ—दीपित=प्रकाशित बनती हुई । धाकंठ=गने तक ।

अर्थ—मुझे ऐसा लगा जैसे मरे धरीर की त्वचा ऊपरी पपड़ी टूट रही है और मास्वर होने वाली त्वचाएँ धरर से निकल रही हैं । गहन विज्ञ के अन्तगत से एसा प्रतीत हुआ मानो कोई मनु की धारा बही जाती था रही है और मुझे एसा अनुभव हुआ जैसे मैं यत्न तक हय स मरी जा रही हू ।

वितप—उत्प्रेक्षा धर्मकार ।

रही मुक' प्रभा है ।

शब्दार्थ—मुक=शान्त रुप । धम्बर=आकाश उम्बसाक । गुड श्रुटा=एहस्यवर्ती । धनायास=विना परिश्रम के । धमोष=धनुक ।

अर्थ—मैं जैसे तो रुप रही पर उर्ध्वलोक में चढ़ हुए मेरे हृदय ने कहा—

"हे रहस्यवर्ती महर्षि ! तुमन की कृष्ण कक्षा बहू भूठ नहीं है। उचमुच ही में परब्रह्म की सवार मुल्कान हूँ यर्थात् उर्ध्वी की ज्योति से ज्योतिष्ठ होने वाली ही मैं देवी के समान तारी हूँ। सौन्दर्य की प्राप्ति शीर्षकाल की तपस्या के परचात् होती है। (इसी सौन्दर्य को) तपस्वी और प्रजाबल तो विभिन्न साधनाओं के द्वारा प्राप्त करते हैं लेकिन तारी को (सौन्दर्य को) वह अर्पित बिना किसी परिश्रम के सहज ही सुमम होती है। वास्तव में तारी का सौन्दर्य बिंदव को पीतने वाली समोच प्रथा के समान है।

उचमुच ही घाते हैं।

वाक्यार्थ—उपच—स्वात्तु दूठ। इमो—वेही। अवर—बंजड़।

अर्थ—उचमुच ही मेरे स्पर्श मान से दूठ मुझ पञ्च-वर्णधित हो जाते हैं और मैं जहाँ पर भी चरण रख देती हूँ वहाँ की बंजड़ धूमि में भी फूल खिलने लगते हैं।

विशेष—(i) आयुषी के प्रतिबिम्बधार का प्रमाण।

(ii) तुलना—

‘तपन की देखा संवत्त ना निरमल नीर सरीर।

होतत को देखा हुंघ भा बलन कोति नव हीर ॥’

—आमती : परमावत यत्नशरीरक बंद।

मैं अमल तपश्चरण की।

वाक्यार्थ—अनुचयी—शारी। किरीट—ताज। प्रसुप-पुष्प शीका—प्रेम में पवित्र। वास्तुतम—बयकर महान्। तपश्चरण—तपस्या।

अर्थ—मैं उच परब्रह्म की प्रजा हूँ किसी ताज या मुकुट की शारी नहीं हूँ। प्रेम में पवित्र हुई मैं स्वतंत्र तारी केवल उर्ध्वी का चरण करुषी जिससे महान् तपस्या के फलस्वरूप आना प्राप्तिप्रसिद्ध हो रही होगी।

वाक्य यह है कि जब मैं स्वयं ज्योति का संघ हूँ घट मुझे उर्ध्वी का चरण करना बाह्य को स्वयं भी उर्ध्वी परब्रह्म की ज्योति का संघ हूँ क्योंकि इसके प्रभाव में मैं उर्ध्वी मात-तरीकरल होना असम्भव है। परिष्ठापत मेरा धारा बीजक समफल हो पाहका।

‘किन्तु हाय’ ‘घायी हो?’

शब्दाथ—मरस है।

अर्थ—सुकन्या कहती है कि हाय! तुम पुनः एक बार इस वाक्य को क्यों नहीं दोहराते—‘यदि भगवान् मुझसे प्रसन्न नहीं हैं तो तुम मना फिर सिद्धि बन कर क्यों धारें हो?’

चित्रलेखा

उपरी ‘घाँटों में।

शब्दाथ—मादक=नशीली मोड़क मस्त। मधु-मूर्त्त=सुन्दर अणु।

अर्थ—प्रेम के प्रथम परिचय की यह मादक बड़ी कितनी कसकपूण होती है। यह सुन्दर मुहल मरकर भी नहीं मरता। जब चाहो तब इसकी आकार मूर्ति घाँटों में बन्द मिसती है।

पर में ‘विषा है।

शब्दाथ—कटकित=दुःखित। पुसक-पूण=रोमांच स भरी। समनार्थ=स्त्रियों। पर्याय=रूप। मूमा=मानस्य।

अर्थ—लेकिन मैं इस भाँति क्यों दुःखित हुई जा रही हूँ? चाह! निदरम ही प्रथम प्रेम की याद बड़ी रोमांचपूर्ण होती है। अचानक छापी भरती के पूर्य हैं। अगणित नारियाँ उन्हें घट्टूँ मर्या और अघार औरत से देखती हैं। स्त्री को सपन्या की सिद्धि और ब्रह्मानस्य का रूप बठाकर वास्तव में श्रुति न स्त्री-जाति को घनाका धाकर दे दिया है।

सुकन्या

पूछो मत ‘दिसुषों पर।

शब्दाथ—कोपन=कोपपूर्ण। निविष्ट=स्वित, सचित। वससता=स्नेह। निरीह=प्रसहाय मोल निरौप।

अर्थ—कूट न पूछो जैसे ही श्रुति का स्वभाव घोड़ा कोपपूर्ण है। उनके मन की रचना में अग्नि का ही कूट अदिक धंस समिहित हो गया है लेकिन स्त्रियों पर सचमुच उनकी बड़ी बड़ा है और स्वभावतः चतना ही स्नेह के मोले बच्चों से करते हैं।



कहते हैं 'रहते हैं ।

सम्बन्ध—सपत्नीर—सत्कारण बन्धन ।

धर्म—वे (व्यक्त) कहते हैं कि धर्मों को बन्धन तथा सारहीन प्राणों से नहीं देखना चाहिए । वे सभी सत् परम महान परब्रह्म के वेद से दूर नहीं हैं । न जाने क्या कुछ देखकर वे अपने में भी हुंसने लगते हैं ।

स्यात् वहीं है ।

सम्बन्ध—कंचुस—कंचुसी पर्व ।

प्रसंग—प्रसूत पंक्तिर्षो में करि ने चिधुर्षो के सहज सम्बन्धन अनुमन्य के रहस्य का स्पर्श किया है । उनके अनुसार संशय की पवित्रता के बिना ब्रह्म सत्ता के मोक्षों को जानना कठिन है । आज से मनुष्य के मन पर रहस्य का पर्व महारा होता जाता है । वह तो सहज तरह धार्मिक अनुभूति के लिए ही बुला होता है ।

धर्म—सायब परमसत्ता का ब्रह्म भिन्न जो धर्म तक रहस्य मेवने के प्रकल्प में लगे जानी के द्वारा नहीं बुझ पाया है वे चिधु उडे जगत्प्राप्त ही सहज दृष्टि के द्वारा देख लेते हैं क्योंकि इनकी दृष्टि पर तर्क के कण्डहरों में घटकाने वाली भाव की कंचुली धर्म नहीं बड़ पाई है । जिसके बीतर चिधुर्षो जैसी पवित्रता विद्यमान है उत निर्दोष मनुष्य के हाथों में कोई मूल नहीं मिल सकता ।

जब उर्वशी 'लगती है ।

सम्बन्ध—प्रसव—जन्म । चन्द्राहत—हीनर्ष से बाधक । स्वयं—हीना ।

सत्प्रतीका—तेजस्विनी । लोकोत्तर—धार्मिक ।

प्रसंग—प्रसूत जब मैं सुकम्पा द्विजकेका के प्रति व्यक्त श्रुति के द्वारा कहे गए शब्दों को सोचती है जिनमें श्रुति ने नारी-जन्म को पवित्र कहा है उसमें भी नरिली तथा सत्प्रतीका नारी को धार्मिक महान कल्पना एवं यज्ञ की प्रतिमूर्ति बताया है ।

धर्म—जब उर्वशी अपने पुत्र को जन्म देने महा मारि भी तब श्रुति ने इसे उर्वशी पमठा से देखा था कि मैं उसका बर्णन भी नहीं कर सकती । धीर,

के समय उन्होंने निश्चलपूर्ण गम्भीर बाणी में कहा था कि नारी का म ग्रहण करने में बड़ी मुश्किल है। सौन्दर्य से व्याकुल कर भीर पुत्रों के विजय या सेना वस्तुतः बीरता है। अतः नारी की शक्ति महान है और शत्रुओं में भी मर क भार से विपिप्त तैजस्विनी मापि को देखकर मुझे शत्रु प्रति धावर से बरी करणा ही होने मपती है। मैं सोचता हू कि यह शत्रु होते हुए भी कितनी शक्तीक प्रतीत होती है।

देह-कान्ति रही है।

अर्थ—देह-कान्ति—शरीर का सौन्दर्य। पीतिमा-युक्त—पीला। शरीर—शरीर। मेवासी—बदली। मन्थर—धीरे।

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तिओं में कवि ने गर्भवती स्त्री के शरीर एवं शक्ति का सुन्दर चित्रण किया है।

अर्थ—(गर्भवती स्त्री के) शरीर की कान्ति पीली पड़ जाती है। उसकी आस शरखों के बंध में नहीं रहती। वह तो किसी भाँति उस बल से मरी शरीर बदली भी तरह बल देती है जो सामर का बल पीकर भीनी शक्ति से उगमगा कर आकाश में बल रही हो।

आकृति नहीं हों।

अर्थ—आकृति—आकृति—आकृति। शोष-विहीन—कान्ति रहित। विषया—विषय (स्त्रीलिंग)। शोष—बहरे।

अर्थ—(गर्भवती स्त्री की) आकृति कान्तिहीन हो जाती है किन्तु वह शरीरों के रहित नहीं होती किन्तु फिर भी उसके मुख पर कोई मान कापी शेर तक नहीं ठहर पाता। उस गम-विषया के बंध में मानो भव उसकी आस-सहृदय भी नहीं रही हों।

रूप हो जाते जा जाती है।

अर्थ—बल है।

अर्थ—उसकी शक्ति शरणी या मन के बन्धन से बाहर हो जाती है। वह जैसे देखना चाहती है वैसे नहीं देख पाती। उसकी यही शक्ति मुख पर के बंधी बल कर जा जाती है।



अर्थ—घौर प्रबलवती सर्बसी के समीप से अब मह्यपि धाए ये तब उग्होनि कहा कि सर्बसी धमी तो मौन बड़ीभूत हुई पीड़ा की धाम्त धमावस्था में पड़ी वो घौर अब मानो किसी प्रदुष्य स्वान में जाकर तट पर धाई हुई सुस्विर नाव सी यह इस दुष्य बयत के लिए जीवन का कोई सापी से धाई है । गर्भ से मार के मुक्त होकर अब गहन अर्धनिद्रा में यह मानो उस प्रदुष्य के तट की धुबनी बातों को याव कर रही है ।

बसि रहा उर में ।

अर्थार्थ—छार=किनारा ।

अर्थ—वो तन्दु इस लोक की अलौकिक जगत से बाबे हुए है उसका अन्तिम किनारा न जाने कहाँ प्रदुष्य में झुपा हुआ है मकिन यहां स्त्री के हृषय में उसका छोर छाप दिक्काई से रखा है । अर्थात् स्त्री ही वह तन्दु है वो इस लोक को इतर लोक से बाबती है ।

नारी ही करती है ।

अर्थार्थ—महासेतु=पुल । कोष्ठ=कोठा ।

अर्थ—स्त्री ही वह महान सेतु है जिस पर प्रदुष्य लोक से बसकर नए मनुष्य तथा नए प्राण इस स्वून ससार में धाते रहत हैं । नारी ही वह विद्याल कोठा है जहां बेबता राधस एव मनुष्यों स छिनकर परमधूम्य भपना धानार प्रहण कर सेता है ।

सब पुछो भूले का ।

अर्थार्थ—उत्पन्नमार=गम का मार । अर्धय=अधेनी । निलय=मदन । निरापद=बुद्धरहित । कर्म=कमरा ।

अर्थ—(अबन अधि कहते जा रहे हैं—) यदि सब पुछो तो ससार के उत्पन्न होने में पुरुष का कुछ भी भाग नहीं है । यह तो नारी ही है जो सृष्टि के सम्पूर्ण यम को स्वयं पूरा करती है । वह अकली ही यम के मार को सहती है । सन्तान भी वही अधेनी जनती है और वही बालक को यम के उस अन्ध यम में ले जाती है वहां बचपन के भूले का सुरक्षित सीगद्वय एवं सुखर कम है ।

झमे ! भद्रमुत्त है ।

अर्थार्थ—सुयोग—सबसर । येय—महता ।

अर्थ—दुख के रूप में सबा ईदबर ही गायी के गर्म में भाते है । प्रत्येक मां महापुंस्य की ही बननी होती है लेकिन भविष्य को समेट कर अपने अनुकूल बना देने का सबसर संसार की सभी माताओं को कहाँ मिल पाता है । फिर भी धीरबती मुक्या ! उजकी महता कम नहीं है अधिकीय है ।

(उर्बधी का प्रवेश)

उर्बधी

(बिजलेखा से)

अच्छा—.....मोद-भवन है ?

अर्थार्थ—मभवा—इन्द्र । मोद भवन—नन्दन-वन ।

अर्थ—उर्बधी बिजलेखा से कहती है—अच्छा ! तुम यहाँ पर बैठी हो ! अब तो देवलोका की सभी अप्सराओं से यहीं घँट हो जाती है । हे सखी ! यह भवन-कूटी है या इन्द्र का नन्दन-वन है ? (क्योंकि हम सब अप्सराएँ तो नन्दन-वन में ही मिला करती थीं, फिर नहीं भ्रम से हम यहीं पर तो नहीं बैठे) ।

बिजय—सखेह मतकार ।

बिजलेखा

मोद-भवन—.....बैठी है ?

अर्थार्थ—मोद-भवन—आनन्द-बिहार । सख्य सखम—सत्य के समन्वय से ।  
असाक-बधी—अम्बरंधी ।

अर्थ—यह मुक्या के लिए आनन्द बिहार की स्वामी हो चुकी है पर हमारे लिए तो यह राजभवन है क्योंकि यहाँ कल्पना धीर सत्य क सगम से मनुष्य जाति के लिए एक धीर अम्बरंधी राजा ने जन्म लिया है । (बिजलेखा के हृदय में बाध करते-करते एक जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि) है धार्यें। मना बटाओ तो सही ! हम अप्सराएँ किस मानव की बेटी हैं ?

बिजय—बिजलेखा द्वारा सिमु को कल्पना धीर सत्य का संयम कहना

दर्श-संगत है। जहाँ उर्बशी कल्पनागीम युवती है वहाँ पुरुरवा सत्य का अनुसंधाता है। अतः पुत्र में दोनों का समन होना स्वामाबिध है।

उर्बशी

बेटी नहीं— -- बिया है।

ध्यास्या—सरय है।

अर्थ—हे चित्रसेसा! हम किसी मनुष्य की बेटी नहीं हुईं तो क्या हुआ? किसी मानव की माँ तो मैं बन ही गई हूँ। धरी देख तो मुझ रत्नमयी को कैसा सुन्दर नाम मिला है?

चित्रसेसा

कौन कहे ---कनक से ?

ध्यास्या—मानव—मुक्त।

अर्थ—चित्रसेसा उर्बशी से कहती है—कौन कह सकता है कि इस सिधु के मुख पर जो तेज झलक रहा है वह माँ का न होकर पिता से प्राप्त हुआ है ?

उर्बशी

धरी देखती देखो सा।

ध्यास्या—तक—देखना।

अर्थ—(चित्रसेसा ने उपरोक्त तक का विशेष करत हुए उर्बशी कहती है—) धरी देख तो सही। मेरे लाल की छोटी-छोटी आँखों में इस समय भी तो स्वयं के स्वप्न प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। (देखो) यह कैसे टुकुर-टुकुर हमारी धीरे सम्पुष्ट भाव से देख रहा है। ऐसा प्रतीत होता है मानो यह देवताओं के समान सब कुछ जानने वाला सब कुछ देखन वाला और पूर्ण समर्थ है।

विशेष—(1) देवता प्रायः हर प्रकार की इन्द्रियजन्य इच्छाओं से सम्पुष्ट रहते हैं। भोग के प्रति उनकी रसि नहीं होती। इसीलिए उर्बशी ने अपने नाम को देवों जैसा मित्र करने के लिए उसे सम्पुष्ट भावों वाला बताया है, मनुष्य की तरह असंतोषी धीरे विज्ञानु नहीं।

(ii) 'मानो हो सर्वज्ञ' में उत्पन्न भा धर्मकार ।

(iii) 'बिना सा' में उपमा धर्मकार ।

सुकन्या

सखी तुम्हारा मानेगा ।

सव्यार्थ—महाभूर्त—सैतान । बुझाओ—धीतल करो । वृषित—प्यासे ।

अर्थ—(इसी बीच अचानक अचानक ही सहजमिली सुकन्या उन दोनों के पास जाती है और शिशु के विषय में कहती है) —

हे सखी ! तुम्हारा साहसा बहुत घटती हो गया है । मैं बड़ा ध्यान से देख रही हूँ जबसे तुम यहाँ आई हो तब से इस सैतान की तरफ तुम्हारे ऊपर से हटती ही नहीं । तो इसे समझते से बचाकर इसके प्यासे विष (मातृत्व प्रेम से प्यासा) को धीतल करो । (हे दर्बन्धी ! ) मैं चाहूँ इसके लिए कितना भी क्यों न कर लू मगर यह दृष्ट मत्ता मुझे अपनी माँ क्यों मानने सगा ?

बिद्येय—'महाभूर्त' और वृष्ट अथ मातृ-प्रेम से विस्तृत है । इन शब्दों के बावजूद सुकन्या को शिशु के प्रति कोई दुर्भावना नहीं है ।

उपरी

धरी बुझाना—जाती हूँ ।

सव्यार्थ—बुझाना—धीतल । हृदय-कसुम—हृदय के पुष्प ।

अर्थ—उपरी ! इसको क्या धीतल करूँगी ? सा इस हृदय रूपी पुष्प को मुझे दे । इसे अपने बस पर सगा कर ही मैं स्वयं प्राण तक धीतल हो जाती हूँ ।

बिद्येय—(i) हृदय कसुम में रूपक धर्मकार ।

(ii) मत्ता के बावजूद उस में पड़े हुए स्वाभाविक उद्वारों के दर्शन होते हैं ।

(सुकन्या की पेश से बच्चे को लेकर हृदय से सगाती है ।)

प्राह ! गम 'तुम्हारा' ?

सव्यार्थ—कल्पना शून्य—कल्पना की शोनी । उत्तु ग—ऊँचे ।

अर्थ—(शिशु को हृदय से सगा कर बिनासेसा तथा सुकन्या को शिशु-

जन्म से पूर्व उत्पन्न अपने हृदय के उर्वारों को व्यक्त करती हुई उर्वशी  
बहती है—)

भाह ! इस सिधु को गर्भ में धारण करने के पश्चात् मैंने कल्पना की  
तोटी पर चढ़कर कौन से सुन्दर एक ऊँचे से ऊँचे स्वप्न को नहीं झूमा था ?  
अर्थात् तेरे विषय में मैं न जाने कितनी-कितनी सुखद कल्पनाएं किया  
करती थी ।

बिरोध—अमता बड़ी विभिन्न होती है । धाने वाले अपने निरीह मज्जात  
तथा अज्ञात सिधु के लिए वह अपना सब कुछ व्योधावर करने को तैयार  
रहती है । सभी स्वार्थों से परे हट कर मां की यही इच्छा बनी रहती है कि  
मेरा साइसा भाकों में एक हो । सुन्दरता वीरता और ज्ञान में जसकी होइ  
कोई न कर सके ।

यही चाहती—प्राणों में ।

अर्थ—रश्मि=किरणें । अक्षर=पुत्र ।

अर्थ—(सिधु को जन्म देने से पूर्व मैं) यह चाहती थी कि सूर्य की  
किरणों, अन्तःमा की कोमल रश्मियों तथा तारकों की पवित्र आभा को संश्लिष्ट  
करके पी बाढें जिससे ये अपूर्व तथा अमर-व्योषियां मेरे गर्भ में प्रवेश कर इस  
सिधु के शोणित हृदय तथा प्राणों में समा जायं ।

बिरोध—(i) सूर्य तेजस्विता का अग्र हृदय की कोमलता का और  
तारे प्राणों की पवित्रता का पर्याय हैं । अतः इन तीनों के परस्पर समन्वय से  
ही यह सिधु का निर्माण करना चाहती है ।

(ii) प्रथम उस्मेख' अक्षरकार ।

(iii) मातृत्व की निष्कल कल्पना ।

यह सोचती—अक्षरों पर ।

अर्थ—श्लोक=तीनों लोकों में । अक्षर=गोद ।

अर्थ—(इसके जन्म से पूर्व मैं यह सोचा करती थी कि तीनों लोकों  
में जो कुछ भी संभवकारी और सुन्दर है वह सब एक साथ मेरी गोद में  
आकर बस जाय । मैं उसको संश्लिष्ट कर एक पक्षी सी मधुर मुस्कान का



निर्माण करके किसी प्रकार उसके होठों पर जब दू (त्रिमस्र प्राणीवन उसके मुख पर मधुर मुस्कान का ही साम्राज्य हो शेष की तथा ईर्ष्या एक जलन की उस पर छाया भी न पड़े) ।

बिधाय—(i) माता द्वारा बन्ध में सत्य सिद्ध सुन्दर की मधुर कल्पना करना । परब्रह्म का धम होने के कारण वह सत्य का अर्थ तो है, साथ में जिसके में जो कुछ शुभ और सुन्दर है उसे वह बन्ध के मानस में ध्यात्मसात कर देता चाहती है ।

(ii) 'मुस्कान जैसे धमूर्त भाव का मूर्तिकरण करने की सुन्दर कल्पना । धमूर्त भावों का मूर्तिकरण करने में प्रसाद जो बड़े माहिर है । 'अज्ञान' जैसे धमूर्त भाव का उन्नीव एक मूर्त भाव दर्शनीय है—

‘जै वह हलकी सी मतलम हू

जो बनती जागों की माली ।

—प्रसाद ।

सबका महिमा से ।

शब्दार्थ—मानस=हृदय । समावेश=माशिल । धमोचर=प्रवृत्त । निराकार=आकार रहित । निगुण=सत्, रज तम धादि गुणों से भी परे । भ्रूण-विण्ड=गर्भस्थ सिधु का शरीर ।

धर्म—(तुझे बन्ध देने से पूर्व मैंने कभी किसी का प्रहित नहीं विचार) मैं सब के कल्याण की बात सोचती रही जिससे कि जिस समय तेरे मानस की रचना में करणा तथा धर्म सभी धच्छी बातों का समावेश हो जाय । (यहां तक कि) मैं धरती यह प्रार्थना निगुण निराकार एवं धमोचर परम देव को सुनाती रही जिससे कि धरती महिमा से धमस्थ सिधु के शरीर को एक बार धू द धर्मान् धधीर्बाद दे दे ।

बिधाय—कामनास्र आदि धनक भारतीय ग्रंथों में इस बात की बड़ी भारी बर्णा है कि जब शरीर धम धारण कर से तब उसके विचार शीतल, निष्कपट होय एवं ईर्ष्या रहिन तथा सात्त्विक रहन चाहिए । सबकी संमन-कामना करना ही उन्नत परम धर्म्य होना चाहिए क्योंकि इन दिनों शरीर

जस भी कर्म करेगी उसकी बसी ही प्रतिच्छाया बच्चे के मानस एवं शारीरिक में आत्मसात हो जाएगी ।

बहु सब—हरियासी से ।

शब्दार्थ—भूतस=पृथ्वी जपती । उर-अंतर=दिन में । धनुरक्त=धनुराग-मुक्त, प्रती आसक्त बधाहार ।

अर्थ—(मुझे इसके स्वरूप को देखकर अब यह पूर्ण विश्वास है कि) यह सब कुछ (जो कुछ मैंने सोचा था) पूर्णतः सत्य होगा । मेरा यह मान धनुरक्त पिता के समान अप्रतिम तेज बाल सुय के समान इस अस्त्रधर भूतस पर सतिष्ठ होगा और धरणी माता के पुत्रबाल एवं पीतल हरियासी जैसे गुण लेकर मेरा यह पुण्यकर्मात्मक सच्च हृदय स प्रजा में [ आसक्ति रहेगा तथा उसके प्रति सदा बधाहार (हितचिन्तक) बना रहेगा ।

अब होगा कहती हू ।

शब्दार्थ—भूप=राजा । प्रचुर=पर्याप्त काफी । धन-बाल्यवती=धन और धनाज से पूर्ण । परिवाप=यातनाएँ । बमुषा=पृथ्वी ।

अर्थ—अब यह इस बरती का राजा बनना तथा यही प्रचुर धन-बाल्यवती हो जाएगी । पृथ्वी पर निवास करने वाले सभी प्राणियों के (बैहिक बैधिक तथा भौतिक शारीरिक तथा मानसिक) रोग शोक परिवाप और पाप कष्ट आएँगे । संसार में सब सुखी होंगे तथा सबकी धाम्य बढ़ेगी । इसीलिए, हे सखी ! मैं अभी स इसको धाम्य कहकर पुकारती हूँ ।

(बच्चे को बार-बार बुला रही है ।)

किन्तु मनुष्य विपुली ।

शब्दार्थ—दुग्ध-धनस=दूध के समान स्वतः । सोम-सुधा=सोमरस ।

अर्थ—प्राणों में किन्तु सुन्दर धरणीवीच सुखों की मधुर सहरें हिसोरें ले रही हैं । इसकी (विपुली) यह दृष्टि मनाहर और धनुरक्त रस में लगी है । इसके स्पर्श में न जाने क्या सोम-रस की तरंग सी मरी है । इसे गोद में लेते ही पसके भीच नुन जाती है । मुझसे ! कल से मैं किस प्रकार जीवित रह सकूँगी ?

सुकन्या

क्यों कस क्या होगा ?

उर्वशी

कस से साँझों से ।

शार्दूल—विमुक्त—सूटना । धाधार—लोक—कर्म ।

धर्म—कस से मुक्त पर दुःखों का पहाड़ टूट पड़ेगा क्योंकि कस वह पूर्ण हो जाएगी और परिष्कार से मुक्त होते ही महात्म्य कस धर्म ही मेरी लोभ करने तथा मुझे लाल घर भी कमी साँझों से दूर नहीं होमे बने ।

हाय ! सकती हूँ ।

शार्दूल—दमित—पति स्वामी । बंधन—बंध को बाधण करने वाला ।

धर्म—बड़े दुःख का विषय है कि जिसके लिए पति इतने विक्रम और वैभव हैं वही उनका बंधन बन्धन लेकर बंधन में छिपा पड़ा है और यह भी स्थिति लाचार है कि मैं धर्माधिकारी लाल धर्म के बंधन का मुझे धर्म ही पति को नहीं दिना सकती और न ही पुत्र के लिए धर्म स्वामी का स्नेह छोड़ सकती हूँ ।

भरत धाम 'दुष्प्रा है ।

शार्दूल—धरत है ।

धर्म—धरत का धाम कितना भी कठोर क्यों न हो धर्म तक तो वह धरत ही था । उसका धर्म और धर्मकर रूप तो धर्म धरत ही है ।

विशेष—उर्वशी को दिए गए धरत धर्म के धाम का प्रलय किन्ती प्रकार ऐतिहासिक धाधार नहीं रखता । कासिकास ने धर्म के नाटक 'विष्णुवर्धनीय' में इस कल्पना का धाधार किया है । कासिकास के अनुसार—'धरत मुनि के धाम से उर्वशी को भृत्यलोक में धामा पड़ता है और वह वह धरत के धाम कुछ समय तक रहती है । पर जब उर्वशी के धर्म से धरत धर्म धरत को राजा वैभव होता है तब उर्वशी धर्म की धामाधरत स्वर्ग को लौट जाती है । धर्म की कल्पना-धरत इतने धर्म प्रस्तुत हुई है । धरत

भूमि का धाप 'उर्ध्व' की का धाप-परिवर्तन इत्यादि प्रसंग का सिद्धांत की कल्पना-सक्ति के फल हैं ।

—स्व० पाण्डय धीर नानुराम व्यास सस्कृत सा० की रूपरेखा ११०

दिनकर ने भी इस प्रसंग को अपनी कल्पना का योग देकर कुछ अधिक बधिक बनाने का प्रयास किया है । एसी कल्पनाओं के उद्भावन का मूल कारण यह होता है कि पाठक की काव्य-मठन के प्रति एक जिज्ञासा उपस्थित हो जाता है तभी काव्य में रमणीयता आ जाती है ।

सुकन्या

महा क्रूर-कर्मा जाता है ?

अर्थार्थ—कीबिद=पण्डित । दाक्षु=मर्यकर । संतति=सन्तान ।

अर्थ—मरत क्षपि पण्डित होते हुए भी महा कृत्स्नत कार्य करने वाले एवं मर्यकर प्रकृति के हैं । क्या वह यह भी नहीं जानते थे कि सन्तान का जन्म होने पर पति-पत्नी का प्रणय-सम्बन्ध और अधिक दृढ़तर हो जाता है ? भाव यह है कि वह इन सब बातों को जानते थे । इसी कारण उन्होंने प्रसन्न पीड़ा को बहन करने वाले पाप का बाण तुम पर छोड़ा है ।

बाला रहती होता है ।

अर्थार्थ—बाला=मुबती । शिरिय-सुमन=शिरिय का फूल । शंक=गोह । जनय=पुत्र । पयस=दूध । शंसस=छाती (स्तन) ।

अर्थ—(पुत्र को जन्म देने से पूर्व) मुबती शिरिय के फूल के कोमल रंग के समान अपने प्रियतम से बंधी रहती है (अर्थात् उस समय युवा-मुबती का प्रेम बहुत नाजुक होता है । किसी छोटी सी शंका प्रकटा गिला शिकवा में ही वह प्रम-सम्बन्ध शिरिय-सुमन के भागे के समान छिन्न-भिन्न हो सकता है) किन्तु जब उसकी गोह में मन्हा-मुन्हा प्रकटशियां करता है और शंसस में उमड़-उमड़ कर दुग्ध निकलता है तब वे शिरिय के तार (मासुक-सस्त्रिण प्रेम) रेशम की कठोर रस्सियां बन जाते हैं । ऐसा कौन है जो मटके से इसको तोड़ने की सामर्थ्य रखता हो क्योंकि रेशम जितना कोमल होता है उतना ही कठोर भी होता है ।

अर्थात् पुत्र प्रसव के पश्चात् उनके प्रेम में जो पाषाण्य का उत्पन्न विद्यमान होता है वह कुप्ट हो जाता है और उनका प्रेम गम्भीर हो जाता है। कारण, सन्तान में प्रेमी-प्रेमिका को उनके रूप स्वभाव एवं कीड़ाओं के वर्धन होते हैं जिसके फलस्वरूप प्रेम का पाषाण्य रूप धार्मिक रूप धारण कर लेता है। वस यही प्रेम का बृद्ध वर्धन है।

कौन मामिनी त्याग सकती ?

सम्बन्ध—मामिनी—श्लोक करने वाली सुन्दर स्त्री। प्रीति—घरीर से उत्पन्न। पुरन्धी—स्त्री देवी पति-पुत्रवती स्त्री। मिमित्त—लिए। सती—पतिव्रता स्त्री।

अर्थ—अपने सौन्दर्य पर मुग्ध होने वाली कौनसी ऐसी स्त्री है जो अपनी कोल से उत्पन्न पुत्र और प्रियतम में से किसी एक का अवन कटके साथ जीवन सुखपूर्वक बिठाने का वाचा करते हैं ? कौन ऐसी पति-पुत्रवती सुवती है जो पति के लिए पुत्र को छोड़ दे और कौनसी ऐसी पतिव्रता स्त्री है जो अपने बेटे के लिए अपने पति का त्याग कर सकती हो ? अर्थात् कोई नहीं।

यह सच्य बटे का।

सम्बन्ध—काम—विषय भयंकर।

अर्थ—उर्बशी ! यह बड़ा भयंकर सच्य है। इसमें निर्णय करना बहुत कठिन है (कि मैं पति और पुत्र में से किसका बरख करूँ)। (भारत-मुनि ने साप भी तो बड़ा भयंकर दिया है कि) तुम पुत्र और पति दोनों को एक साथ नहीं पा सकती। या तो तुम पुत्र का अवन कर सकती हो या पति का। यह भी केवल उनी समय सम्भव हो सकता है जब निष्कृत बन कर तुम अपने पुत्र-अवन का रहस्य अपने पति से छिपाकर रखो और इस प्रकार इस रहस्यमयी प्रबंधना में तुम्हारे बेटे का भविष्य धार-धार हो जाएगा।

हे सती ! हेनो कुप्ट मुनि ने यह कितना भीषण साप दिया है। इससे तो यही श्रेष्ठ था कि वे तुम्हें बलाकर नष्ट कर देते (जिससे न होता बॉस और न बनती बासुटी)।

चित्रलेखा

किन्तु ज्ञाना संवासन से ।

शब्दार्थ—तपन = ताप । काम-सोस कृति = काम से जलन जमर ।

अर्थ—चित्रलेखा सुन्या से कहती है—किन्तु यदि भरत श्रुति उर्बणी को धपने घाप से भस्म कर देते तो धपनी कामातुर कृति क कंपन तथा मृकृति-संवासन से सध्या के समय इन्द्र की समा में नाच-नाच कर देवताओं की तपन का हरण कौन करता ?

सरस मानती रक्त-धारा में ।

शब्दार्थ—सतत-चारिणी = निरन्तर संवरण करने वाली । तरी = नौका । मीनकेतन = कामदेव । श्रमित = बके हुए ।

अर्थ—चित्रलेखा कहती है—हे सरस हृदय नूतन पर रहने वाली नारी ! तुम भला कृति देवों के स्वरूप का क्या जानो ! यद्यपि देवसोक धपनी कामना को जभाकर सिद्ध हो गये हैं किन्तु उनके भस्म-समूहों में अब भी काम की कुछ चित्रधारियां बंध हैं । उनकी पीठन (काम तथा तृष्णा से रहित) रक्त-धारा में अब भी कामदेव की भीना निरन्तर रूप से मन्द-मन्द संवरण करती रहती है ।

सहि मुक्त जभाकर ।

शब्दार्थ—प्रहरण = प्रहार, धापात । धनग = कामदेव । र्पे = शक्ति सामग्य । विबुध = देवता । पंचसर = कामदेव । सुरों = देवताओं । प्रथमन = धमन करना धातमसात करना । पावक = धमि (कामानि) । बग्धि = भाग ।

प्रसंग—देवों के हृदय में काम के प्रति क्या प्रतिक्रिया होती है ? इसकी सहज कल्पना कवि बिनाकर चित्रलेखा व माध्यम से प्रस्तुत करते हैं ।

अर्थ—(देवताओं में भला) इतनी शक्ति कहाँ है कि वे कामदेव का स्वप्न धापात सह सकें ? (अर्थात् काम के मानस में स्थित होने पर जो शरीर में इन्द्रिय-जग्य व्याकमता होती है वह देवों में नहीं होती क्योंकि वे सिद्ध धीर पीठन होते हैं) । देवता सोम कामदेव के प्रहारों को धपने मानस

एर कारण करते हैं क्योंकि उस कामाग्नि का लहज एवं स्वाच्छ रूप से घमन करना उनके लिये सम्भव नहीं है। वे तो बूझों में कामाग्नि जगाकर (और उसके चर्चन से ही सुखमोह करते) प्रेम का सात्त्विक भोग करते हैं।

कहते हैं महान की।

अर्थार्थ—यौवनहर=जबानी को हरने वाली। प्रसव-बीड़ा=प्रजनन पीड़ा। तेजोनिवाण=तेजस्वी। प्रीवा=वरवण। उत्प=प्रेमा। रंभिकाएँ=मनोरंजन करने वाली।

अर्थ—ऐसा कहा जाता है कि अण्डराएँ जबानी को हरण करने वाली प्रसव की बैयना से बची रहती हैं। और, वे इस संतति-सुख से वास्तव में रंभित रह जाती हैं क्योंकि यदि वे माताएं बनकर बरतीं पर निवसित हो जायें तो विषय-रस के लालची सिद्धों की और तेजस्वी देवताओं की दृष्टियों किनके गर्भों पर, गर्भ पर और बलास्पन की प्रेमा पर भाकर टकराएँगी। (अर्थात् फिर वे किसकी यौवन-माधुरी को और किसके सुन्दर अंग प्रत्यंगों को देखकर अपनी कामोद्दीप्त दृष्टि को साम्त करेगी)। अतः हम अतृप्त कामेच्छा का मनोरंजन करने वाली कामिनियों (अण्डराओं) के प्रतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं।

विशेष—देवताओं के विनोद का एकमात्र साधन काम ही है जो महामत्त युवतियों के गर्भों में निवास कर उनकी कामुक दृष्टि को सबैव विरमाता रहता है। कामाग्नी में काम देवों के प्रसंग में अपना परिचय इस प्रकार देता है—

श्री काम रहा लहजर उनका

उनके विनोद का साधन वा।

हसता वा और हसता वा

उनका मैं कतिमय जीबन वा ॥”

—कामाग्नी काम ७१

एतल नयन कपोल प्रादि काम के साकार रूप हैं जिन पर कामुक देवों की वासनामयी दृष्टि का सीट-सीट कर या टिकना स्वामाधिक ही है—

“अपने धर्म के आत्मिक जीवन श्रुति प्रदीप्त  
स्वतन्त्र मन नैन निरन्तर ही, बड़ों इच्छा की।”

—बिहारी सतसई

हाय सुकन्ये ! पाता है ।

शब्दार्थ—निमित्त=भाष्य ।

अर्थ—हाय सुकन्ये ! भाष्य के धाप से प्रसिद्ध हम अन्तरात्मा के हृदय की इस विषय पीड़ा का कोई भी ठो नहीं समझ पाता ।

सुकन्या

(उर्बंशी से)

तो यह पड़ी है ।

शब्दार्थ—दादरु=भयंकर । निमित्त श्रुति=भाष्य का बीज । विपद=भाष्य विपत्ति सकट ।

अर्थ—हे उर्बंशी ! भाष्य का यह भयंकर बीज आश्रित कब तक बसता रहेगा ? और आश्रित कब तक पुनः कसेजे से जगा खलु मर के लिए मन-तोष करने के लिए इस प्रकार (पुकरवा से) छिप-छिप कर बन में आधोपी ? साथ ही क्या मुझे यह बधा तकती हो कि भासु यहाँ पर कब तक रहेगा ? (ये सब प्रश्न करते-करते जब उसने उर्बंशी का काव्यिक एवं विवश मुकटा देखा तो सम्झी सी ब्यास निजाम कर सुकन्या इसके प्रतिरिक्त कुछ भी नहीं कह सकी) हे भगवान ! उर्बंशी पर यह कौसी विपत्ति या पड़ी है ?

उपश्री

आने को सकटती है ?

शब्दार्थ—स्यात्=भाष्य सम्भवतः । सरीणि=कम । समग्र=सम्पूर्ण । रजनो=रात । बध्य=बाँध । उदर=पेट । प्रविण्णता=दापित ।

अर्थ—उर्बंशी सुकन्या के उपरोक्त प्रश्नों का उत्तर देती है—

जहाँ तक आने का प्रश्न है सम्भवतः, यह मेरा अन्तिम दिवस है । कम से तो (पुकरवा के पास जान पर) मेरे जीवन का बही पुण्या काम शुरू हो जाएगा । दिन में तो वे जहाँ पर भी रहेंगे उनके साथ मुझे भी रहना पड़ेगा



और यदि घाने पर ऐसी प्रेम-कथा में जो जाना पड़ेगा जिसका न भाविक है, न पम्प और न कमी प्रगट होता है। इतना छोटे हुए भी मैं कह नहीं सकती कि घामु' के विषय-व्यय बुझ को मैं कैसे बहुत कर सकूँगी? (प्रामाणिकता करती हुई उर्वशी कहती है कि) हाय पुत्र! तू मुझ बँसी प्रमिष्टवा और बन्धु-उदर प्रपरा की कौशल से क्यों बनना या जो तुम्हें माँ का प्यार भी नहीं है सही।

में निमित्त घाने पर।

सम्बन्ध—निमित्त—हुत बारण। प्रबोध—प्रवचन। निमित्त—सम्पूर्ण। भ्रूण-बहन—मर्म को बारण करना। प्रवचन—वचन। घरमे—घरण देने वाली। स्वसे—भयिनी बहन।

अर्थ—हे सुकन्या! मैं तो इस बन्धु की माता कहलाने की हेतु मात्र हूँ। उरय रूप में देखा जाय तो इस सम्पूर्ण विषय में तुम्हें छोड़कर दूसरी कौन इस प्रबोध विषय की माता कहलाने की प्रतिकारिणी है? केवल गर्म पारण कर लना और (फिर निश्चित समय पर) उसको पम्प दे देना ही मातृत्व नहीं है। माता तो प्रसन्न में वह है जो बच्चे को अपनी छाती से लगाकर पालती है। (भाव यह है कि इस दृष्टि से इस विषय की माता मैं नहीं बनूँ, तुम हो क्योंकि मैंने तो केवल इसको वचन भर दिया है जब कि इसका [मात्र-व्यय] तो तुम ही कर रही हो)। हे सखी! कच्छामय देवी घरण में घाये हुए को घरण देने वाली मंगल कथा कस्वाण करने वाली और भगिनी (सुकन्ये)। मैं यह क्या बता सकती हूँ कि अपने बँध से विच्छेद कर जायु जब तक यहाँ धर्म की घरण में तथा तुम्हारे प्रार्थन को छाया में रहेगा? लेकिन (इतना तो निश्चित है कि) एक न एक दिन उसे अपने पिता के घर में तो प्रवचन ही जाना है। (हाँ यह बात दूसरी है कि वह कब या सकेगा? हो सकता है जायु की प्रवचन से) वह घात्र या कुछ दिन में प्रवचन जीवन घाने पर ही आए।

घनना तुल' पदी हूँ।

सम्बन्ध—गुणवत्—तितके के प्रवचन। प्रवचन—उत्पन्न किए गए।

सुख=सुख । शक्ति=स्वामी पति, प्रियतम (पुरुषवा) । शक्ति=धरती ।  
 शक्ति-कामन=मन्त्र-बन ।

धर्म—(यादृक् में विमोह हाकर उर्बची सुखमा से कहती है—) मैं  
 धन सुख (प्रथम-सुख) को तो दिनके के समान नग्न मानकर किसी भी  
 बल उसे छोड़ सक्ती हूँ लेकिन इस धरती पर रहने हुए (अपनी धर्मों के  
 नामने) मैं (अपने अणिक सुख के लिए) बच्चे के धाम्य का कैसे फेड़ सक्ती  
 हूँ हे मुझसे ! इसलिए मेरे द्वारा प्रभुत इस शिगु को जब तुम्हारी इच्छा  
 हो तभी (यज-मूह) भिजवा देना । (मह मैं जानती हूँ कि) जब मेरे स्वामी  
 की वृष्टि इस पर पड़ती तब मुझ पर एक बन्ध सा टूट पड़ेगा । धरत हाथ  
 दिया गया हाथ गर्जन कर उठना धीर मैं पुतली के समान पराधीन ही होकर  
 इस पथी को छोड़ पचानक खिची हुई स्वर्गलोक को बनी जाऊँगी । फिर  
 अकस्मात् मेरे ये सनी सुख जिनकी कामना लेकर मैं इस धरती पर उठती  
 थी और जिनके लिए मैंने मन्त्र-बन को ही मुला दिया था छूट जाएंगे ।

यह धरती बनुवा से ।

हाम्बाव—धरती=जपन । प्रभु=पुन । अरिस्तमिस=नदी का पानी ।  
 पत्य=फलन (पनाम) । मिकु ज-मु बों=अद्विबों (लताओं) के मुरमुटों ।  
 अविनद्वर=घारवत धमर । नुरपुर=इन्द्रलोक ।

धर्म—स्वर्ग में जाने पर मुझे यह पूछी (यहाँ से बड़े होकर दिखाई देने  
 जाता) यह नीलाकाय मुझों से आधुनिक इरे मेरे धंगल तथा मे (रंज-बिरंगी)  
 फूल बड़े याद धामने । प्रात-काम जपा की प्रस्थामा से सँप्या के जल का  
 मन्त्रमन्-मन्त्रमन् करना चारों के चेतों पर अग्रया की चाँदी पीसी किरल्लों  
 का बिलर बाबा लता-दुर्षों के पधियों का बजरव करना मला मुझ म्यर्य  
 बाधिनी को स्वर्ग में कहीं देखने को मिलेगा इसलिए इस विगतम किन्तु धरधर  
 यही के धारवत लोम्वर्य को मैं, स्वर्गबाधिनी मन्त्र से नत होकर नमस्कार  
 करती हूँ । इस बनुवा पर कितना मन्त्र सुन प्रमोद तथा धामन है ? इन्द्र  
 लोक का स्वर्गीय धामन तो इसकी तुलना में बहुत ही कम है ।

दिन में जाती है ?

हाम्बाव—अकस्मत्=अचानक में धारण किए हुए । धरत=धरती । अविनी

—रात । निस्तम्ब = शाल । सुदूर = दूर से । विविज = बरती और घाकाय का मिलन-स्पर्श । वृष्टो = वास ।

अर्थ—दिन में जब ये अद्विप पर्वत मोहित करने वाली त्रिय छाया को अपने भीतर आत्मसाध कर लेते हैं तब भी वे कितने मस्वर समते हैं ? रात्रि के आगमन पर जब घाकाय की छाती पर लक्ष्मों का विराट ज्वार-भाटा सा छा जाता है तब वह कितना महान प्रतीत होता है । जब रात काफ़ी घनी हो जाती है उसी समय जब निस्तम्ब वृष्टों में कौन सा ऐसा नीत है जिसे अचेतन अंधकार गायब करता है और जब दूर विविज से स्पर्श से हो अमित सुख प्रदान करने वाली वासु प्राणी है तो वह कौन सी ऐसी रहस्यमयी बात है जिसे (हूँ-हूँ) वृष्टों पर निरकर छोड़ जाती है (जिसे वे रू रू कर अपनी संगीतमयी ध्वनि में सुनाते रहते हैं और घोस विन्दुओं के रूप में कल्याणित होकर रोते रहते हैं) ।

विशय—'पर्वत' और 'अचन' में पुनरुक्तमवाभास अलंकार है ।

और 'मन्वमादन' इठला कर ।

शब्दार्थ—विटप-वृष्ट = वृष्टों के पत्ते । अचणु = कान । अटवी = बन अंशु । निन्द = निन्द्य स्वर । ज्वार भाव = ज्वार-भाटे का रूप चारणु कर्क । तटिनियां = सरिताएँ । सुवास = इनाम वाली चिकनी ।

प्रत्यय—उर्बशी अपने पिछले दिनों की सुख कल्पना का स्मरण कर रही है तथा दोनों में परस्पर की गई रति-कीड़ा का प्रकृति पर क्या प्रभाव पड़ा इसका भी पुनरास्मान कर रही है ।

अर्थ—और मैं वृष्टों से घाच्छादित इस मन्वमादन-मनन का क्या बर्खन करूँ ? यहाँ के बीच-अनुभूतों की बात तो छोड़िये मूढ़ तो इसके वृष्टों का एक एक पत्ता एक सजीव (प्राणवान) समता था । हमारे द्वारा परस्पर किए गए मन्वन तथा मन्वुर अठथैलियों से उत्पन्न सुख ध्वनिको यह बन वृष्टों के प्रत्येक पत्र को कान बना मौन चारणु कर कितने ध्यान से सुना करता था ? (हमारे ध्यानगण से लक्ष्म होकर) सताएँ तथा गालाएँ हमारा मन्वुर स्पर्श करने के लिए झुक जाती थी और हिमालय की चोटियाँ ऐसी प्रतीत होती थी मानो विद्याल मुबार्रें हों जो अपने में घाये बड़कर हमें अपने आघोष में ले लेना

बाहरी हों। (हमारे मुख तथा नासिका से निकलने वाली उत्पन्न एवं कामासक्त निद्रावाहों से पीड़ित होकर) कृत्रुओं के फूल बेचारे विषमिषित हो पड़ते थे। ऐसा प्रतीत होता था जैसे वे अपनी गर्भपूर्ण श्वाशों के द्वारा हम को पी जायें। (हमारी प्रणय त्रीड़ा से रोमांचित होकर) पहाड़ों की चोटियों पर सहराने वाली हरियाली समुद्र की सहरियों के समान फेन समस्त पृथ्वी की धीर बहु ज्वार भाटे के समान लग रही थी जो किसी न किसी प्रकार बादलों से मिलने के लिये उत्सुक हो रही थी। (हरियाली की उर्मियां स्त्रीलिंग तथा बाह्य पुरुषलिंग हैं। स्त्रीलिंग का पुरुषलिंग से परिरंमण करने का आकस मात्र सर्वशरी तथा पुरुषलिंग के परस्पर निबद्ध हो जाने के आकस मात्र को दक्षित करता है) धीर इमान वाली चिकनी-चिकनी धिसाशों से टकराकर उछलती हुई बहने वाली सरिताएँ हमें देखकर धीर अभिन्न इठला कर चलने लगती थीं। (मात्र यह है कि ये सविता मायिका का रूप धारण करके इठला इठला कर यह बहने का प्रयत्न करती थी कि तुम्हीं नहीं" मैं भी अपने प्रियतम समुद्र के प्राणिपन-वास में समा जाने के लिए जा रही हूँ। तुम्हें तो किसी न किसी कारण अपने प्रियतम के प्राणिपन से प्रलग होना ही पड़ेगा मगर मुझ सौभाग्यशासिनी को देखो जो एक बार उचकी पौध में समा जाने के पश्चात् कभी उनसे बिलग नहीं होती)।

विशेष—(i) उपमा रूपक तथा उत्प्रेसा धर्मकार ।

(ii) स्मरण धर्मकार ।

(iii) प्रकृति का मानवीकरण ।

धीर हाय' बनाकर ।

प्रवचार्थ—निर्मरी = छोटा भरला (स्त्री०) । सुदृढ = अच्छे कर्म ।

प्रश्न—धीर हाय! (मैंने एक निर्मरीणी को देखा था । उसकी याद मला मैं देते भूल सकूँगी ? अच्छे कर्मों से ब्रह्मि हुई सी एक निर्मरीणी पेड़ों की छाया में बहती हुई कितनी थोली लग रही थी । ऐसा लगता था जैसे वह जिस किसी पवित्र उद्गम-आव से निकल कर आ रही है वहीं वहीं उसके प्रियतम कृटिवा बना कर रहते होंगे (जिनके साथ वह अभी न

करके घा रही है धीर जब उस प्रेम का स्मरण मात्र करने से त्रिभित हो रही है।)

विशेष—(i) उदाहरण तथा स्मरण प्रतीकार ।

(ii) प्रकृति का मानवीकरण ।

घाहू ! छिपाकर ।

शब्दार्थ—प्रान्ध=प्रप्राप्य । मधिर=मस्त । जाल=सू धने की शक्ति । विचर=विस्तृत । उर देण=बदल । सख्य=पिन्ह । रमस=मिलन । प्रमथ=निरन्तर । चर्चरी=रात । मुञ्जबेण=मुज ।

अर्थ—बन्धुमात्र का यह सुख धीर प्रियतम की गोब—सब मुझे पाव भा रहे हैं । वह मस्त प्रान्ध जो स्वयं म भी प्रप्राप्य है उसका मैंने इस रसमयी पृथ्वी पर भी मर कर पाव किया है । नासारण्ठी में जो सुवर्ण तथा चकित नयनों में जो सौन्दर्य व्याप्त हो गया है स्वभा में कपोलों में तथा चंभसी की पोतों में स्वयं के सुख की जो पुसकित कर देने वाली जनसनी घमा गई है उसे क्या कभी पवित्र एवं विस्तृत नगा का जस जो पायेगा ? कल्पवृक्ष के नीचे ध्यान में जमी हुई मैं अपने बंध पर प्रियतम के बसस्वयं के मुझर बिन्हों को तथा रोमांचित हुई सारी वैह पर पिछले चुम्बनों को हू हूगी । धीर प्रियतम के साथ भी मैं उन चुम्बर उपरेतियों को क्या मैं कभी मुला सकती हूँ ? मेरे सारे धंनों से प्रियतम का सदा ठिठोली कर सदा खेतते रहना धीर प्रेमरस में निष्पलक नयनों से सारी रात मस्ती से बिता देना कभी मुझ अपने धाकृत एवं स्निग्ध हृदय से भगा लेना धीर कभी बानकों की तरह मेरी बोव में अपना मुह छिपा लेना—(ये सब क्या कभी मुझे भ्रम सकेंगे ?)

तब फिर जाते हैं ।

शब्दार्थ—धातोङ्गन=उमङ्गना । निगुङ्ग=गहन । बैकसी=बेचनी । विमय=भीन । प्रन्तराम=हृदय । विसुभ=बेसुभ ।

अर्थ—धीर फिर जो प्राणों की धनियों का बहुत संघर्ष एक को दूसरे में सीन कर देने की सतकी वह बेचनी, जून का वह उफान, हृदयों में बिनागारी का ज्जना धीर स्वभा का पुसकित होकर स्वयं प्रकाशित हो उठना मानो सरीर

के धन्यकार की पंक्तें एक-एक कर नष्ट होती या रही हों । मम का किसी धाकास के घन्तर में किसी महाभागर में डूब कर निस्वस समाधि के मुक्त में लो जाना यदि मेरे विगत प्रेम की स्मृतियाँ कितनी विकल कर देने वाली हैं । सुकृप्ये ! धरती का यह प्रभापूण प्रेम कितना विषय है, कितना महत् है ? धपनी उत्तेजना की धाण में बसुध होकर स्वयं लँठे हुए न जाने हम किस धपुष्य सोक में पहुच जाते हैं ।

यह प्रदीप्त जाता है ।

शब्दार्थ— मर्त्य-जगती = मरण-जर्मा पृथ्वी । अस्तायन = ऋतौका खिड़की । प्रसुप्त-अग्नि = प्रेम की धाग । पापाण = पत्थर ।

धर्म—(धरती का) यह धाणोक्ति धानन्द मसा इन्द्रसोक की धीतल प्रधान्त प्रकृति में कही सम्भव है ? पारिजात के पुष्पों में (काम की) धाग डूबने से भी नहीं मिलती । यह तो मर्त्यलोक ही है जहाँ पर स्पर्ध क सुक से धन्यकार में भी धाणोक्तधाम ऋतौके सुक पड़ते हैं । धान्त हृदय में प्रेम की धाग उसी प्रकार चलने लगती है जैसे सोया हुआ पत्थर काम कर हीरा बन जाता है ।

किन्तु देने को ।

शब्दार्थ— धमेय = धपरिमित । निर्जर = बुझाप स गहित । धमस्व = धमर । धीयुधनयी = धमृतमयी । धधूर = निकट समीप । धात = दाध । धाकस्मिक = सहसा धामे जाने ।

धर्म—किन्तु बुझ है कि इन धनुस धपरिमेय सुक्तों की गस्वरता को धमरता में बदलकर भोगना मेरे लिए भी कठिन है । यद्यपि मैं जणहोत स्वधिक धमर एवं धमृतमयी धपण्य हूँ । धरत का धाप न जाने मेरे धितने समीप एक ही धाकस्मिक ऋतौके में पृथ्वी स धेरा सुकमय सम्बन्ध धिन्न कर देने के लिए दाध लगाए बैठा है ।

जो भी जाने हैं ।

शब्दार्थ— धरत है ।

धर्म—हे धमि ! जाहे मैं कुछ भी ज्यों न करू पर बहु दिन तो धन्य जाने ही जाना है जब मेरा धाण सौभाग्य एक ही धण में धिन जाएगा । मैं

पृथ्वी के सारे सुखों को छाड़कर यहाँ से उसी प्रकार उड़कर जमी जाऊँगी जिस प्रकार धारमा शरीर को छोड़ घम्बर में उड़ जाती है और अंत में मृग धापित अभागिनी नारी को न तो प्राणों से प्रिय पृथ्वी मिल सकेंगे और न ही फिर मेरा प्रियतम से मधुर निमन हो सकेगा ।

विमलेखा

मरत घाय' रही हो ।

अर्थार्थ—दुस्सह=असहनीय । दुस्त=मयकर । छापी=बकरी । कर=ठीकण । सुरिका=धुरी ।

प्रसंग—मरत के घाय की दुस्सह कथना से विमलेखा के हृदय में उर्वसी के प्रति भयङ्कर काव्य की लहर बोल जाती है और वह उर्वसी के दुर्मित भाग्य के प्रति शोक प्रकट करती है ।

अर्थ—प्रिय सखी ! मरत का असहनीय भयाङ्कृत अविद्याय कितना दुःखदायी एवं कटु है । प्रत्येक मनु इसके भय को उस बकरी की तरह घाघिर तुम जब तक सहती जाओगी जिसकी भय से निरन्तर रूप से काँपती हुई परवन पर ममराज की जीम के समान तीव्र धुरी भूम रही हो ।

धियु को करती है ।

अर्थार्थ—सुरपुर=इन्द्रपुरी ।

अर्थ—'घायु' को कितनी तरह अपने प्रियतम पुकरवा के राजमहल में पहुँचा कर तुम घाय ही रात को यदि इन्द्रपुरी सीट बनो तो अधिक भयङ्कर है । ठीक है कि घाय से छूटने का कोई उपाय नहीं है किन्तु ऐसा करने से तुम उसके भय की बाहुकता से तो बच जाओगी और फिर अक्षराएँ अपने सन्तानों का पालन करती ही क्या हैं ?

विशेष—और अक्षरा संतानों का पालन क्या करती है ? — पुराणों में निम्नलिखित कथाएँ देखिए—सुकुबेब का जन्म भूतापी से मत्स्यनद्या का जन्म उपरिचर और अशिका से प्रमह्य का जन्म विरवाकसु मुनि और मेनका से । राजा धामीम और पूर्वजिनि मुनीवर कण्डु और प्रमोवा तथा मेनका और विरवाभिन्न की कथाएँ भी । बंगाल में भी अपने घाट गुप्तों से

किसी का पालन नहीं किया। हाँ मेनका एक ऐसी अष्टम अक्षर है जिसके भीतर मातृत्व कुछ अधिक सूचीबद्ध है। दुष्प्रत्य के यहाँ सब्र सङ्कल्पना निकाल दी गई जब उसका मेनका आकर उसे उठा से गई, ऐसा साक्ष्य वासिदास की कल्पना देती है।'

— उर्वशी-परिशिष्ट १५८

उर्वशी

यों बोलो नहीं है।

सम्प्राप्त—वातायन=बिहारी करीना। स्वरस=मुरस। पत्राती=किटकिटाती। अनायत=अविष्य।

प्रसंग—विश्वसेवा के यह कहने पर कि उर्वशी धान के मग से बचने के लिए पृथ्वी से पलायन कर स्वर्ग की लौट जाय तो अष्टम है उर्वशी पृथ्वी के दुःख-सुख के समन्वित एक शास्त्र नियम की ओर उठका ध्यान अष्टम किया जाहती है। यहाँ (धरती पर) अमृत और मरण फूस और काटे हुए तथा सुख लक्ष्मी एक साथ बरण करना पड़ता है। अतः अनायत दुःखों की भावना से अयधीन होकर उर्वशी भावना नहीं चाहती।

अर्थ—हे सखी! ऐसा मत कहो। पृथ्वी के अपने अमग नियम हैं। यहाँ जिस जगह मूल होता है उर्वशी जगह दुःख भी भरोसे से अष्टम करता है। यहाँ अमृत्यु की मधुमय रस का पूर्ण स्वाद मिलता है यहाँ पाठ की खाई में छिनकर बड़े हुई मृत्यु अपना शोक लगाए शोक पीसती रहती है। यहाँ जो भी अमृत का पाठ करना चाहता है उस एक हाथ रस क बड़े पर और दूसरा शोक की परबल पर रचना पड़ता है। (जब इस धरती का नियम हो ऐसा है) तो फिर मैं ही अविष्य के मग से अयधीन होकर इस जग को क्यों छोड़ूँ। अतः प्रिय पुत्र वामु नहीं रहेगा। उसक अतिरिक्त कोई दूसरा नाम इसका नहीं है।

सुकृत्या

बिभ। पामु मो।

सम्प्राप्त—निरीह=मोल। पयमुक्त=दुःखमुहो। त्रिपपर=आपति-



रहित । कनपासी—कुस को पालने वाली । विमातुल्य—विमाता । बामा—स्त्री ।

उर्व—विचसेवे । उर्वशी ठीक कहती है इस मोले तथा दुधमुहे घामु को घामी से राजभवन भेज देना प्रापतिहीन नहीं होया । रानी चाहे कितनी भी उधार कुस का पालने वाली तथा बपावती क्यों न हों हम स्थियाँ विमाताओं का विश्वास नहीं किया करती है । उर्वशी तुम 'घामु' को मुझे दो । इसका पासन-पोषण मैं करूँगी ।

(उर्वशी की गोब से घामु को ले लेती है और उसे पृथकारते हुए बोलती जाती है) ।

यह प्रायम नहीं है ।

शब्दार्थ—इन्धु—चन्द्रमा । डेने—पंख । कपोत-केकी—कबूतर और मोर । रार—भ्रमर । रोवेमा—करेगा । घघर्को—खरगोशों । प्त्रबंग—बाग पत्नी । कुंरंग-छोनों—हिरण के बच्चों । होम-वेनु—बन की पाएँ । गोबर-मनुकुल—प्रवेश पाने योग्य । समिषा—पत्र की सामग्री । सस्त्र पारथ-निष्ठात—सस्त्र तथा पारथों में प्रवीण । कंसोर—पीबल । पीयूष—धमूत । मूम्मवी—मिट्टी वाली ।

वर्ष—हे सखी ! यह तुम्हारा पुत्र घामु इस प्रायम की ज्योति है इस परलकृती का जन्म था चन्द्रमा है और हमारी माँओं का शरण है ।

यह मेरा मुन्ना बूटनों से बल बौड़-बौड़ कर कमी हरिण के माँओं को पकड़ेगा और कमी कबूतर एवं मोर के पंखों को ।

जब यह लड़ा होकर अपने लगेगा तो मुन्दर खरगोशों पिलहरियों पग-साबकों तथा बाम-मूगों के साथ हठपूर्वक भ्रमड़े करेगा ।

फिर कुछ दिन में और ठनिक बड़ा होकर यह यज्ञ की मायों को लेकर गोशों के चरने योग्य जंगल में प्रतिपिन जाया करेगा ।

और साँझ के समय उन्हें चराकर फिर [पर छोटा था कुषा वाम तथा समिषा का गढ़वा लेकर लोट जाएगा ।

फिर पवित्र होकर महर्षि अश्विन के साथ ब्रह्म की बेटी पर बैठकर हमारा यह काम सम्पन्नकर कर हवन किया करेगा ।

हमन के धूप से जब उसकी आँखों में आसू उमड़ आएंगे तब मैं अपने पांचल से उसके दोनों गयन पोंछ दूंगी ।

अस्त्र और शास्त्रों के प्रयोग में प्रवीण शरीर से बसिष्ठ मन से प्रसा युक्त जब यह धपना पुत्र यौवन को प्राप्त कर लेता तब मैं इसे स्वयं राज-भवन में पहुँचा आऊँगी ।

तब तक तुम (उबसी) जाकर मर्यं बरती के समुद्र का निरिक्त तथा सन्देश रहित होकर पान करो । प्रायु को सब किसी प्रकार का भी भय नहीं रह गया है ।

उबसी

तो मैं जा रही हूँ ?

मुकुन्दा

कहाँ जा रही हो ? क्या तुम प्रिय के आतिथन पाद में बंधने के लिए तो नहीं जा रही हो ।

उबसी

उस बन्धन विषय में ;

अर्थार्थ—विकल्प = विचार । शास्त्र = मर्यंकर ।

अर्थ—युवा के आतिथन-पाद में तो सब केवल शरीर ही बंधने को सेप रह गया है क्योंकि मेरे प्राण तो प्रायु के ही जीवन से सिपटे हैं जिन्हें मैं यही तुम्हारे बर छोड़कर जा रही हूँ । मैं पुत्रों और पति—दोनों को नहीं अपितु इनमें से केवल एक को ही प्राप्त कर सकती हूँ जरा का यह शाप वास्तव में बड़ा मर्यंकर है । इसकी कल्पना-मात्र ही मर्यंकर एवं असहनीय है । जाने से किसी का नाप्य किसी को भी ऐसी बोर विपत्ति में न डाले ।

(उबसी और चित्रलेखा का प्रस्थान)

## पंचम अंक

स्थान—पुकरवा का राजप्रासाद (पुकरवा जर्बधी महामात्य राजपण्डित राजज्योतिषी धर्म समासद परिचारक धीर परिचारिकाए मयास्थान बैठ या पड़े। राजा की मद्रा धार्यत सिगताप्रस्त। धारम्भ में कई क्षणों तक कोई कुछ नहीं बोसता।)

महामात्य

देव ! समा

धाने वाली है ?

शाब्दार्थ—कुपुड—कौपुक तमासा, उत्सुकता। महामह—महान महिमा से मुक्त। मूक—बुपभाप। विपण्यु—दुःखी। धनस—स्विर घास्य। कसरोर—सुख देने वाला संवाद। निरपम्भ—स्वम्भ रहित। सल्य—हतप्रम हैरान।

प्रसंग—पुकरवा के राजमहस में दरबार तमा हुआ है। पुकरवा जर्बधी महामात्य राज-पण्डित राज-ज्योतिषी धर्म समासद तथा परिचारक धीर परिचारिकाए मयास्थान बैठ या पड़े हुए हैं। राजा की मद्रा धार्यत सिगता प्रस्त है। धारम्भ में कई क्षणों तक कोई कुछ नहीं बोसता। सल्य में महामात्य ही राजा से विगता का कारण पूछने हुए कहते हैं—

धर्म—हे देव ! धान मेरे बित्त में एक जिजावा जापी है जिसके लिए धान मुझे समा करे। धान में धपने महामहिम राजा के विगता नेत्रों में किसी गनीम विगता को बमड़ते हुए देल रहा हूँ। महाराज जब से (दरबार में) धाए हैं तब से कुछ बुप दुःखी तथा धनस दृश्यमान हो रहे हैं। यह महाविग्यु मुल देने वाले मबुर स्वर को रोक कर धपनी सहृणों को निस्वग किए इस प्रकार धपने में क्यों दूब रहा है। (धान यह है कि धाप महाविग्यु के समान हैं। धापके बित्त में धामम्भ की हिलोरे मबुर मुजम किया करती थीं। वे धान घास्य हो गई हैं तथा धाप धपने में ही दूब जाता चाहते हो)। यह दूरम देखकर सम्पूर्ण समा हतप्रम है। (इपया हुमें बताए कि) कीम ऐसी नयंकर धापदा है जो हम पर धाना चाहती है।

बित्तप—'समुद्र का धपने में दूब जाता' बड़ी मयंकर धापदा का

सूचक है क्योंकि यह वैज्ञानिक सत्य है कि जब कभी समुद्र सहरों को धपने का स्तर में समेट कर धाग्त हो जाता है तब यह समझना चाहिए कि निकट भविष्य में समुद्र के अन्दर महाप्रलय आने वाली है। इस प्रकार कवि ने अंक के प्रारम्भ में ही आने वाली किसी भी विपदा की पाठकों को सूचना दे दी।

### पुरूरवा

कृतज्ञ करें देखा है।

अर्थार्थ—अर्थका=सूर्य। मरद्गण=देवता। स्योम-मण्डल=आकाश-सोक। अमिपुत=निकामे हुए। सोम=रस। भुवन=सोक संसार। प्राह्णनीय=आहुति देने योग्य। अमल=अमि। अमीष्ट-वर्षी=इच्छित वर्षा करने वाले। ममवा=इन्द्र।

प्रसंग—बुल का पहाड़ टूटने से पूब राजा पुरूरवा राष्ट्र की मंगलकामना के लिए सभी देवताओं से करबद्ध याचना करता है—

अर्थ—सूर्य देवता हमारा कल्याण करें। देवता आकाश-सोक से उतर कर निचोड़े हुए सोमरस का पात्र करने के लिए हमारी जपठी पर आते रहें। अर्थात् हमारी धरती इतनी रसमयी हो कि देवता यहाँ पर रीझ-रीझ कर आएँ। वरुण देवता यज्ञ में आहुति देने योग्य अमि को सदा प्रज्वलित रखें और इच्छित वर्षा करने वाले इन्द्र की हम प्रार्थियों पर सदा करुणा-बुष्टि रहे। (यह ममलकामना करते हुए अब मैं अपनी चिन्ता का कारण बताता हूँ।) हे सभासदो! इस रात को मैंने एक विचित्र स्वप्न देखा है।

विशेष—(i) अपनी गहन चिन्ता में देवताओं से राष्ट्र की मंगल-कामना करना एक आदर्श राजा की पहचान है जिस कवि ने यहाँ जपस्थित करने का प्रयत्न किया है।

(ii) 'अर्थार्थ' मरद्गण' अमिपुत' तथा 'प्राह्णनीय' जैसे कुछ ठसप शब्द, जो हिन्दी भाषा में पचे नहीं हैं कठिन प्रतीत होते हैं। ऐसे कुछ शब्दों का मोह नाम्य के सहज प्रवाह तथा धाधारणोकरण में बाधक होता है। अतः इनका मन्त्राणाम त्याज्य ही समझकर है।

स्वप्न !

समासद

पुरूरवा

स्वप्न ही

'जागृति है ?

सम्बन्ध—शाम = प्रकाश । छमना = बोला । मुद्रित = प्रकृत । निद्रित =  
 ..या हुआ ।

सर्ष—हे समासदो ! तुम चाहो तो उसे स्वप्न कह सकते हो यद्यपि मेरे  
 धाम्यतर बक्षुओं के सामने धम भी वे ब्रह्म ब्यों के ल्यों बूम रहे हैं । जैसे  
 सुपुष्टि और जागरण क्षितिज के घूमिस प्रकाश में मीने उगईं सत्य बेतन  
 सुरपट्ट तथा स्वच्छ रूप में देखा जा (जैसे ही बिज धम मेरी धाँकों के सामने  
 नाच रहे हैं) ।

(राजि को जो स्वप्न देखा जा ) उसकी कथा बड़ी विरामकारी है । (मैं  
 नहीं जानता कि) वह मानस की छमना थी या मेरे भविष्य के प्रकृत पृष्ठ,  
 बिनका धामे बलकर उद्घाटन होने वाला है उनको मैं राजि को छोटे धम्य  
 भविष्य में आकर देस धामा हू ।

यह कौन बता सकता है कि राजि को मीने जो स्वप्न देखा जा वह  
 परहीन है या जो कुछ मैं धम देस रहा हूँ वह स्वप्न है ? मैं नहीं जानता कि  
 दे लिए यह जागरण स्वप्न है या स्वप्न जागृति है (यद्यपि यह रहस्य तो  
 भव्य के मुद्रित धक ही खोलेंगे) ।

बिज्ञय—(1) सम्येह धर्मकार ।

(11) प्रथिम तीम वरितयों में पुरूरवा के हृषम का धम्यरंग बड़े सजीव  
 रूप में प्रकृत हुआ है ।

महामारय

बड़ी बिसलज

जायें ।

सम्बन्ध—बिसा = मिटाया । जमीनित = कुसी । बुधिरय = बुटी बिगुटापों  
 से भरा । धरिब्रह्म = धरिबनीकुमार ।

सर्ष—धम्मुत नाठ है । स्वामी धामने एसा नया कुछ देस लिया है  
 बसके कारण स्वप्न और जागृति को दूरी कम हो रही है, तथा बर्तमान पर

विषय की परछाई पड़ रही है। भविष्य की बम्ब हुई पोषी के पृष्ठ मुझे से  
 कर रहे हैं धर्मों जिससे भविष्य कुछ स्पष्ट सा हो रहा है। हे स्वामी !  
 क्या करके प्राय मुझे बतायें कि बुद्धिबताओं से रूण बह क्या सपना था। जो  
 भविष्यनीकुमारों की हृषा से जो भी विघ्न होंगे दूर हो जायेंगे।

बिरोध—श्री वैदिक देवता। ये सूर्य के प्रीतस पुत्र माने जाते हैं। इनकी  
 माता एक अम्बरा की जिसने भविष्यनी का रूप धारण कर लिया था। यह  
 सूर्य ने भी अम्बरा का रूप धारण कर लिया। उनके सहवास से त्रिभुवन  
 कुमारों की उत्पत्ति हुई वे भविष्यनीकुमार कहलाये। ये चिरयुवा चिरभुम्बर  
 अम्बरा तेज युवत, लोकोपकारक एवं देव चिकित्सक थे। ये अम्बरा के पूर्व विद्यारण्य  
 अम्बरा होकर आकाश में विद्यारण्य करते हैं। सम्भवतः इसी आकार पर  
 सूर्य के पुत्र के रूप में कल्पित कर लिये गये हों। निम्नताकार इन्हें 'स्वर्ग  
 या पृथ्वी' धीर दिन तथा रात्रि का प्रतीक मानते हैं। बौराजिक कथाओं  
 आकार पर लड्डूक तथा सहदेव की उत्पत्ति इन्हीं के घरा से मानी जाती  
 है। इन्होंने प्रति बृह अम्बरा अम्बरा की चिर-योवन प्रदान किया था जिससे  
 अम्बरा अम्बरा ने इंद्र से कहकर इन्हें देवताओं का यज्ञ-भाग वित्तवाया  
 जिससे चिकित्सक होने के कारण भविष्यनीकुमार बंभित रहते थे।

—हिन्दी कथा कोष पृष्ठ १०

### पुम्बरवा

कौन-निकासेवा।

अर्थ—बड=बैसा हुआ। अतः=प्रकृति के के नियम जिससे सृष्टि  
 के सम्पूर्ण प्रक्रिया गतिमान होती है। आरम्भ=माय्य नियति। सौम्य=  
 सुन्दर, उदार।

अर्थ—प्रस्तुत अवसरण में पुम्बरवा प्रकृति के आरम्भ नियमों की ओर  
 केंद्र करते हैं और मायी को प्रवृत्त बताते हैं।

अर्थ—महाभाग्य। कौन से विघ्न की तथा कौन से विघ्न का बाध प्राय  
 पड़ रहे हैं। जो कुछ भी होगा है घपसा होने वाला है। सब अतः नियमों के  
 अन्तर्गत में रहना से बचा है।

उद्योग बीसा भी चाहो कह सकते हो । जो बीज यहाँ गिरा है वह प्रथम ही वृक्ष बनकर चयेगा ।

किन्तु घाता है ।

शब्दार्थ—गर्त=गढ़ा । गङ्गार=कुप्ता । प्रवीण=तेज कुपत ।

अर्थ—लेकिन मैं किसी प्रकार भी इन नियमों के द्रव्यों से समझीत नहीं हूँ गहनतम अणु के अंतराल में गभीर पुष्प में भी यदि मुझे जाना पड़े तो मैं उसी प्रकार तेजकुपत होकर जानूँगा जिस प्रकार अस्तित्व के विभिन्न मोकों में मैं अनेक बार भूम हुआ हूँ । मेरा यह मोन धारण करना अथवा प्रतीक नहीं है अपितु मैं तो यह विचार कर रहा हूँ कि जब भी बार मेरा सविष्य कौनसा मेरा धारण कर आवेगा ।

महामात्य

महाराज पृथ्वी पर ?

शब्दार्थ—उत्कृष्ट=निश्चय द्वारा । प्रसाद=दृष्टा । धारा=गम ।

अर्थ—वस्तुतः महाराज आपका मन बलघाती है आपका अन्तर सुदृढ़ एवं बृह निश्चयों से आपूरित है । जिस (पुरुष) की बाहों की कृपा से श्रेष्ठता निश्चित रहत है उस अर्थ के लिये धाकाध अथवा पृथ्वी में कहीं भी मन नहीं है ।

प्रभु च्छते हैं ।

शब्दार्थ—धमीक=निबर । निष्पण=स्वित ।

अर्थ—हे स्वामी ! आप अथ से मुक्त ही रहे किन्तु फिर भी मेरी यह आशंका की विज्ञासा है कि वह स्वप्न गया या निरुपकी याद अब तक आपके प्राणों में अर क्रिये बैठी है ।

मन के अंजन लेख (कार्य-कलाप) निद्रा के लम्बे विनपट पर अन्त की रेखा के समान बनते बिगड़ते च्छते हैं ।

विशेष—जिस के समय अथवा आपुतावस्था में मन में प्राये विचार ही अर्थों में घाते-आते च्छते हैं एसा विचार सभी मनोविज्ञानवेत्ताओं का है ।

पुरुष

देखा आतरता से ।

शब्दार्थ—अभ्य=गया । अट-आरप=बड़ का पैर ।

प्रसंग—प्रस्तुत पंक्तियों में पुकरवा धपन स्वप्न का बखान करते हैं ।

धप—मैंने स्वप्न में देखा कि मारे प्रतिष्ठानपुर में कुछ कानाहण छाया हुआ है । सोय कहीं से एक नवीन धरदरय का बृज से धाये हैं और उमें वही बाहर के धायन में टोपकर (तयाकर) बड़ जाब से तथा बिम्बा स प्रपीकित व्यपता से सींच रहे हैं ।

य भी नहीं हो ।

शाम्भार्य—शीरषट्=दूध का बड़ा । उत्कृष्टि=उत्कृष्ट । धिरवा=पीसा । नागर=नगर-निवासी । नवागत=नवामन्तुक । शौरमंडल=सूर्य-मंडल ।

धर्ष—धिर मैंने (सपने में) देखा जैसे मैं भी दूध का एक बड़ा हाथ में मिय उस्तुक होकर वहीँ धा गया हूँ और उम नवीन बन्-बृज को दूध से सींचकर वहीँ बड़ा हो गया हूँ । लेकिन मेरी धोर कोई भी नगर-निवासी दुष्टि नहीं दे रहा है मामो मैं किसी धन्य सुषमइत से धाया हुआ गवागन्तुक बीब हूँ जिससे उम नगर-निवासियों को वाई जान-गहवान नहीं है ।

तब देखा गया है ।

धधार्थ—मदकस=मद से मस्त । धरिप्ट=दृष्ट-पुष्ट ।

धर्ष—तभी मैंने यह भी देखा कि मैं एक धरमस्त धप्ट धमिप्ट हावा पर बैठा हुआ प्रतिष्ठानपुर से बाहर किडी धयध में पहुच गया हूँ । किन्तु ज्योंही मैं उम जंपस में हापी की पीठ से नीचे उतर कर देखता हूँ तो मध सब नूना नगर धाता है और मुझ वहीँ छोड़कर बोती से मध हापी भी कहीं धायध हो गया है ।

एककी धारा सी ।

शध्धाय—एकाकी=धटेना । नि'यग=सम रहित एकाकी । निर्वन=मून । बधुधध=नदी का नाम । धुधधु-धारा=धधुधों की धारा । पुधामा=महधि धुधु की स्त्री तथा व्यधन की माता ।

धप—संगी धाधो हीन धधैना मैं मुनयान जगल में धटधठा हुआ उम स्थान पर जा पहुचा जहाँ व्यधन धधि के धाधम के नाम से बधुधध नदी पुतोमा की धीधों के धधुधों की धाध सी बहती है ।



## बिनकर और जनकी उबरी

विशेष—ईश्वर द्वारा पीड़ित होने पर 'अमृतरा पुसोमा के प्रासुधों से निकली थी। पुसोमा' महर्षि भृशु की स्त्री तथा अ्यवन की माता थी। यह ईश्वानर की कन्या थी।

उबरी

अ्यवनाधम ! जल दे।

धम्मार्थ—हस्त—मारी गई।

धर्म—(बया बहू ! ) अ्यवनाधम ! हाथ मारी गई ! हे धपासे ! मुझे एक घूट भर जल दे दे।

(धपासा बबरा कर पानी देती है !  
उबरी पानी पीती है।)

पुसुरवा

वेदि ! धाप लागता था।

धम्मार्थ—उब—पेड़। बसत—रुपड़े। कुप्णसार मूय—कासी बारियों वाले हिरण। धमय—निडर। बीबि-कु बो—सताधी के बीच में बने रास्तों। मेवमग्द—बाबल के गर्जन के (समान)। बट—बड़ा। प्रत्यथा—बनुप की बोटी। घूमव्य—गरिमासय।

धर्म—वेदि ! धाप सहम क्यों गई ? मैं सत्य कह रहा हूँ वह अ्यवनाधम ही था। अ्यवन ऋषि कुश के ऊपर से धपने सुबे हुए बसत उतार रहे थे। इयाम बल की बारियों वाले हिरण कर्जों के बीच बनी पगडंडियों से निडर होकर बिचरण कर रहे थे। मोर उट पर लड़े होकर बाबल की मजन के समान बड़ों को मग्ने की हुय हुय ध्वनि को कान मया कर चुन रहे थे और पास ही एक दिव्य बासक धपनी बीर भुजाधों में अनुप को बारण कर प्रघान्त मत से प्रत्यथा को मग्ने रहा था। हाथ उबरी ! वह बालक मुझे कितना परिमापाती मय रहा था इसका मैं क्या बलण करूँ ? (मर्पावि वाली से उबरी सुमम्यता का बर्णन नहीं हो सकता)।

बिजय—(i) उपोवन के छात्रिक बाठावरण का सजीव चित्रण।  
(ii) 'उपमा' धर्मकार।

उर्वशी

दुःखिपाक पड़ेगा ।

शब्दार्थ—दुःखिपाक = कुफल दुष्परिणाम ।

शब्द—हाय ! यह कैसा दुष्परिणाम है ! कितनी दुर्भाग्य की बात है ! हे भगवन् ! सा थोड़ा सा जल भीर दे । मेरे प्राणों में (रहस्य की ओ) ज्वाला भरक उठी है वह कण्ठ में घाकर घटक गई है । (पर्याप्त भरत घाप की बटमा ओ अनन्त काल से मेरे प्राणों में सोई पड़ी थी, वह मात्र इस स्वप्न को सुनकर पुन एक प्रग्व्यमित ज्वाला के समान जाग उठी है मगर दुर्भाग्य की बात है कि मैं इसे अपने भियतम को बतला भी तो नहीं सकती) । मुझे ऐसा भयता है जैसे आज सम्पूर्ण आकाश में महानाश का नृत्य होया ।

विशय—(i) उर्वशी के भागविक घन्टडंड का चरम विकास ।

(ii) 'ज्वाला' शब्द का सुन्दर साधुलिक प्रयोग ।

(पानी पीती है ।)

पुलरबा -

देवि ! रहा था ।

शब्दार्थ—अकारण = बिना किसी कारण के । मौत = मरी हुई । निर्वन्त = नाश । स्वप्न = रम । अज्ञान = ज्ञान उचित ।

शब्द—हे देवि ! घाप बिना किसी ठोस कारण के स्वप्न से मैं क्यों उर रही हो ? जब मैं तुम्हारे साक हूँ तो मना बिचरन की क्या मजाल ओ हृदयारे पात भी घटक जाय । क्या तुम भूल गई कि मेरा रम अज्ञान में भी अज्ञान यति से जड़ता है । (अतः भवयाने की आवश्यकता नहीं पड़ती थीर आकाश में जहाँ पर भी प्रलय के आसार देखूया वही तुम्हारी आंतों के समस्त धनुषों में बाहि बाहि मचा डूया । इतलिये भवराशो मत ! ) म तो केवल अविष्णुमार के तेज का वर्णन कर रहा था ।

उर रहने - सिता हो ।

शब्दार्थ—उर रहने = जैसा है । परिपुष्ट = ठीक । मय्य = मपर । अज्ञान = पतली । दुःख = पीठी । प्रसन्न = सटकती हुई । उन्नत = ऊँचे स्थान

अर्थ—सान्त हो जाइए । छिड़, ईदमम ज्योतिषो बिन्दुमना हिंसाव-विताम में मग हुए हैं । देखें वे स्वप्न का क्या फल बतलाते हैं ।

बिन्दुमना

हाय इसी नहीं है ।

शब्दार्थ—निमित्त = हेतु । सिधे । गिरा = बाली । मूपा = भूट । बिन्दु = मूर्त्त ।

अर्थ—(गलना करने के पश्चात् ज्योतिषो बिन्दुमना कहते हैं—) हाय क्या मैं यही बिन्दु देखने के लिये जीवित बचा था ? महाराज ! यदि गलना के आचार पर मैं सत्य कहता हूँ तो मेरा कहा हुआ भूट छिड़ होता है और यदि भूट कहता हूँ तो मन में यह विचार आता है कि आखिर सत्य बोलकर अब तक मैं जो मान पाता आया हूँ वह क्या मूपा बोलकर पा सता ? अतः हे देव ! मुझ मूर्त्त को धाम मौन ही रहने दो क्योंकि गलना के आचार पर जो कुछ मुझे शक रहा है उसका मेरे सामने कोई भी आचार नहीं है ।

बिन्दुव—काव्य में माटकीव उत्सुकता पैदा करने के लिये मूल बात को छिपा कर उसके लिये पाठक में उत्सुकता पैदा करना ।

पुस्तका

कितना है कीन कहेगा ?

शब्दार्थ—प्रहेलिका = पहेली । अलकटा = बिल्ला ।

अर्थ—(बिन्दुमना की बात से उत्कर्षित एवं उत्थित हुए पुस्तका कहते हैं—) कितना आचार कुत्त है ? मणित का क्या फल है ? (अन्धी बटाइये करना) यह पहेली चित्त में और धार्मिक व्यग्रता उत्पन्न कर रही है । आपकी जो कुछ भी कहना है सो निस्संकोच होकर कहिए । जाह मणित भूट हो मगर आपको कोई भी भूटा नहीं कहेगा ।

बिन्दुमना

बचन करें पहना कर ।

शब्दार्थ—प्रदग्धा-पीप = संन्यास-पीप । किरीट = मकूट ।

अर्थ—हे धर्मिदेव ! मेरा कल्याण करें ! मन्त्रा महापज ! मैं सब सब कहता हूँ ध्यानपूर्वक सुनिये । आपको जन्म-कृष्णनी में जो धर्मित संन्यास

योग पड़ा हुआ है वह आज ही अपना फल दिखाएगा। क्योंकि आपकी प्राण-रक्षा में लालि ने प्रयत्न किया है और सूझ में मगल ग्रह पड़ा हुआ है। इसके प्रतिरिक्त जन्म-कृष्णों में जो अम्य योग है उनके अनुसार आप अपने बीर-बेटे को राज-पाट बन-बाम और अपना मुकुट सीप कर आज उध्या तक प्रवर्जित हो जायेंगे।

पर विस्मय सुखकर है।

शब्दार्थ—अगम = बापल (आधार) रहित। अपकीर्ति = अपयथ।

अर्थ—सेकिन आश्चर्य की बात यह है कि वह (अधिकारी) पुनः आपके यहाँ कम वेरा हुआ है? (बिबस होकर) पत्नी अच्छा है अगर मेरे मुकुट पर कासिल पुत्र था। सोच रहेगे कि कुछ हो जाने पर बिबममा की विद्या मर-ययी (मगर) आज वाली इस आधार-रहित विपदा से तो मेरे लिये यह अपयथ कही क्यावा सुखकर है। (भाव यह है कि मेरा अपमान तो अक्षितगत है इससे अम्य किसी पर असर नहीं पड़ता सेकिन राजा के प्रवर्जित हो जाने पर तो सारे नागरिकों पर बुद्ध का पहाड़ टूट पड़ेगा। अथ भगवान मेरी कही हुई बात को मूठ कर दे जिससे प्रजा तो सुख से रहे)।

उबरो

आह! खूब नहीं है।

शब्दार्थ—सरस है।

अर्थ—आह! (मरत के) अथकर धार! तुम्हारी क्यावा बहुत प्रबल है। अरी आपसे। मैं इसमें जसी जा रही हूँ। अस्थी से मुझ पोड़ा सा पानी दे। हे महापुत्र! (मैंने इस धार का उद्धारोद्घाटन आपके सम्मुख नहीं किया। मुझे क्षमा करें क्योंकि) मुझ किस्मत की मारी का इसमें कोई बोध नहीं है।

(पानी पोती है। बाह्य अनुभूत होने के साथ।)

पुत्ररवा

दिसका धार? लक्ष्मी है?

शब्दार्थ—बिबम = अक्षितगत। बिपिन = कानन। पुटी = नयनी।

पार्य—(पुकरवा खूब होकर कहता है—) (तुम) किसके प्राप (का धारणा कर रही हो ?) कहां की उभाता (तुम्हें बता रही है ?) धीर है कर्मगो ! (तुमने) गौन सा दोष (किया है ?) प्राप बार-बार दुन्नी होकर अपने प्राप से हठभासी क्यों कह रही है ? पञ्चमायन के एकाग्र काल में हम किसने धारणा रूढ़ते थे ? इसलिये यदि (प्रापवत्) यह नमरी छूट भी गई (तो पिता की बरा ब्रात है ?) हम दोनों बही पर जैसे बनें । तुम तो पता नहीं किस प्रकाश बिन्दा में बूझी जा रही हो । (जय ठाणो) क्या तुम्हें छोड़कर (किसी की मुख्य पर) मेरी यह देह जीवित रह सकती है ?

(प्रतीहार्ये का प्रवेश)

प्रतीहारी

बय हो नमा है ।

धर्मार्थ—अरत है ।

धर्म—महाराज की बय हो । अतः से सुकन्या नाम की एक ठापसी धारी है । उसके साथ एक बहुरापी भी है । वह स्वामिनी उर्बरी से मिलना चाहती है ।

पुकरवा

सती सुकन्या राजा को ?

धर्मार्थ—सती = पतिव्रता । कीर्तिमयी = यशस्विनी । धारिणी = स्त्री । पुत्रोदय = पुत्र के फलित होने ।

धर्म—(क्या) पतिव्रता सुकन्या (पधारी है ?) महर्षि अथन की यशस्विनी स्त्री को धार-महित से धारो । मेरा स्वयं धर्म फलित हुआ था समता है क्योंकि ममा शिवा पुत्र्य कर्मों के उदित हुए संजन व्यक्ति राजा को कहा मिलते हैं ?

(सुकन्या और धामु का प्रवेश ।)

पुकरवा

इलापुत्र 'गुदकुल में ?

धर्मार्थ—पत्नी में = बरतों में । महर्षिसत्तम = ऋषियों में श्रेष्ठ । बर्भमती = शिवात पर है ।

धर्म—मैं इसापुत्र पुरुषवा पापक बरणों में सावर नमस्कार करता हू । हे देवि ! महपिष्वेष्ठ (अथर्व) की तपस्या तो ठीक चल रही है न ? भ्रामर में तो किसी प्रकार का विघ्न नहीं है ? धरम्य-भुक्तुल में तो सब कृशत-सम है ?

सुकन्या

जय हो पिता हैं ।

शब्दार्थ—पितृ-मेह—पिता के बर । सुयोय=अथर्व । ग्यास=धरोहर, अमानत । सक्षेम=कृपमतापूर्वक ।

धर्म—(राजा से—) राजा आपकी जय हो । बहों पर सब कृशत हैं । (उर्वशी से—) उर्वशी ! प्राय अमानक ही महवि कहने मये कि धायु को प्राय ही अपने पिता के बर जाना है । अथ प्राय ही जैसे-जैसे सामकाल उक्त इसे अपने माता-पिता के पास पहुंचाना होगा ।

इसमिये मैं इसे अमान ही से धायी क्योंकि न तो पूर्व तुजना देने का ही कोई अथर्व या धौर न ही इसको रोक्त रक्षण का कोई उपाय था । हे सखी ! सोमह वर्ष पूरा तुमने मुझ जो बरहर सौंपी थी उसे मैं कृपमता-पूर्वक तुम्हें सौंपा रही हू ।

(धायु से—) बेटा ! यही तुम्हारी मां हैं और ये देव तुम्हारे पिता हैं इन्हें प्रणाम करो ।

(धायु पहले उर्वशी को फिर पुरुषवा को प्रणाम करता है । पुरुषवा उसे छाती से लगा लेता है ।)

पुरुषवा

महावज्र ! यथा है ॥ पृ० १४१ ४२ ॥

शब्दार्थ—अथर्व=न बटने वाली । धःस्य=सतम पुत्र । वाता=रक्षा । पु=पुत्रपरब । अमृत-अन्न=रसदिव्य वादत । अन्नप्र=धूय वादत-रहित । वीरवर्णो=मकर के निवासियों । अवाच=कमी न करने वाला । संज्ञा=श्लोच बंशम् । बिलिष्ठ=पापस । धार्य-कंद=धान्य के फल । धानोक=प्रकाश ।

अर्थ—बड़े आदर्श की बात है। यह तो ऐसी बटमा मटी जिसके मटने की कभी कल्पना भी नहीं थी। ईश्वर की भीला भी कितनी अपूर्व गर्व प्रभुमूत है। धरे। यह सब ऊछ सचमुच ही सत्य है या मैं फिर कोई स्वप्न बैस रहा हूँ।

धन (उर्वशी से—) हे देवि। देखो धन में पुत्रवान् हो गया। यह मेरा पुत्र है। मेरा भी एक इस भरती पर परपत्य धारण कर धन्य के चुका है।

(धनने धन से—) अकस्मात् ही यह इकट्ठा किया हुआ पुण्य कैसा प्रकट हो गया? मेरे सुने हृदय में यह रस-सिक्त बाबल कैसे बरस पड़ा?

(प्रतीहारी से—) धरे, सारे नगर में घोषित कर दो कि मैं पुत्रवान् हो गया हूँ (और इस लुपी में) जो जहाँ पर है उसे मेरे पास आने की आज्ञा दे दो।

सजाने का दरवाना खोस दो और नगर-निवासियों से कह दो कि मैं धारकर बितमा जाँहँ उतना सुबण मैं सकते हैं।

ऐस बंस के महान मय पर धन नया सूर्य उदित हुआ है। धन पुत्र-प्राप्ति के इस अनुपम एवं धुम धमधर पर निर्वाण गति से उत्सव होने दो।

(प्रसन्नता से विह्वल होकर—) मैं पुत्रवान् हूँ। धरे, धनो। कोई मुझे संबाओ। मेरी बैठना को होस म साधो। नहीं तो मैं अधिकस हय से पागल सा हुआ जसा आ रहा हूँ।

(पुत्र से—) धरे मेरे पुत्र। तेरा स्पर्श धमूत के समान है। मेरे नेत्रों के लिए धान्य-अंड है। प्राणों का प्रशास है। आह! धन तक तुम नहीं छिये हुए थे।

(उर्वशी से—) हे देवी! यह ऐस बंस का दीपक कब उत्पन्न हुआ था? और तुमने निन्दुर बनकर धन ठर इसे क्यों छिना रखा था। हाय। (गुम्हारे न बताने से) मैं कितने बड़ मुय की ओपने स बहित रह गया हूँ।

उर्वशी

धन से — पावक से।

धनार्थ—पुत्रवृत्ति-दश=पुत्र की इच्छा का दश। धनिय=दश के निमित्त।

पावक = धनि बीर्य ।

धर्म—हे देव ! पात्र म सोसह वर्ष पूर जब आप पुत्रोष्टि-यज्ञ के निमित्त अपना पावन एवं विशिष्ट जीवन बिता रहे थे उस समय मुझ में आपके द्वारा स्थापित तत्र-पुत्र बीर्य से अचानक रूपि की तपोभूमि में मने आयु की अगम दिया था ।

किन्तु छिया जाता है ।

श्यामार्थ—मुत्र अणु = पुत्र की इच्छा रखने वाले ।

धर्म—किन्तु हे देव ! पुत्र की इच्छा वाले आपसे मने इस अहस्य की क्यों छिया कर रहा था इसके उद्घाटन का समय अब मेरे पास नहीं है क्योंकि ऐसा लग रहा है जैसे कोई मेरे प्राणों को मोह के अकुच से बंध रहा है और मुझ अबरहस्ती इस अमती से कहीं दूर खींच कर लिए जा रहा है ।

पुत्ररत्ना

अच्छा जो कड़ा हो ?

श्यामार्थ—अपमानु = घरीरधारी ।

धर्म—अच्छा जो रहस्य है उसे रहस्य ही बना रहने दो । अपने इस रहस्य को उद्घाटित करने की अभी कोई जन्मी नहीं है क्योंकि तुम्हारा यह रहस्य घरीर धारण करके मेरे सामने ही कड़ा हुआ है ।

समासवो ! गया था ।

श्यामार्थ—यु गव = घट । उदप्र = व्याकुल । अक = गोर ।

धर्म—हे समासवो ! कल रात स्वप्न में मैंने इसी घट बीर को बन में प्रत्यक्षा मांजते हुए देखा था । घोर व्याकुल होकर ज्योंही मैं इसे अपनी गोद में भग्ने क लिए इसको तरफ खींचा था तब यह बुरट मुझे छानावा देकर सता कुओं में मुप्त हो गया था ।

किन्तु, सात ! अचानक है ।

श्यामार्थ—अमुप्त = सोए हुए ।

धर्म—किन्तु हे सात ! अब भला तुम मरे प्राणिगण-पात्र से कैसे प्राप्त सहीये ? क्योंकि य बुद्ध मुत्र-अणुन प्रमुत्तावन्वा के नहीं अणिपु जये हुए थे हैं ।



घामु

अब तक विभा है ।

शब्दार्थ—विमुक्त = समय । धक = थोड़ा । तात = पिता । निमित्त = हेतु, लिए । उपीपण = उपवास व्रत ।

धर्म—यह क्या कम विपत्ता की बात है जो मैं अब तक घामकी थोड़ से प्रलय रहा । हे तात । (मसा बिचारिए) घामकी (स्नेहमयी) छाया छोड़कर घसा मे क्रियके लिए घामु सा ? अब से जन्म ग्रहण किया है तब से धर्म का पालन करना ही मेरे प्राणों का व्रत रह्य है । हे पिताजी ! बछपि अब तक मुझे तापसी मां (सुकम्पा) का प्यार मिलता रहा है लेकिन फिर भी मेरा हृदय (माता-पिता के धक में समा जाने की) भूक और व्यास से बहुत विकल है ।

पुस्करबा

बसा दिया - पाते है ?

शब्दार्थ—दूषित = प्यासा । शीर = दूध ।

धर्म—हे मेरे बाब । घपनी क्या कह कर तुमने तो मुझे रसा दिया । (उर्वशी से) हे देवि ! (देखो) मां की छापी का दूध तथा पिता का स्नेह न जाने से हमारा मान क्षिणत प्यासा रहा ह ?

[उर्वशी प्रसन्न हो चुकी है ।]

महामात्य

महाराज ! स्वामी के ?

शब्दार्थ—मरण है ।

धर्म—महाराज ! वह धामधर्म की बात है ? देखी उर्वशी जो अब तक घामके पाठ लड़ी थी, वह वहां पर नहीं है न जाने कहाँ जाती गई ?

पुस्करबा

कहीं जावपी ! धामे को ।

शब्दार्थ—मान्द-चित्त = उदास । स्यात् = धामद ।

धर्म—क्यों ? प्रता इस धमित धामधर्म को छोड़ कर वे कहाँ जावपी किन्तु धामी ने कुछ बहास तथा पकी हुई ही समझी थी । जाकर देखो धामद

पाड़ा सा शीतल, स्वच्छ एवं प्रसन्न भावु में बूमने के लिए प्रसन्न रूपन में बसी गई हों ।

सुकन्या

यथा यत्न सुयमा से

धाम्धार्य—सरल है ।

धर्म—धर्म धारे प्रयत्न करने बकार है क्योंकि उर्बेदी राजमदन में नहीं है । वह पापके महत् प्रम के धार्यंग में निवृत्त होकर जहाँ स भूतल पर धार्य बी नहीं पर पुनः सीट गई । धर्म बसुवा बिर-जवान लगते धाम शीतल से बंधित ही गई ।

महाराज विद्या था ।

धाम्धार्य—बसुपम = धर्म प्रम । विद्योक्त-दुःखमा = यत्न बित्त बसी । कृपित = बोधित । बाबरस = धर्मकर ।

धर्म— हे महाराज ! उर्बेदी सामान्य नापी न हाकर एक प्रयत्न भी अब उसका धामने बसुपम हुआ अब उस बंधन-दुःखमा ने किसी कारण से महर्षि भरत को बोधित कर विद्या धीर अब स्वर्ग भरत ने ही उसको धर्मकर धाम विद्या था—

“भूत गई धन्य को ।”

धाम्धार्य—सरल है ।

धर्म— हे उर्बेदी ! जिसके स्वरूप-बिन्दन में बूझ कर तुम धामने कर्तव्य तक को भूत गई हो जाओ तुम भूतल पर जाकर उसी की प्रेयमी बनो किन्तु, गृहस्थी के सभी मुख तू नहीं पा सकेगी । पुत्र धीर पति दोनों को तुम नहीं पा सकती । या तो तुम पुत्र को ही पा सकती या कबस धामने पति का ही सुख भोग सकती । हे ! धर्मकारिणी । वह भूत भी तू केवल धमी तक प्राप्त कर सकती है अब तक वह तुम दोनों के परस्पर संयोग से उत्पन्न पुत्र को नहीं देख पाएगा ।

बही धाम पिता से ।

धाम्धार्य—उद्यत = धीर । परिजन = बन्धुधर्म ।

धर्म—धाम बही धाम धमना धम दे यथा धीर उर्बेदी पुनः इन्द्रपूरी में बनी गई । हे महाराज ! (धाम सोचते होंगे कि यह दूर्य देखकर मुझे

विस्मय नहीं नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि मैं तो इस बटना के लिए पहले ही आपने को तैयार करके माई थी क्योंकि मैं जानती थी कि आपके द्वारा 'धायु' के बैसे ही भरत-दास पञ्चन कर उठेवा और उर्वशी इस पृथ्वी पर नहीं रहेगी। लेकिन अब आप ही सोचिए। धाकिर धायु को हम अब तक उसकी बातें वंश सीमान्त गोत्र तथा बान्धवों एवं पिता से भ्रमण रख सकते हैं ?

हुमा बही प्यासा है।

सम्भार्य—सरस है।

धर्म—जो कुछ पूर्वनिश्चित था वही हुआ। भय है महापञ्च ! इस विषय पर प्राक्निश्चित करना धर्म है। अब तो जो कुछ आपसे धायु मांग रहा है वही सोचिए। उच्युक्त ही इस बेचारे का हृदय बहुत व्यासा है।

(पूरुखा धायु से भ्रमण ही जाता है)

पूरुखा

बनी बनी ? ममता थी।

सम्भार्य—सरस है।

धर्म—तो क्या उर्वशी स्वयंसीक को बनी गई ? मेरे लिये सब सुनसाम हो गया ? मैं बिरही बन्धित रहूँ पमा ? देवों को मेरे लिये सब बसनी ही ममता थी।

साधो मेरा बापों की।

सम्भार्य—नगन-जयी—स्वर्ग को जीतने वाला। स्वयं—रथ।

भ्रमण—उर्वशी के बसे जाने पर पूरुखा का पीरय देवों के प्रति बिरोह टर उठता है और यह स्वर्ग में देवताओं को परास्त करने के हेतु जाने को उत्सुक हो उठते हैं।

धर्म—मेरा अनुप साधो और प्राकाश को जीतने वाले मेरे रथ को लता हो। आज देवताओं का भिन्न नहीं भविष्य धनु बनकर मुझे हृत्पुत्री में जाता है और यह दिखाना है कि किसका ठेक अधिक प्रबल है—भरत के याप प्रकटा पूरुखा के पीरय बापों का ?

कहाँ बाधों से ।

शब्दार्थ—रत्नसानु = रत्नों वाले पर्वत । कनक-कदणु = सोने की पुष्पा ।  
प्रलय-दीप्त = प्रलय की तरह प्रज्वलित ।

धर्म—देवता मेरी प्रियतमा उबड़ी को कहीं छिपा कर रखें ? यदि वे उसे रत्नकूट पर्वत की स्वर्ण-गुफा में छुपायें तो मैं उस पर्वत को सोन की बूस बना कर धरती पर बिखेर दूंगा । मनुष्य (पुरूरवा) क प्रलयकारी बाणों से वह सर्वथा छिन्न-भिन्न हो जायेगा ।

दिव के छिपी हूँ ।

शब्दार्थ—दिव = दिन । विपस्तोक = विस्तृत प्रकाश । धरुड = निबिरोध  
अप्रतिहत । शम्पा = बिजली ।

धर्म—यदि मैं (देवता) उस (उबड़ी को) दिव के विपुल प्रकाश में छाये स्वर्ण-मेखों में बिखीर कर दूँ तो मेखों के हृदय में अप्रतिरुद्ध बिजली की तरह मेरा विमान देवताधर्मों के प्राणों को कपाटा हुआ बम जायेगा । और एक-एक मायावी बाहल के पंखों को उमट कर मैं सोच निकालूँ कि उबड़ी कहीं छिपी है ?

साधो 'संगर का ।

शब्दार्थ—प्रखर = तीक्ष्ण । बहिर्मुख = प्राग उमलते । विधिल = बाण ।  
दुष्ट = अभिमानी । मन्वा = इन्द्र । मन्व = मीन । सामन्वण = संगर = युद्ध ।

धर्म—साधो मेरा मनुष्य कहीं है ? यों से प्रखर में बाण मथान कर मैं देवताधर्मों के मन्द-बन में धाग बना दूँगा । जखते हुए तथा धाग उमलते हुए तीक्ष्ण बाण छोड़कर मैं यन्त्रिणी इन्द्र को प्राग ही मनुष्यों के विरुद्ध युद्ध करने का निमन्त्रण भेजता हूँ ।

और सिन्धु मया वा ।

शब्दार्थ—विक्रम = मर्यादक । शून्य = सेना । पराभूत = पराजित ।

धर्म—और यदि देवों ने उबड़ी को बही समुद्र में छिपा दिया तो तुम विक्रम सेना सज्जो । हम प्राग महासागर को मय कर हिता देंगे । हमसे

व्यथित होकर सागर उन सभी मण्डि तथा रत्नों को जपस बैसा, जो बैसों तथा राजसों के समुद्र-मत्पन के समय से अब तक उसमें जुड़ पाये होंगे ।

और उसी निकसा था ।

सम्बार्थ—मोहिनी—मुग्धकारी ।

सर्प—और उसी ममन के जम मे लहरों के घासन पर बेठी एक बार फिर उर्बची सागर से निकल आयेगी । जिस प्रकार वह पहले भी मोर की मनमोहिनी प्रभा सारे लोको में बिपेरती हुई समुद्र के भीतर से प्रकट हुई थी ।

भूल गये \* प्राणप्रिया ह ।

सम्बार्थ—प्रमित—प्रगणित असीम । प्राणमय—प्रलय-काल तक ।

सर्प—आज शायद बेबता इस बात को भूल गये हैं कि मीने घनेकी बार राजसों की प्रकण्ड समुता का सामना कर उन्हें (बैसों को) रण में बिजय दितबाई थी । सेकिम इस बार अब मैं माण बनकर स्वयं उन पर टूट पड़ू ना तो वे प्रसयान्त तक मेरे तीक्ष्ण बाणों की जलन को महीं भुला पायेंगे । और वे इस बात को भी स्वीकार कर लेंगे कि उर्बची जाहे कहीं भी क्यों न उत्पन्न हुई हा वह बैसों की घमण्ड नहीं है अपितु मेरी पुकरवा की पत्नी है ।

उठो—प्यारे हों ।

सम्बार्थ—पटह—नगाड़े । पौर-जन—पुरवासी नगर-वासी ।

सर्प—आज सभी मुँह के नगाड़े बजाकर सड़ाई के लिए सन्नद हो आवें । नगर-निवासियों से कह दो कि उनका ज़िम स्वामी आज स्वयं से पुँह ठान रहा है, जिसे अपने प्राणों का रंभमात्र भी मोह न हो वह मेरे साथ बसे ।

महामारय

महाराज 'गये थे ।

सम्बार्थ—छरम है ।

सर्प—महाराज । आप शान्ति प्राणु करें । आपका यह श्रेय समुचित

महीं है सार्यक ही है। साथ ही बात को लेकर पहले भी देवताओं और राक्षसों में हो पक्ष बारण कर मयकर युद्ध हुआ था और उस युद्ध में भी देवताओं को मुह की खानी पड़ी थी।

विशेष—साथ—यह बृहस्पति की द्वितीय पत्नी थी। एक बार राक्षसों और देवताओं में इसी को लेकर युद्ध हुआ था जिसमें देवताओं की हार हुई थी।

बहु तब सेना में।

सम्बन्ध—दृष्ट=ध्येय।

अर्थ—फिर नहीं होया यदि स्वामी का ध्येय ऐसा ही रहा तो अर्थात् फिर देवताओं को हार खानी पड़ेगी। किन्तु, यद्यपि यह युद्ध मनुष्यों और देवों में होगा फिर भी राक्षस इस अद्भुत-अवसर पर प्रसन्न नहीं रहेंगे वे निश्चय ही देवताओं के विरुद्ध मानवों का साथ देंगे।

मुरता रहे हो ?

अन्वय—मुरता=देवता। अस्त्र=मांस। कृते=बल।

अर्थ—क्योंकि राक्षसों को देवों के मांस से बढ़कर अन्य कुछ भी प्रिय नहीं है और वहाँ मनुष्य और राक्षस एक साथ मिलकर उनसे लड़ने वहाँ उन देवों के पांव किस दक्षिण के बल पर टिक सकेंगे। अर्थात् उनकी पराजय निश्चित है।

इस संघर्ष संघर्ष में।

अन्वय—अपुत्र=अपवित्र।

अर्थ—महाराज ! इस युद्ध में हमारे विजय तो निश्चित है लेकिन हमें यह अन्वय सोचना है कि देवों से बँर बाँध सने पर कहीं हम राक्षसों की अपावन सगति में न पड़ जायें।

नर का किया है।

अन्वय—उपयोग=प्रयोग।

अर्थ—मनुष्य का शृंगार बेवस पीठ मान नहीं है यद्यपि उसकी विजय तो अज्वल अविनाशी ही है। नीतियाँ यही कही हैं कि जिसे भी तुम विजयी

समझते ही उसकी विजय के उन सारे प्रकट धक्का युद्ध प्रयत्नों की बाँध पहले प्रवर्य कर भी जितना प्रयोग उसने विजयोपसन्धि करने के समय किया था ।

बाल पबराता हू ।

शम्भार्थ—सरस है ।

धर्म—महायज मैं देवों से इसीसिये बबरता हू कि कहीं उनकी शत्रुता हमें राक्षसों के हाथों में न डाल दे परन्तु हम कहीं राक्षसों से विजता कर बनुवत्य को प्रहण न कर लें ।

पुकरबा

कायरता बूषण का ।

शम्भार्थ—भीति = भय । लज्जित = मर्षी ; मिथ्या = झूठा । बसन = बस्त्र । दनुज-संगति-कल्पना-जन्म = राक्षसों की संगति की कल्पना से उत्पन्न ।

धर्म—महामन्त्री । यह कायरता की बात है । वास्तव में तुम्हारे मन को इन्द्र के कठोर वचन तथा देवों की भाषा का भय घटा रहा है । लेकिन तुम ऊपर से राक्षसों के साथ की कल्पना से उत्पन्न शेषों के झूठे धावरण को छोड़कर उस भय को छिपाने का प्रयत्न कर रहे हो ।

जब मनुष्य कम है ?

शम्भार्थ—दरक = दहस हिंस जाता बँठ जाता ।

धर्म—मनुष्य जब घासोड़ित होकर विब्रोह की बाणी में भीखता है तो आकाश का हृदय बहस जाता है । उसकी उपस्था की श्वास में इन्द्र का हृदय भी काँप जाता है । धीह । धरत नहीं मनुष्य श्रेष्ठित होकर प्रसय का श्वासगण कर बँठे तो स्वर्ग टूटकर धरती पर पड़ा जाये । इस मनुष्यों की पक्षित कम नहीं है फिर हम देवताओं की सहायता क्यों माँगे ।

बज बरत हू ।

शम्भार्थ—शुत = पीस ।

धर्म—मुझ के बाजे बजाये जायें । पीस ही मुझ का साथ उजायो । यह अपमान सजा नहीं जाया । इससे मृत्यु अधिक भयस्कर है ।

[कल्प से आकाश पानी है ।]

पीला होगा धमसिम है ?

शब्दार्थ—गरस=विष अहर । धमसिम=पवित्र ।

धर्म—(पुकरवा जब इस प्रकार रौद्र रस से धाम्नाभित होकर देवताओं के विच्छेद युद्ध की घोषणा कर रहा था उस समय आकाशवाणी (नेपथ्य) होती है—)

हे पुकरवा ! सावधान, तुम्हें यह गरस पान करना होना और इस विषम पीड़ा को भी सहन करना पड़गा क्योंकि देवताओं के साथ युद्ध करने में तुम्हारा किसी भी दशा में हित नहीं है । जानते हो देवता किसे कहते हैं ? वे मानव के मुड एवं श्लेष्ठ रूप हैं जिन्होंने अपने मर्त्तों का विरेचन कर लिया है । तो क्या तुम धाम मानव के इसी श्लेष्ठ रूप से युद्ध करना चाहते हो ? या उससे (मुड करना चाहते हो) जो तुम्हारा रूप धमी वानवी एवं मुष्ट-स्वरूप कारण किये बैठ है ?

पुकरवा

यह किसका नाम में ।

शब्दार्थ—यवनिकाओं=पर्तों । बटित=बट रहा है हो रहा है ।

धर्म—यह किसका स्वर है ? इन पर्तों की घोट में कौन छिपा बैठा है । (बड़े धारधर्म की बात है कि) धाम जो कुछ भी बटित हो रहा है वह स्वम्भित करने वाली बटगा है । बड़ी धमोली बात है ! आसिर तुम कौन हो जो इतने सूक्ष्म विचार मेरे समक्ष बोस रहे हो ? तुम कहीं छिपे हो परती मे या आकाश में ?

[नेपथ्य से आवाज]

मे प्रारब्ध धतल से ।

शब्दार्थ—प्रारब्ध=भाग्य । प्रताप=यस । धतल=तल रहित ।

धर्म—मे अम्त्रवरा का भाग्य तथा ठेरा संभित किया हुआ पुष्य हूँ जो सेरे ही प्राणों की धतल गहराई से बोस रहा हूँ ।

धनुचित नहीं जाती है ?

शब्दार्थ—शणभमुर=पल भर में मरने वाली । धनुत्पन्न=जो धमी पैदा नहीं हुए है । धत-सहस्र=सालों । विम्ब=प्रतिष्ठाया ।



धर्म—क्या उस ज़र में नष्ट होने वाली वर्तमान की इस विषय का धर्मिण्य करना अनुचित नहीं है ? क्या तुमने कभी अपने दिल की गहराई में दूब कर कभी इस विषय पर विस्तार किया है कि ठेरे द्वारा किए गए वर्तमान-कर्म पर भाये जाने वाले लाखों प्राणियों का भविष्य निर्भर है ? (यदि तुमने वर्तमान में इतना महिठ कर्म किया तो) अनुत्पन्न साक्षों व्यक्तियों के मुक्तमण्डल पर तुम्हारी कौनसी छाया, प्रतिच्छाया अपना प्रतिबिम्ब पड़ेगा ?

जैसे तुने करते ।

सर्वार्थ—प्रलय-सूक्तिका = प्रेम की कृषी । लीह-विशिष्टों = लोहे के बाणों ।

धर्म—जिस प्रकार तुमने प्रेम की कृषी तथा लीह के बाणों से अपने जीवन का धोमस्वी वृत्त सिखा है उसी प्रकार उस को जाने वाली चन्द्रवस की विपुल शक्ति भी लीह तथा बाणों से समन्वित होकर (जीवन-प्राण में) नतम करने ।

अनुस वराक्रम - बनने हैं ।

सर्वार्थ—तापहर = नसनों की ज्योति को मग्द करने वाले ।

धर्म—तुम्हारे द्वारा किए गए अनुस वराक्रम के प्रकाश में भी यह बात छिपाए नहीं जियेगी कि ये अनुस्य (जो धार लीह विशिष्टों का गुणस प्रयोग कर रहे हैं) तापहर सदि के विनाश में बने हैं ।

विस्तार कर रही हैं ।

सर्वार्थ—निक्षेप = विगृह, रचना ।

धर्म—तुम विचारपूर्वक सोचकर यह जान लो कि तुम्हारे एक-एक धार की विन्ता से सुदूरव्यापी भविष्य का अनुस्य जन्म से रहा है । अपना चरण उठा कर तुम यह सोच लो कि तुम्हारे एक-एक चरण-ग्यास की ध्वनि भविष्य के कानों में पूज रही है ।

विशेष—आव मिसाए—

‘‘पुतों की बहदानी पर सृष्टि जाम पर बिगृह बली यन्भीर ।

रेव मन्मर्ष समुर की ध्वनि अनुस्य करते जैसे समीर ॥

घोर प्रेम लक्ष्मी का ?

अर्थार्थ—प्राणपन—पूजा । भावस्व—सौन्दर्य । रमामुक्त—सहमी का मुक्त । साबोह-पुत्र—प्रकाश-पुत्र ।

अर्थ—घोर तुम्हाण बह प्रेम (जो इस समय इतना रौद्र रूप धारण किए हुए है) अस्त्रा की समुदाय क्यों नहीं बना ? उन विषय वेपताओं की अर्चना क्यों नहीं बना, जो नारी के सौन्दर्य अथवा सहमी के प्रकाश-अण्डल में छिपे हुए हैं अथवा वह जीवन का अज्ञानित प्रकाश-पुत्र क्यों न बन सका जिसको लेकर अर्धशोक में तु घोर भी डंका उठ सकता था ?

अर्थ अर्थ लक्ष्मी ।

अर्थार्थ—अदल-अधर—रक्तिम भौंठ । कुमुदास्य—मकरन्द । पूर्य—पानोदित । भावा-ममोक्त—मायाविनी मुन्दर । धाकटि—कमर तक । समन्त—सीधी । सिन्हा—शशा । मदन—कामदेव । बन्ध—उपेय । प्रतीप—उभटा । त्रिबली—पेट पर पड़ी हुई तीन रेखाएं । स्वल-उरली—स्वलिम ठाकाह । अपव—सिद्धि । विक्रमो—बहादुर वीर । मरीचिका—माया दुष्ठा योना । पुष्प—परिपुष्प । परिणत—कोमल । विविक्त—उत्पुष्प । जयम—जंभाएं । एवस्व—नष्ट । हन विक्रम—शिकका तेज नष्ट हो गया हो । अस्त-अवस्य—अनुभवो स्त्री का मातृक धर्म क समय होने वाला रक्त-लाव ।

अर्थ—अस्तुत पक्षियों में कवि स्त्री क मातृक मातृक सौन्दर्य का अस्तुत उत्पुष्प एवं कामोदोपक शृंगारपूर्य बलन कर अस्तुत विक्रमी पुष्पों के उरली मोहिनी मरीचिका में अंगक हन-विक्रम होने का काव्यमय वर्णन करता है ।

अर्थ—रक्तिम अधर, अदलिम कपोलजय आंशों में शम्भु मर के पानोदन धारि है मुक्त भावामयी सुन्दर लभना स्त्री प्रियता का ममोक्त पामन्तल विठना अहनीय होना है । अस्तुत कमर तक निष्कम्प कामदेव की अलनी हुई प्रकाश विगा धी अस्तुत लक्ष्मी में सौन्दर्य की छाया का पानोदन भिए अने उभट कर रहे हुए अमनी अस्तुत उरली पर पूरे अस्तुत दो कथाओं के परिणामित घोर स्वल-अस्तुत उरली में उरली हुई अह्न क अमान विक्रमी क पुष्प नारी स्त्री मरीचिका को अने अस्तुत में अस्तुत कर अस्तुत के लिए अस्तुत शीर्षकाव्य पुष्पों की अस्तुत अस्तुत नहीं पड़ जाती ?

कौन ऐसा बीर है जो परिपुष्ट मसूरिम खावाहन करती हुई यजुम मसूख सम्मुख नमन वर्षाधों पर धाकर मसूमय मासिक रण-श्राव की सुगन्ध से अपने विक्रम की म गंवा बैठा हो ? सोम्वर्य के सीतामय सचरण से ध्वस्त न हो गया हो !

दिलने भी पाने को ।

शब्दार्थ—बलु = पाव । धोखिलमय = रवतपूर्ण ।

धर्म—(इस सवार में जिसने भी प्रेम किया है वह प्रम-कर का धोखिलमय ठिलक बारण किए तथा अपने किसीए प्राणों में बाधों को संजोए चल रहा है । और प्रम की यह बोट जिसे जितनी अधिक गहरी लगी है जिसका धाव जितना अधिक गहरा है, वह जलता ही पीड़ा की मुक्ति पाने के लिए कम बेचन रहता है । अर्थात् प्रम के प्राबल्य में जो ब्यथा होती है वह तो अमित आनन्द प्रदान करने वाली होती है । उसे तो ब्यक्ति सजोकर अपने दिल में ररना चाहता है फिर मना तुम इस ब्यथा-मुक्ति के लिए क्यों उतने बेचन हो रहे हो ? इसका तात्पर्य यह है कि तुम्हारे हृदय पर अभी तब प्रेम का पाव गहरा नहीं गया है ।

नारी के भीतर प्यार की ।

अर्थार्थ—क्रियित = कुछ । शक्ति धार = जल की धारा । महीम = पर्वत ।

धर्म—जया तुमने कभी सोचा है कि नारी के भीतर भी जो एक असीम नारी है पुरुषों में उसको रसा कौन करेगा ? उनकी रसा केवल नहीं कर सकता है जो सामान्य पुरुष न होकर पुरुष से कुछ अधिक तरब धारण किए हुए है । (वह पुरुष) जिसके हृदय में (प्रेम की) मीठी धारा बहती हो प्राणों में पर्वत के समान बुढ़ता हो जगसिया कर्मियों के समान कोमल हों तथा जिसरी मुद्दियां बत्तर के समान ठोस हों ।

विशय—हृदय अमित धार के समान इसलिए कि उसमें प्रम की निर्मल नारा सर्वत्र प्रवाहित होती रहे पर्वत इसलिए कि वह प्रम के मामल से सदा बुढ़ रहे, कोमल जगसिया इसलिए कि प्रमिका को सहसाती रहे और बत्तर की मुद्दियां इसलिए कि पाइ धार्मिकन न प्रमयो को जकड़ सके ।

बहु सकता चिनपारी भी ।

शब्दार्थ—पुरुषाधिक = पुरुष से अधिक । धिमोभव = धिमा से भी । शिघर-रीस = पर्वत की चोटी । प्रवात-ठाइन = धांधी के प्रवाइन से ।

धर्म—हे पुकरबा ! क्या तू बड़ा सफ़टा है कि क्या तुम पुरणाधिक नहीं पुरत हो (त्रिसक्य मीने ऊपर बणन किया है ?) (यदि नहीं जानत तो) फिर हृदय क सामान्य बराबल से ऊपर उठकर सिखर की क समान मानस की उन्नावस्था में स्थित होकर देख कि तू प्रेम के पय पर प्रथम रूप से क्या हुआ है या तब हुआ क नज़रों से प्रताड़ित होकर इमर-उबर होम रहा है ? यह भी देख ठीकी मुत्रार्थों में कृमुम सी नोमसता है या ब बज्ज की सिला के समान ठोस मी है ? मुत्रार्थों में फूज ही फूज बालण किए हुए हैं या कुछ पावक-शलाकाएं भी हैं ?

द्विपद व्याधिनी विस्तारकर ।

शास्त्रार्थ—विनय् व्याधिनी=विपत्ति में पीड़ित करने वाली । विद्या= नारी । मनोय = मनोहर ।

धर्म—ह पुकरबा ! क्या तुम्हें (उर्बमी को छोड़ कर) अभी तक विपद् व्याधिनी मिनो मी ? अब तूने ज्योतिषी ओ से अपना मविप्य पुछा वा तब उसने क्या बोलताया था ? नारी एक मनोहर छमना है । जब उसका हृदय बाह्यता है तो कष्ट फाड़-फाड़ कर विन्ना-विन्ना कर रोने लगती है और पुरत (उसकी मनोज्ञ छमना पर) मग्न होकर हंमता रहता है ।

पूछ रहा विद्या में ।

शास्त्रार्थ—संगहिर=धर्मों को जानने वाला । गणक=परामा करने वाला ज्योतिषी । उपवेशित=बैठकर ।

धर्म—(हे पुकरबा ! ) तुम अपने विषय में संगहिर, गणक ज्योतिषी से क्या पूछ रहे हो ? जरा अपने हृदय का चीर कर देखो ? तुम्हारे समाधान की ठासी उमी में पड़ी हुई है । तुम जरा अपने धनुमन को खगा कर रूछो । वह तुम्हें त्रिस दिशा में मो जाने को संकेत करे जमी विद्या का धनुमरण बोजिए । निश्चय ही तुम्हें धन-प्राप्ति मिलगी ।

बिना बुझाये पचा कर ।

शास्त्रार्थ—सरस है ।

धर्म—(अपने कर्मों का) पुराना मूख्य बुझाए बिना भसा कौन बसत में मूख पहण कर सकना है ? हे पुक ! तरे पर अपार जीवन वा जो उप श्रुत बसा हुआ है उसे बसा कर तू किसी प्रकार भी जान नहीं सकता धर्मनि उसका मूख्य तुम्हें बुझाना ही पड़ता ।

मही देखता कर्मी का ।

शब्दार्थ—सरल है ।

धर्म—हे पुण्ड्रबा ! देख तेरे सामने जो प्राणों को तरेरे हुए कड़ा है वह भीर कोई नहीं ठेरा ही जीवन है । पाप तक इसका आकार लेकर जो कुछ भी उचित किया है उसका मूल्य इन्हीं प्राणों में तुम्हें दिन-दिन कर चुकाना होगा ।

पर. कंस ? निदिध्यास है ।

शब्दार्थ—उद्ब्रजन = उड़ान । विमा = ज्योति । निदिध्यासन = ध्यानावस्थित समाधि ।

धर्म—मेकिल यह मूल्य कंस चुकाएगा ? क्या स्वयं में जाकर उर्बंसी को पुन बचतल पर लाएगा ? धर्मका मन के महाकाय में जहाँ न कोई कामिनी मारी है न (वाचिक) प्रेम की कामना है धर्मितु परमज्योति की छाया प्रार्थना एवं ध्यानावस्थित समाधि का साम्राज्य है उज्ज्वल प्रेम के बलघामी पंखों द्वारा धर्मिन उड़ान भरेगा ।

तोड रहा बड़ी है ।

शब्दार्थ—धर्मन्व = धायन । विमा = ईत ।

धर्म—क्या तुम इस परती की वासना में ही धायन डूढ़ना चाहते हो ? किन्तु इस धायन का इस ईत मरी ज्वलित जगती में कोई उत्तर नहीं है । मैं फिर बही बल कहता हूँ (कि यदि तुम मुक्त होना चाहते हो तो) धर्मने धर्मर में भ्रम कर देता । समाधान कर्मी ठानी तुम्हें इसी के धर्मर में मिलेगी ।

पुण्ड्रबा

देख लिया जाता है ।

शब्दार्थ—सरल है ।

धर्म—हे पतिवो ! मैंने सब कुछ देखा लिया । विरवमना का फलादेश सरल सिद्ध हुआ । मेरे पास इस समय एक शय भी नहीं है । भक्त पुरोहित से कहो कि धाम के राजविलक के लिए पुण्य रत्नोंक उच्चरित करें ।

मया धर्म समा है ।

शब्दार्थ—मया = मू । धर्म = वासातिक धर्मन । ईदिक = धारीरिक । निदिधो = ध्यननाधो । कर्षनावरण = सोने के आवरण में । विषण्य = दुःखी । विरा = वाली ।

धर्म—विक्रम और विमास का यह बन्धन और माया का मोह मूळ है। इन वैदिक सिद्धियों पर के स्वल्पम आबरु म भीतर ही भीतर विपण्य हुआ ऐसा अनुभव कर रहा हूँ जैसे मैं अन्दर से खोखला होता जा रहा हूँ। (इन बगती के बन्धनों में फँस कर) मैंने अपने अन्तरतम के रोदन और अमावों की अव्यक्त गिरा को कई बार सुनकर भी अनसुना कर दिया है।

पर अब जाता हूँ।

शास्त्रार्थ—सरस है।

धर्म—पर अब इस स्वर की और अधिक अवहेलना नहीं की जाती। हे अनन्त दिवा की ओर से आने वाली महाशक्ति ! मुझ प्राणों में अंकार भरने वाली ! ठहरो ! मैं अपने पंख खोलकर अभी तुम्हारे साथ चला हूँ।

दिन भर जाने का।

अर्थार्थ—विमासमु=सूर्य। प्रथोप=राशि। अन्वरा=गुप्त। दृष्टी=सोह। अन्तर्यामि=आन्तर्यामि। अरुणा=एक पुराण वर्णित पर्वत। विजय=एकान्त।

धर्म—सूर्य भी राशि को अपने अन्तर्गत से शीतल प्रकाश प्रकाशित करने के लिए दिन भर अपना प्रकाश झुटाकर राशि के आने पर अपनी सम्पूर्ण शक्तियाँ समेट कर पर्वत की किसी निजन अन्तर अथवा सोह के एकान्त प्रान्त में उतर जाता है। तो फिर भसा में आकाश के मध्य में क्यों तपता रहूँ। अब मेरे गए सूर्य को भी शिथिल छोड़कर आकाश की ओर आने दो क्योंकि मेरे लिए भी वह समय आ गया है जबकि मैं अपनी किरणें समेट कर अरुणा के पार कहीं एकान्त प्रदेश में उतर जाऊँ।

यह तो जाता हूँ।

शास्त्रार्थ—वृणमान=अमित होने वाला। पूषण=सूर्य। ऐस-अंध पर्वतस=ऐस अंध के पुत्र। कानन=वन।

धर्म—यह तो मैं अपने अमित होने वाले शिर से ऐस अंध का मुकुट हटाकर धातु के मस्तक पर चरता हूँ। सो सूर्यदेव की हृषा से राज्याभिवेक भी पूरा हो गया। ऐस-अंध के सुपुत्र गए सभाट धातु की जय हो। हे महाशक्ति ! अब मैं राज्य भार से मुक्त होकर वन में जा रहा हूँ।

भाव्य शेष ! भाविय के ?

शास्त्रार्थ—सप सका नहीं=पूरा नहीं हो सका। महाभत=महान यशस्वी। निस्व=निश्चय।

अर्थ—यह मेरे माग्य का शोष है कि मैं अपने कर्त्तव्य को पूरा नहीं कर सका। अब तो मैं केवल आपकी प्रजा हूँ। घट प्रजा धर्म के कर्त्तव्य का पासन करेगा। मैं वहीं पर भी रहूँगा वहीं पर महान यशस्वी राजा का यशोमान करूँगा। एक निर्बल संस्थासी समा एक पाषीर्वादि के अतिरिक्त और क्या है संस्था है ?

समासबो ! कहेंगे ।

शब्दार्थ—कामरूप=समय को समझने-बुझने वाले। पटु=होधिदार। निदेश=प्राज्ञा।

अर्थ—हे समासबो ! आप सबके सब कामरूप और कर्म-निपुण हैं ? आप सब जानते हैं कि राजा की समबोधित प्राज्ञा को आपने किस होधिदारी से निमाना है ! (मैं जा रहा हूँ।) घट आप प्रजावागियों से हमारा पाषीर्वाद कहिए।

जय हो प्रजाजनों को ।

शब्दार्थ—सरस है।

अर्थ—महाराज की जय हो ! प्रजाजनों के लिए अश्वर्षभ बिलगा सुरम्भ एवं सुखकर का प्राज्ञा है उठना ही सुखद वह धर्म भी होगा।

[एक ओर छं पुरुरवा का निष्क्रमण ; दूसरी ओर के महाराजी धीधीनरी का प्रवेश]

धीधीनरी

जसे गए ? (महाराज जसे गए ?)

समी समासद

प्रनुकंपामयी राजमाता की जब हो ।

धीधीनरी

हो, मे लया कर ।

शब्दार्थ—राजमहिषी=रानी। नियति=भाग्य।

अर्थ—हाँ, मैं अभी बीड़ी देर तक राजमहिषी थी। बाहे जहाँ धी हो मगर अभी तक नियति ने मुझे प्रकाश से दूर न जाने कहाँ फेंक रखा था। भाग्य की बात है कि अब मैं निश्चय ही राज-माता हूँ इसलिए हे बेटा ! था ! मैं तुम्हें अपने प्रेक्ष में लूना कर अपने प्राणों को सीतल कर लूँ।

[प्राण को हृदय से मचाती है।]

कितना भय बचपन में ।

अर्थ—बिबुध=ठोड़ी । तनय=बेटा ।

अर्थ—हे बेटा ! तुम्हारा स्वरूप कितना भय है ? तुम्हारे नेत्र नासिका मस्तक तथा ठोड़ी में महापद्म के स्वरूप की पूरा प्रतिच्छाया पड़ी हुई है । काश । हे बेटा कहीं यदि तू मुझे बचपन में मिस गया होता तो मैं तुम्हें कितनी उर्मय घोर धारा से पालती-पोसती ।

पर, तब पिता कर ।

अर्थ—उत्तु ग=कभी । पावक=धमि । पापाणों=पत्थरों । क्षीर=दूध ।

अर्थ—लेकिन कोई बात नहीं जिन महान एवं मनस्वी पुरुषों को उत्तु ग सिद्ध पर नवीन यशोपलाका गाढ़नी होती है उन्हें माग्य प्राय धमि से तथा-तथा कर गढ़वा है पत्थरों पर सुसाठा है और उधे किसी घेरनी का बूझ पिमावा है ।

विशेष—मात्र मिसाए—

(घ) जिन्वगी के प्रसन्नी मजे उनके लिए नहीं हैं जो फूलों की छांह के नीचे वेसते और छोट हैं । बस्कि फूलों की छांह के नीचे प्रगर जीवन का कोई स्वाद छिपा है तो वह भी जगहों के लिए है जो बुर रेगिस्तान से घा रों हैं जिनका कष्ट सूखा हुआ, धोठ फटे हुए और सारा बवन पसीने से तर है पानी में जो प्रमूठ तत्व है, उधे वह जागता है जो घुन में सूब सूब खुका है वह नहीं जो रेगिस्तान में कमी पड़ा ही नहीं है ।

× × × ×

बड़ी-बड़ी चीजें संकटों में विकास पाती हैं बड़ी हस्तियां बड़ी मुसीबतों में पककर बुनिया पर कब्जा करती हैं । प्रकबर ने तेरह साल की उम्र में अपने बाप के बुस्मन को परास्त कर दिया था जिसका एकमात्र कारण यह था कि प्रकबर का जन्म रेगिस्तान में हुआ था और वह भी उस समय जब उसका बाप के पास एक कस्तुरी को छोड़कर कोई बौसत नहीं थी ।

महामारत में देश के प्राय अधिवास बीर वीरों के पक्ष में थे मय फिर भी जीठ पाण्डवों की हुई; क्योंकि उन्होंने सायामूह की मुसीबत भेरेष थी क्योंकि उन्होंने बकवास की जोखिम को पार किया था ।



‘जीवन उनका नहीं मुबिष्ठिर । जो प्रससे डरते हैं ।  
वह उनका जो चरण रोप निमय होकर लड़ते हैं ।’

—बिनकर हिम्मत और बिनबयी

(ब) बसुबा का नेता कौन हुआ ? मुखरूड बिजेता कौन हुआ ?  
अतुलित यज्ञ केता कौन हुआ ? नव-धर्म प्रणेता कौन हुआ ?  
बिस्मने न कभी धाराम किया बिष्णों में रह कर नाम किया ।

× × × ×

कंकड़ियां जिनकी सेब सुघर, छाया देता केवल धम्बर  
बिपबाए बूब पिभाती हैं जोरी धाधियां सुनाती हैं ।  
जो भासा-गृह में बसते हैं, वे ही शूरमा निकलते हैं ।

—बिनकर रश्मिरबी तु सर्ग २५ २६

सो तु पला 'नबा था ।

शम्भार्थ—सीमन्तनी-शिक्षा ⇒ नारियों की धरणी । केहरिणी ⇒ घेरनी ।

धर्म—और तु बिसफी गोरी मे पसा है वह नारियों में धरणी पति  
प्रतापों में घेरनी के समान और कोई नहीं है । तपोनिवाण तपः सिंह ध्यवन  
धृषि की प्रिया (सुकन्या ही) है ।

हाय हमारा 'धामा हो ?

शम्भार्थ—सरन है ।

धर्म—बेबो मेरा नाल कितना धबाहू होकर बड़ा है ? (टीक भी है)  
ऐसा कौन है जो ध्यानक राज्याभिषेक को पाकर बिस्मिठ और निस्त्वय नहीं  
होना ? उस बट-बुल को सम्मुख देख जिसकी छाया के लिए वह इतनी दूर  
से चलकर धामा हो (मसा कौन बिस्मिठ नहीं होना) ।

कितना बिपम' चुरा कर ।

शम्भार्थ—सरन है ।

धर्म—कितने बड़े धोक का बिपम है ? पहले तो तुम्हारा धर्म ही धर्म  
मे हुआ और फिर जब महान धावधयकता को तब पिता की सीतल पोह तुम्हें  
नहीं मिल सकी । जब तुम स्वयं ही जगने पास धाए तो वे सहसा अपना  
राजपाट सर्वस्व तुम्हें सौंप तथा अपना बाल्यस्व (पुत्र प्रेम) चुरा कर बसे

नीरवता करने का ।

शब्दाय — रवपूरुं = ध्वनिमयी । मुखर = बाधास । विकल्प = उपाय ।  
मस्तकस्य = मस्तक पर धारण किए ।

धर्म—हे बेटा । तेरी यह ध्वनिपूर्ण नीरवता और तेरी यह चुप्पी सब प्रकार से मुखर होकर तेरे मन की पीड़ा को प्रकट कर रही है । लेकिन धब पीछ पर धारण किए गए राजमुकुट के भार का बहन करने के प्रतिरिक्त अन्य उपाय भी क्या है ?

उचित हुआ बड़ेगा ?

शब्दाय — प्सावन = प्रसव ।

धर्म—हे धायु । तेरा माम्मोदय हुआ तो प्रसव मगर बड़े संकट-काम में हुआ है लेकिन तुम्हें छोड़कर हमें इस महान प्रापदा से कौन पार उतारेगा ? यदि तुम्हीं उबास रहे तो कौन ऐसा है जिसने मृत पर मुखकाम इठमाएगी और यदि तुम ही इस महान संकामित से नहीं उबरे तो भविष्य में धामे बासी इस महान प्रसव में कौन बच सकता है ? (माय यह है कि है पुत्र ! धब तुम पितृ-शोक को भुसा कर प्रसन्न हो अपने राज-धर्म का पालन करो) ।

पिता गए रही हूँ ।

शब्दाय — नरमाच = राजा ।

धर्म—प्रदे बेटा यदि तुम्हारे पिता जसे मये तो क्या हुआ ? तेरी माता तो तेरे सामने खड़ी हुई है । हे बेटा ! गिर पदा का राजा धभी घनाप नहीं हुआ है । तु जिस बालास्य रय की दुया से धामस है मैं भी उय धमूत-शोक को मुटामे बिना धानीवन हरी में भरी हुई हूँ ।

फसा न सया हूँ ।

शब्दाय — धस्य = हरा भरा पीषा । धाग = धामाता ।

धर्म—(इस पद में धौगीनरी का गातुरय धपगी धरय धीमा पर धा मया है । कबि ने बड़े सघराय धर्षों में माता के आत्यन्वपूरुर्ण भाषों को प्रकट किया है—)

प्रकृति की घोर ने मुध जो माताग्य का धमूत धिता ना बह गे/ घरीर रूपी बूटा की टहनिवीं लनं गूभी धाि (धों में धब नव) धाहरे धागता रधा, उगये कोई पीषा नही नभा धूना धिगु धाज मुधे धानर धीमा धाधाम हो रधा है जैसे धारय धाग ने धीर धभी धािधका धूरी धा रधी धीं । धाम गूत । गी भी पीवन धब बहूत ग्यानी धी, धेधम नहसी धाग धीनय धन ना धाज धरे धीर्ण

पर लया है। (भाव यह है कि मैं सभी तक समता की व्याप्ती की। तु मेरे लिए पीतल जस के समान प्रामा है। तुझे पाकर मैं तो सुखा हुआ हूँ वह सुखित एवं प्रसन्न हो गया)।

तप्य बना 'बबा कर ?

धर्मार्थ—विद्या = इन्द्रिया । विपत्तता = संकट इच्छा । पतकनु = इन्द्र, इस कारण कि उन्होंने ही सब किये थे । कहते हैं पुरकारा भी पतकनु थे ।

धर्म—हे कीरमणि पुत्र ! (इस पीतल वास्तव्य रस को) विद्या गताति कीर विन्ता से पर्व मठ करो । देखते नहीं मैं इन्द्र के समान तेजस्वी अपने पति को बंवा कर अपने धर्मस में उच्चमित केला के विच्छोट को बंवा कर संकट-य त्वा के किस क्यारे पर रखी हुई है ।

और हाथ हरी है ।

धर्मार्थ—तरल है ।

धर्म—केवल हाथ फिर भी मैं भीर गारी हूँ । गारी के भाव्य में विद्याता के रोदन के परिचित बंवा और कुछ भी सज्जन किया है ? पर किमोर होने पर भी है बिटा । तु रावा है । राजा कमी भी अपनी पीड़ा से पीड़ित नहीं होते प्रियु थे तो अपनी पीड़ा को घुसकर दूसरे की पीड़ा का हरण करते हैं ।

हंसे हैं विमित में ?

धर्मार्थ—किरीट = ताज मुकुट । दुर्बह = बहल करती में कठिन । निमित्त = कारण ।

धर्म—जब राजा हंसे हैं तो सबके समर्थ पर हास्य की किरण का जाती है और जब रोते हैं तो सब पुरवासियों के मनन धनु-विषत हो जाते हैं । इसलिये जिस मूर्ति के मस्तक पर दुर्बहनीय समान-सज्जन का ताज बड़ पका हो उसके लिए जमा अपनी पीड़ा तथा अपना मानस क्या महत्त्व रखता है ? केवल हाथ यहाँ पर तो (जन्मे बड़े उत्तराधिकार का मह कार्य) एक ही क्षण में सम्पन्न हो गया ।

महामात्य

पठित हुआ सेना है ।

धर्मार्थ—राज-पुत्री सी = काष्ठ की पुत्री के समान ।

धर्म—जब काष्ठ अनामक इस प्रकार बटित हो गया जैसे वह तथा काष्ठ की पुत्री के समान अदृश्य के हाथों में परधीन होकर नष्ट कर रही है ।

मामो माय्य ने हब सबकी बुद्धि को कूटित करके घोर सबको अपने पाठ से बडीभूत करके अपने आप बुद्ध्यान्त नाटक का अभिनय किया हो ।

विशेष—उत्प्रेसा प्रकाशकार ।

कौन जानता बुका था ।

अर्थ—अशनि = बिजली । भासन्न = भाने वाली । स्तमित = धबाकू विमूढ़ । गिरा = बारी ।

अर्थ—महामात्य राजमाता श्रीमती से कहते हैं—हे देवि ! कौन जानता था कि बिना बटाघों के ही हम पर यह बिजली टूट पड़ेगी । हमें तो भाने वाली इस महान विपत्ति का आभास तक भी नहीं मिला था । (यह सब कुछ देखकर) हम कुछ तो माय्य के आधीन हो गये और कुछ महाराज के भय से विमूढ़ से हो गए । इससे पहले कि हम अपने मुख से कुछ कहे महाराज का राज-मुकुट कुमार के मस्तक पर आसीन हो चुका था ।

सब कुछ कहना था ।

अर्थ—मरुत = प्राण वायु (इतकी मर्यादा माननी गई है—उपनीम बाँट, धुनि सासहू अभिमुख विक्षिप) देवता ।

अर्थ—सब कुछ ऐसे बटित हो गया जैसे आकाश में मरुत शौक रहे हों जैसे कोई सुष्क-कानन में प्राण लगा रहा हो जैसे हम धायमी नहीं धरि पत्थर की मूर्तियाँ हों प्रबवा जैसे स्वयं कृष्क हमें धामे की धोर हुंकर हो (घोर हम विमूढ़ हुए उठी दिशा में धामे बड़ते धये) । हे देवि ! उम्र हमें बड़ भारी किस्मय में डाल कर छोड़ गए । अपने दिल के गुबार को निहालना चाहते थे वे भी हम नहीं निकाल सके ।

श्रीश्रीनरी

कौन कह रेखा सी ?

अर्थ—सरल है ।

अर्थ—अपने दिल की पीड़ा को धार तक कौन कह सका है ? क्या तुम सबने नहीं देखा कि मैं इस कोमाहल के बीच मुकता की प्रकल्प को के सपा मेरे जीवन में जो कुछ भी हुआ उसे देखकर भी सदा चुप्पी धामे रखी (अर्थात् मैं यह जानते हुए भी कि मेरे पति तथा उर्बरी के बीच स्थापित प्रेम के मेरा अचरय कोई प्रहित होने वाला है, कुछ नहीं बोली) ।

बापी का बेंडी थी ।

अर्थ—अर्चस्व = देव । निर्याप = धारिका . . .

## दिनकर और उनकी उर्वशी

अर्थ—(मनीषियों का कथन है कि) बाणी का तेज यदि बाँधी है तो मौन स्वर्ण है। लेकिन अन्ततोगत्या मुझ इस स्वर्ण से क्या मिला? मेरे जिह्व रण्ड में घातित एवं मधुरता का मिनाह का वह सब इतिहास बन कर रह गया। मैं जहाँ प्रथम एवं शान्त अपने मूक तीर में बैठी थी वहाँ से सभी प्रपत्नी छाया बसाकर इस कोमाहमपूर्ण बगल से दूर भाग गए। (कितनी मेरी मेरे मौन का मूस्य नहीं घांटा। कोई भी मेरे बदन को सुनने नहीं चाया)।

महाराज

होती है।

अर्थ—बानवाहति = ईत्याकार। धूमिल = धुबसा। पद बाप = वीरों की पाबाज। नीरव = शान्त। व्यय = उतावली।

अर्थ—माना कि महाराज बड़े उदार थे बड़े मुहु एवं मान प्रबल थे और मुझ प्रयामिनी को उगहने बड़ा पादर-मान भी दिया था लेकिन ऐसा क्या हुआ कि वे बसते समय मुझ पर अपनी कृपा करने भी मूल गए? न जाने उन्हें इस देश के समान भीषण आकार वाले भवन में उपेक्षित शान्त र धूमिल उस कोने का ध्यान क्यों नहीं चाया जहाँ पर न तो कभी बटगाएँ मूलकर जाती हैं अर्थात् कोई भी बटना पटित नहीं होती और न जहाँ इतिहासों के वीरों की पाबाज ही सुनाई देती है अर्थात् कोई भी ऐसी नहीं पटती जिसका इतिहास में उल्लेख किया जा सके। इस कोने में ही प्रणयिनी भी रहती है जिसका प्रेम शान्त और स्थिर है जिसकी स्निग्ध और शीतल है जिसकी अभिसापाएँ अपनी ही दहकती हुई आँसुओं से दग्ध नहीं होती वहाँ पर वीरों के नीचे मूर्खों की लाल सेन नहीं उतरती के ऊपर नागनियाँ नहीं लहराती जहाँ अशरों की कोयल बग बनकर नहीं बरसती और वहाँ धाम से रह रहकर चित्तकारियाँ पसती। बल्कि जिस कोने में मारी का सुभेष्णु और चित्तप्र हृदय यह वह कोना है जहाँ उद्वेगों से अधिक शान्त शान्ति और संयम है, वहाँ एक पात्र में ही रूप और मधुरय दोनों संचित हैं जहाँ मैं सुबँ बैसो प्रणयिता और अग्रपा बैसो शीतलता छिपी हुई मारी केवल शीघ्रम-मूर्ति बनकर मनुष्य के मन को मोहित करने वाली बल्कि उतका माता का रूप भी होता है जो अमृत के समान देने वाली होती है।

भुस गये प्रियतम की ।

अर्थ—वियत=प्रिय पति । निमृत्=एकान्त । निजय=मदन ।  
समारोपन=पूजा । त्रिसोक-भरण=परमात्मा । अकस्याण=प्रद्विष्ट । कंटक  
=काँटा ।

अर्थ—महारानी प्रीतीनरी महाराज पुकरबा के बिरह में भी उनकी  
कस्याण-कामना करती हुई कहती है कि हे प्रियतम ! तुम जाते समय यह  
बयों भुस गये कि उस दान्त घोर अकेले मरुत में कोई नारी अक्षय्य वत को  
सेकर तुम्हारी पूजा में बैठी हुई है, जिसकी घोर बसते समय तुमने बिस्कुस  
भी ध्यान नहीं दिया । मैं त्रिसोकपति परमात्मा से अशुभली बनकर बेबल  
यही भील भांगती हूँ कि हे प्रमो ! मेरे स्वामी का तनिक भी अहित न हो ।  
उन पर पड़ने वाला जो मृतीबत हों वे मुझे दे देना मैं प्रसन्नतापूर्वक उन  
सबको सहन कर लूँगी किन्तु हे देव ! मेरे प्रियतम के पर मैं छोटे से छोटा  
काँटा भी न चुभे उन्हें मामूली-सी भी विपत्ति का सामना न करना पड़े ।

बिज्ञेय—इन पंक्तियों में महाराज प्रीतीनरी का अरिज भारतीय भावों  
से परिपूर्ण है ।

किन्तु हाय जाता हूँ ।

अर्थ—मुपा=मूठ निरर्थक । हतभागी=निर्माणी ।

अर्थ—अपनी बिरह-वेदना को व्यक्त करती हुई प्रीतीनरी कहती है कि  
यह बड़ दुःख की बात है कि मेरे जीवन को सारी साधना भूठी सिद्ध हुई  
निरर्थक बनी गई, क्योंकि मैं तो अपने बनों हावों को जोड़े हुए उनके ध्यान  
में डूब कर बठी रही और वे मेरे वेदना मुझसे बिना कहे ही चले गये । मुझसे  
इतना भी कहकर नहीं गये कि हे निर्माणी ! उठ और अपनी पूजा को छोड़  
कर मुझे अन्तिम बिदाई दे क्योंकि मैं अब इस भवन को छोड़कर जा  
रहा हूँ ।

बिज्ञेय—इन पंक्तियों को पढ़ कर भावसाम्य के कारण गुप्त जी की यह  
पंक्ति अनायास ही स्मृति-रम्य पर विरक्त लगती है—

‘सल ! वे मुझसे बहकर जात ।

याग-याग भव में ?

अर्थ—वार्ताक=बाँद दिया, कान्त ।

अर्थ—अपनी बिरह-वेदना को व्यक्त करती हुई प्रीतीनरी कहती है कि  
मेरे पति मर नहीं छोड़ते वे वे याग-याग, — धन्य

किसी भी धर्म-साधन में मेरे बिना मुझे साह मिल बिना प्रवृत्त नहीं होते वे किन्तु जब उन्होंने मुझे बताया बिना है संन्यास धर्म का कठोर व्रत धारण कर लिया है। न जाने उनका वह कठोर व्रत किस प्रकार पूरा होगा क्योंकि उन्होंने मुझे अपनी संन्यासिनी प्रिया को अपनी बाईं रिखा में नहीं बैठाया है ? (ध्यानों के अनुसार यदि का यज्ञानुष्ठान अभी पूर्ण होता है जब उसकी बत्नी भी उसके साथ हो) और यदि उन्हें मुझको त्यागना ही था तो कम से कम जाते समय अपने चरणों की धूम तो मुझे अन्तिम धार से लेने देते ? मुझे बिना बुझाए और दर्शन किए बिना वे न जाने कैसे अचानक अपने गये। न जाने मैं अक्षमात् ही अपने पति के मन में क्यों भर गई ? अर्थात् जो पति मुझे कभी बहुत अधिक प्यार किया करते थे उन्होंने मुझे मृत-दुःख बातकर नहीं त्याग दिया ?

सुम ! गाँव अधिकार नहीं हो।

शब्दाथ — पाठ = तीर का फल।

अर्थ — हे सुमे ! प्रियतम की वह उदासीनता मेरे हृदय में तीर के फल की भाँति लय गई है और वह तमाम जीवन मेरे हृदय को छानती रहेगी। वह दुःख का विषय है कि जो पति कभी मेरा सर्वस्व था वह मुझे इसी प्रकार छोड़कर चला गया है, यानी उस पर मुझे अमानिती का कोई अधिकार ही नहीं था।

विशेष — अत्यन्त अस्वभाविक।

सुकन्या

देवि ! यही है सुराक्षर।

शब्दाथ — गान = गमन। साह = सीमा। बैरागी = मुक्त = बैराग्य की प्रवृत्ति वाला।

अर्थ — महारानी धीधीतरों का विवाह सुनकर उनकी सखी सुकन्या उन्हें समझाती हुई कहती है कि हे देवि ! यही निमज है कि जो गमन अर्थात् धीरे धीरे बुझ जाता है बैराग्य की प्रवृत्ति का भाग समुच्च्य कभी भी उन बहनों से नहीं दूरा रहता किन्तु यहाँ पर गमन कर्म की प्रवृत्ति मृत्युवाली है यही उपर से तन मात्र बचाकर भागा करता है।

सुकन्या का कहने का अर्थ यह है कि गरी जीवन की सबसे अधिक सुरक्षा यही है, अर्थात् सही गारियों से बिना मिले ही सुहृत्वाग कर देते हैं।

परामर्श क्यों नहीं गये हैं।

शब्दाथ—मुक्तिकामो = मुक्ति की इच्छा करने वाला। गृह = घर।

अर्थ—हे देवि ! नारी विद्वत् का सबसे बड़ा बन्धन है इसीलिए जो ध्यवित्त मुक्ति की इच्छा करते हैं, व इस नारी कपी बन्धन से कभी परामर्श नहीं करते क्योंकि यदि कोई नारी की बातें सुन लये तो फिर उसका गृह त्याग करना असम्भव हो जाता है। इसीलिए यदि महाराज आपसे कुछ कह कर नहीं गये तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। यहाँ तो बही कृपा है जो भ्रातृ को स्वीकार था।

श्रीचीनरी

पतिव्रते सिर पर।

शब्दाथ—तिग्म = तीक्ष्ण प्रसर। अवमानना = अपमान। प्रधारण = बचपना ठगो। दयित = प्रियतम।

अर्थ—मुक्या के सत्तर को सुनकर महारानी श्रीचीनरी कहती है कि हे पतिव्रते ! यह सच है कि गृहिणी की बातें सुनकर मुक्तिकामी को घर छोड़ना असम्भव हो जाता है किन्तु बिना कहे-सुने मान जाना भी बहुत ही प्रखर और विषम बात होती है यह विषय के समान सुन लया अपमान प्रीन टमी है। न जाने प्रियतम ने इस बात को क्यों नहीं सोचा कि मैं धन्य और निर्दोष हूँ। यह भ्रातृ की कंठी विन्म्वना है कि उन्हें उसा तो किसी अन्य ने और उनके बिरह का बंध गिरा किसी अन्य ने (मेरे) सिर पर।

बिधाय—उपमा धर्मकार।

गवा दिया टिपो हुई थी ?

शब्दाथ—रसित = प्रानन्दपुण। पुमिन = क्लिारा। शीडा = सग्ना। प्रमदा = मुबती।

अर्थ—ह मुक्या। मैंने भूस में रहकर अपना सबस्व लो दिया और मैं सब कुछ देखकर भी प्रानन्दगी बनी रही। हे देवि ! मुझे इस बात पर धन्य बार-बार पड़ता होता है कि मैं तरंगों से आश्चर्य और प्रानन्द से भर हुए उस प्रम के क्लिारा पर क्यों नहीं गई जहाँ पर अप्पराये स्नान करती हूँ ? कहने का भाव यह है कि मैं अपनी ही सग्ना में सिमटी रही और उसकर महाराज से अप्परायो जैसा प्रम न कर सकी। जब मैं बार-बार इस घटना को याद करके पड़ता हूँ कि सग्ना के लूनी प्रधारण का फाइकर मैंने क्यों उस मुबती (उर्बन्दी) के प्रम को स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं होन दिया। वह उर्बन्दी कवम अप्परा ही नहीं थी, बल्कि मुझमें भी टिपो हुई थी।



बिनाकर धीर उनकी उर्वशी

शब्दार्थ—कसुम-शाम=पुष्पमाता । पुष्प-शत्रु=पूलमाता । उदय=उम्वत विद्यास । चिञ्चिनो=लक्ष्मी होती ।  
 बसती नहीं बनुप की ?  
 धर्म—हे सुक मा ! मुझे बार-बार यह याद करके पछतावा होता है कि मैं पुष्पमाता बनकर उनकी विद्यास बाँहों में क्यों नहीं बस गई ? पूलमाता बनकर उनकी विद्यास गर्दन से क्यों नहीं चिमट गई ? जब वे अपना धनुष उठाकर प्रकट करे का हृदय बीच रहे मे तो मैं उनके उस महाधनुष की डोरी क्यों न बन गई ?

कहने का भाव यह है कि यदि मैं उनके उर्वशी के प्रति प्रेम में बाधक न होकर सहायक होती तो वे मुझे इस प्रकार त्याग कर न जाने पाते ।  
 ययी नहीं रेखाओं में ?  
 शब्दार्थ—प्राणपति=प्रियतम । घाट्यात=कहानी । पर्य-पर्य पर=पते-पत पर । जीकन्ठ=अपमनाती । प्रमा-सी=ज्योति के समान । छुछानु=मग्नि । सोहित=सास ।

धर्म—हे सुक्या ! मुझ धन यह पछतावा हो रहा है कि मैं न प्रियतम के साथ-साथ भरती धीर धाकाय मे उस उस स्थान पर क्यों नहीं गई, जहाँ-जहाँ उन्हें बन्धित हुई महागु घटनाएँ हुआ रही थी । जब वे प्रियतम धानी विद्यास की कहानी पते पते पर लहर-लहर में धीर प्रत्येक ऊँचे छिन्नर पर धँकित कर रहे थे, तब मैं अवमवाती ज्योति के समान उनके बाणों के फलकों पर धीर बाणों से निकलती हुई धाम को साव साटों में न जाने क्यों महो समा पाई ?  
 शीत पयी 'मइती जो ।  
 शब्दार्थ—वीडा-विद्युत=लग्ना से वृत्ती । पुपी य=घाखों में ।  
 धर्म—हे सुक्या ! सहरोँ पर मजस-मजत कर अपने वासी घण्टघण्ट इमीलिए पीठ गई कि वे तुमी पूव में धीर बादलों से मेरे हुए धाकाय में स्वच्छन्द होकर उड़ उड़ती थी धीर मैं इमीलिए हार गई कि मेरे लग्ना से [परी मैनों में तुमी पूव को ज्योति धीर कोमाहस की किरण मरती थी, इस लिए मैं होती हुई घटनाओं को स्पष्ट का से नहीं देख पाई ।

देला ही निहार लेता है ?  
 शब्दार्थ—घण्टर=हृदय । जपा वस्तु=लग्ना से के विशेष=ते=तीर्थों को जमाने से ।

धर्य—हे सुकन्या ! मैंने अपना हृदय के छाया निवास से निकलकर, हृदय के प्रेम-स्रोत को छोड़कर देना ही नहीं कि कहीं क्या महिमा बरस रही है ? किन्तु मुझे बहुत ही दुःख है कि मुझ सज्जा से डरी हुई छाया से बाहर लींकर उस घूप घोर उस उन्मत्त नुबन में क्यों नहीं फँक दिया जहाँ सहरोँ से भय हुआ जीवन का समुद्र सहाराठा है और जहाँ पुरुष रण के लिए तैयार होकर भी तीरों को बसाने से पहले पास म लखी हुई अपनी प्रिया के मुख को देख मता है ।

हाय सती प्राबन्धकता थी ।

सम्पार्थ—ऋष्य=कायर । मयसेपा=कस्याण की इच्छा । युवा=मूल ।

धर्य—हे सती सुकन्या ! इस घटना में सारा मरा ही थाप है । मैं ही कायर, बोयी धनुवार और कंजूस हू क्योंकि मैं ही पुरुष को वह भावमय भोजन नहीं दे पाई जिसकी उसका मन म मूल भी होती है और जिसकी उस प्राबन्धकता भी होती है । इन भावमय आहार के अभाव में पुरुष उदासीन हो जाता है, क्योंकि कंसल सुमकामता और कस्याण की इच्छा उस कुछ नहीं होता ।

मुझे भ्रान्ति सुरभि देने से ।

सम्पार्थ—भ्रान्ति=घोषा । युवा प्रमूत=युवा का फल । सुरभि=सुसंधि ।

धर्य—मैं यह मानकर धोला खाई हुई थी कि मेरा भी कुछ है, सचिन धात्र उसे भी चङ्कर अपनी भ्रान्ति का निवारण कर चुकी हू । अब युवा के फूलों की डाली में देव की अथना करने के लिए कुछ भी धर्य नहीं रह गया है । किन्तु अब मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि जिस बात की प्रियतम को सबसे अधिक चाह थी वह सुसंधि उन्हें देने से मैं चूक गई हूँ अर्थात् वह बरतु उन्हें नहीं दे पाई हू ।

उही समेटे लगाकर ।

सम्पार्थ—कृमिभ्र=नायिका भ्रम में माने हुए ११ हाथों में स एक हाथ प्रियतम सुयानुभव के समय बनाबटो कष्ट बेपटा प्रकट की जाती है । सन्धि=मुन्दर । सीसा=नीका । मन्दिर=मादक ।

धर्य—हे सुकन्या ! जब प्रियतम मेरे पास से ली मैं न जाने क्यों सजीव बधु की भाँति सज्जा का प्रसंकार समेटे हुए रही । मुझे अब पछाना हो

## बिनकर धीर जनकी उर्बसी

यहां है कि जब उस सुन्दर बीड़ा में बकित होकर मैंने सुत्तागुधन के समय कष्ट-भेष्टा को क्यों नहीं प्रकट किया। उस समय मैं प्रसन्न उद्दाम उत्पन्न धीर पादक मेघमाला के सयाम बिर कर तथा अपने पति का समस्त प्रस्थित्य घेरकर क्यों न बरस पड़ी ?

मुझे दुःख है कि मैं जीवन की प्रकृतीय धीर सर्वोत्तम शक्ति को हार गई हूँ क्योंकि मैं प्राणों के प्रार्थना-मन्त्र में प्रियतम का ध्यान तपाकर बैठी रही।

सुकन्या

बेबि ! आपकी

धन मिला है।

सम्बार्ध—दुरग्त = अपार । बुत्तह = प्रवृत्त । प्रवाह = जलन ।  
उन्मूढित = उलझी हुई । पादप = वृक्ष ।

धर्म—महाराणी धीमीनरी के दुःख को सुनकर सुकन्या उसे समझती हुई कहती है कि हे बेबि ! आपका दुःख उक्तमुख ही अपार धीर प्रवृत्त है। वास्तव में यह दुःख धानीवन ब्यवा देता रहेगा किन्तु धन इस म्मानि जसम धीर धारम-पीड़ा से कोई साम नहीं है क्योंकि जो वाटिका उलझ गई है वह तो धन फिर बोबारा बघाई नहीं जा सकती। धन तो केवल धारि का घड़ी उपाय है कि तुम्हें जो नया दुःख (धामु) मिला है उसे दैवकर ही बीघो धीर अपने निरह-दुःख को भूजने की कोशिस करो।

जितना भी

पठित्व-ग्रहण की ?

धम्बार्ध—विष्णुति—विद्योह । धकिस्व = अपार । विकान्त = धमानक ।  
भीम = विघास । बुजय = धत्रेय । कपाल = विक्रयस । तप्य = तबाई ।  
परि = धनु । पठित्व-ग्रहण = संग्राह प्रहण करना ।

धर्म—महाराणी धीमीनरी को सांगलना देती हुई सुकन्या कहती है कि हे सुचरिते ! इसमें कोई अपार विस्मय की बात नहीं है कि प्रियतम के विद्योह पर जितना भी धनिक छोके प्रकट किया जाये उतना ही बोड़ा है, किन्तु तुम्हें यह भी जान लेना चाहिए कि जब पुरुष के सामने सबाई धनु धनका बट्टाने या पाठी हैं तो वह धमानक विघास धत्रेय धीर विक्रयस धन धारण कर लेता है किन्तु इसी ब्यक्ति का जब अपने मन की कृती रूप धारण कर लेता है किन्तु इसी ब्यक्ति का जब अपने मन की कृती भावना से धनका प्रवृत्त इच्छा से मुझ टन पाता है तो यह इतना धनिक काबर बन जाता है कि इसके मुकाबले का इस धधार में कोई भी प्राणी कायर नहीं होता। उस समय यह धारम-हत्या तक करने के लिए पाता है सम्बाध-ग्रहण करने की बात तो बहुत घोर

पर के मिलती है ।

सम्बन्ध—पर के = दूसरे के । पास = बचन ।

धर्म—पर सत्य है कि दूसरे के फेंके हुए बन्धन में मनुष्य कभी मग्न होता नहीं होता है और अपने बाहु-बल से वह बन्धन ही उसे काटकर फेंक देता है लेकिन वही भीर जब अपने बनाए हुए बन्धन में फँस जाता है तो उसे उससे छूटने के लिए, निकल भागने के लिए राह ही नहीं मिल पाती है ।

इसीलिए मम पीड़ा भी ।

सम्बन्ध—व्यक्तित्व = जिम्मेदारी । अतिशय दुष्टि = सतक निगाह ।

धर्म—हे सुभे ! क्योंकि मनुष्य अपने बन्धन में बंधकर उससे नहीं छूट पाता है इसलिए मनुष्य मारी की जिम्मेदारी बहुत ही गहन और दुष्टर बन जाती है उसे सतक निगाह से प्रत्येक क्षण सावधान होकर यह देखना होता है कि मुझ से सौते हुए मनुष्य को किस बात के लिए दुःख है उसे किस चीज की सबसे अधिक चाह है और उससे मन में कहां कोई पीड़ा कसकर रखी है ।

हे महारानी ! यदि आपने यह नहीं देखा कि महाराज के कहां पाप के कहां जन्म को और कहां मर्म-पीड़ा थी तो आपने बुरा किया ।

कहने का भाव यह कि अनुर मारी को अपने पति के सभी प्रकार के मनोमार्जों को जानकर उनका उचित उपचार करना चाहिए । यह उसकी बहुत बड़ी जिम्मेदारी होती है ।

यह भी नियम किए हुए है ।

सम्बन्ध—उद्भट = भीर । पयोधि = सागर । त्रिया = नारी । निस्तल = अत्यधिक महारानी ।

धर्म—मुकन्या महारानी धीसीनरी को समझती हुई कहती है कि हे महारानी ! प्रकृति का यह नियम भी बड़ा ही विचित्र लगता है कि जो व्यक्ति समर्थ और भीर होने हैं, वे सागर के ऊपर घुसे हुए मीन में घूमते हैं धर्म केवल सुनहली कल्पनाओं के पीछे दौड़ते रहते हैं । इसके विपरीत मारी जिसे प्रबलता और केवल धर्म तथा कल्याण की भूति माना जाता है सृष्टि के महामूल तथा अपार तम में बैठकर सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण करती है और वही अपनी छिन्नी पर समुद्र को रोककर ऊंचा उठाने हुए है ।

कहने का भाव यह है कि जिस पुरुष को भीर माना जाता है वह जो सुनहली कल्पना के पीछे दौड़ता-दौड़ता अपने जीवन को स्वर्ग में ही समाप्त

धीर धाम को जब पुरुष युद्ध से सौट कर घाटा है तो गायी ही कमी मग्द-मन्द मुस्कराकर धीर कमी पासू बहाकर उसका दिन भर का इतिहास मुनती रहती है ।



नारी बिया बन जाता है ।

सम्बन्ध—सांख्य = शांति ।

धर्म—नारी क्रिया नहीं है बल्कि वह तो केवल लमा, शांति धीर करणा की साकार मूर्ति है इसीलिए जब भी इतिहास गायी के निष्प पहुँचता है तो वह या तो प्रथम हो जाता है, या कबिता बन जाता है ।

○ शाय भविष्य भवन भवन में ।

सम्बन्ध—निन्द = निनाह कोलाहल ।

धर्म—रे स्वप्न । न जाने इस पृष्ठी पर वह सुनहला भविष्य कब प्रकटित होगा जब यहाँ पर कोलाहल नहीं बल्कि शांति का राज्य होगा धीर दिन भर के संघर्ष में पुरुष जिस इतिहास का निर्माण करेगा, वह शांति हाँसे ही प्रत्येक भवन में काम्य का रूप धारण करेगा ।

कहने का भाव यह है कि काम्य का विषय गरिमा से मुक्त होता है मत कब मनुष्य ऐसे महान् कार्य करेगा या काम्य के विषय के उपमुक्त होंगे ।

धर्मो चंड महिमा से ।

सम्बन्ध—चंड = प्रचंड । प्रखर = तीली । बह्नि = प्राग । स्यात् = धामर । प्रपद्य = नीरव । नरेदबरी = गायी ।

धर्म—धर्मो तो स्वार्थों के संघर्षण से भीषण सोपही घाई हुई है मूर्ध प्रपती तीली धर्मों सेकर तप रहा है । जिन प्राग के अनुकूल तथा पौरुष के गुणों से समन्वित है किन्तु जब एक घट घायेगी तो घामर संघार का कोलाहल समाप्त हो जायेगा धीर तब समूहो पृष्ठी महती गायी की धीरलता प्रदान करने वाली महिमा से धीन जायेगी ।

धीर वैवि ! -त्रिया के ।

सम्बन्ध—प्रमत्त-वृषा से = प्रमृता पाने की इच्छा से ।

धर्म—धीर वैवि ! यह भी मृत सो कि जिन विषय मूर्तों के समूह को मानवता कहने हैं उन गुणों के अधिक निकट पुरुष नहीं गायी है यद्यत् पुरुष की अपेक्षा गायी में मानवता के गुण अधिक होते हैं । मनुष्य का हृदय जितना अधिक प्रमृता पाने की इच्छा से बुझी हो रहा है, गायी के जीवन में इतना अधिक कमी नहीं होता, यद्यत् गायी से प्रमृता पाने की इच्छा भी अपेक्षाकृत कम होती है ।

बहते हैं गंगा कर ।

शब्दाथ—सिरजा या=बनाया या । प्रकाश=सदभ्युत्थ । स्वत्व-हरण की=प्रधिकार का हृदय लने की । बिरचा=रचा ।

धर्म—कहा जाता है कि इस सृष्टि का प्रणेता, जिसने हम सबको बनाया या सर्वभूत पुत्र्य या और इसीलिए उसने प्रारम्भ में ही मनुष्य में यह प्रवृत्ति बना दी कि वह दूसरे के अधिकारों को हृदयता रहे । इसके विपरीत उसने मारी की रचना कुछ इस प्रकार कृतज्ञता से की कि गायी में स्वत्व-हरण की प्रवृत्ति को नहीं बनाया बल्कि वह तो अपना भी अधिकार लेकर अपने को मय्य मानती है ।



किन्तु कभी विरा को ।

शब्दाथ—निर्बाध=स्वतन्त्र रूप से । सुयोग=शुभ अवसर । सुजन का=निर्माण करने का । कातर=विचल । निस्तम्भ विरा=मूक बाणी ।

धर्म—सुकन्या महायनी घोषीनरी से कहती है कि बिभावा ने तो ऐश पुर्य की रचना की है जो स्वभाव से ही दूसरों का अधिकार हृदय कर लने वाला है किन्तु माई ! हर्म कभी स्वतन्त्र रूप से किसी पुर्य को रचने का शुभ अवसर मिला तो हम निष्पक्ष होकर ऐश कोमल पृथ्वी की रचना करोगी जो दूर लड़ो हुई करणा की मौन और विचल पुकार को कोमाह्वन तथा ककुच निताद में भी सुन लेया और बिना कहे ही वह धानों-धानों में—सुकेत से ही मूक व्याधा की कसक को और धानुषों की मूक बाणी को समझ लगा ।

घोषीनरी

कितना मयूर सतना को ।

शब्दाथ—वान्त्र महिमा की=चन्द्रमा के समान तीक्ष्णता प्रदान करने वाली महिमा की । बचा या=माय्य म सिला हुआ या । सतना=नारी ।

धर्म—सुकन्या की यह बात सुनकर कि मुनहमा भविष्य की कभी धायगा घोषीनरी सुकन्या से कहती है कि तुम्हारा यह स्वप्न बहुत ही मयूर है तुम्हारी यह कल्पना चन्द्रमा की चंद्रनी के समान तीक्ष्णता प्रदान करने वाली है बल्कि धमी तक तो किसी का भी पता नहीं कि वह स्वर्गीय भविष्य जब धायगा । हमारे भाग्य में जो कुछ लिखा था हम तो उस भोषकर नहीं किन्तु यह प्रार्थना करती हैं कि भविष्य की नारी को अधिक उज्ज्वल और उदार मुय मिले ।

धायु

मा ! हताश बड़ा हुआ है ।

शब्दाथ—हताश=निराश । लीरोग्गमन=रूप के समान सफ़र ।

धर्म—घोषीनरी की यह बात सुनकर कि न जाने वह स्वर्गीय भविष्य जब धायगा, धायु कहता है कि हे मा ! तुम निराश मत होओ क्योंकि वह

मविष्य जाहे जहाँ वहीं भी छिपा हुआ हो मैं उसे धनस्य साकर रहूँगा वहाँ  
मैं उसी सुनहले जीवन का प्रयत्न बनकर भाया हूँ। हे जमनी ! मैंने केवल  
करनामयी मारी के स्वप्नों का कुछ पान ही नहीं किया वरन् उसके दूध  
समान सकेट कल्पना-शोक में भी पसकर बड़ा हुआ हूँ।

सो कुछ बड़ा हूँ।

दाखार्थ—मातृ-ममता = माता की ममता। मृग किणोर = युवा राजा।

अर्थ—श्यामू महाराजनी धोडीनरी से कहने लगा कि मुझ जीवन में  
कुछ भी मिसा है वह माता की ममता से और उसके सबसे हृदय से मिस  
है। मैंने अपने जीवन में पिता नहीं माताएँ ही देखी हैं। एक माँ मे मु  
जन्म दिया और दूसरी माँ ने अपने हृदय से लगाकर तथा अपनी छाँसों व  
प्रसूत पिसा कर पाप पोषकर मुझे बड़ा किया है। अब जब कि मैं यवा ह  
गया हूँ तो मैं यवा पर राज मुकुट को नहीं बल्कि तीसरी माँ के (तुम्हारे  
चरणों को जीवन हुए था गया हूँ। हे माँ ! पहले मैं तुम्हारा बेटा हूँ और  
इसके पश्चात् युवा राजा हूँ।

(श्यामू धोडीनरी के चरणों पर गिरता है। धोडीनरी उसे उठाकर हृदय  
से लगाती और अपने घाँसू पोंछती है।)

सुकन्या

बरस गया हमसब से।

दाखार्थ—पीडूय = प्रसूत। तपी = नाव। घाट-अवघट में = दुग्ध पा  
में। मातंग = यही युव।

अर्थ—महाराजनी धोडीनरी को सम्बोधित करते हुए सुकन्या कहती है  
कि हे बेबि ! इस नावावगण को देखकर तो इतना सुख मिसा है माता प्रसूत  
बरस गया हो मरिन मारी का एक अर्थ यह भी है कि मरि मनुष्य की मीक  
किसी दुर्मम घाट में घटकर गई हो तो वह उस अपनी छिपुमी की शक्ति से  
पुन जमा वे और फिर वह युव प्रकाश तथा हमसब से दूर हो जाय।

सो वह उनके पठों में।

दाखार्थ—सगत है।

अर्थ—सुकन्या महाराजनी धोडीनरी से कहने लगी कि मनुष्य की नाव  
अब पतन लगी है इसलिए घाटसे सब बापिल लीज लें। हे बेबि मैं अपने  
पर जमी जाऊँ और भाग अपने प्रार्थना भवन में सौत्र नाम बसोति हम त्याग  
की मूर्ति होत क कारण इतिहासों को भाग बुझ कर भी उसक पृष्ठों में  
अधिक समय तक नहीं टहरा करती अर्थात् त्याग हमारा धर्म है, इसलिए  
हमारे मन में याग-यामना नहीं होगी। हम महान् से महान् यत्ना को जन्म  
देकर भी तब इतिहास में अंकित करके भी फिर पृष्ठभूमि में जमी जाती हैं

